श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला-२०

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

समयसार

(समय-प्राभृत)

प्रवचन-सहित

प्रवचनकार

आध्यात्मिक सन्त, प्रशममूर्ति श्री गणेशप्रसाद वर्णी

(मुनिराज श्री गणेशकीर्ति महाराज)

•

सम्पादक

अनेक ग्रन्थोके सशोधक, सम्पादक एव टीकाकार

पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य

साहित्याध्यापक, श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय, सागर

•

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

डुमरावबाग, अस्सी, वाराणसी-५

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, न्यायाचार्य, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

●

प्रकाशक
मत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरावबाग, अस्सी
वाराणसी–५

●

प्रथम सस्करण   ११०० प्रति
९५वी वर्णी-जयन्ती
आश्विन कृष्णा ४, वि० स० २०२६,
वी० नि० २४९५
२९ सितम्बर १९६९,

●

मूल्य बारह रुपये

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

कर अनन्त संसार का पात्र बनता है— यह एकत्व सुन्दर नहीं

गाथा ३
एयत्तनिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए
बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई

अर्थ — जो समय (पदार्थ) एकत्व में निश्चित हो रहा है वही पदार्थ लोक में सर्व लोक में सुन्दर है इसी हेतु से एकपने में जो बन्ध की कथा है वह विसंवाद करने वाली है अर्थात् निन्द्य है— आप. लोक में भी देखा जाता है जब तक यह मनुष्य घर से नीयत में रहकर गुरुकुल में विद्याध्ययन करता है सर्व आपत्तियों से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी होकर सानन्द जीवन रूप से अपने समय को भांति के साथ बिताता है। और जब स्नातक होकर घर में प्रवेश करता है तथा माता पिता के आग्रह से विवाह बन्धन को स्वीकार करता है तब द्विपद से चतुष्पद होता है दैवयोग से बालक हो गया तब षट्पद (भौंरा) ~~सम्बन्ध में व्यवहार~~ हो जाता है बालक का जब विवाह संस्कार हो गया तब अष्टापद (मकड़ी) हो जाता है और अपने ही जाल में आप ही मरण को प्राप्त हो जाता है, इस से यह तत्त्व निकला जो पर का सम्बन्ध ही इस संसार में आपत्तियों की खान है—

इस गाथा में जो समय शब्द आया है उसका अर्थ यहां पर आत्मा नहीं है किन्तु सामान्य पदार्थ है अतएव उस की व्युत्पत्ति यदा पर श्री अमृतचन्द्र महाराज ने इस रूप की है समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः— अर्थात् जो एकपने कर स्वकीय गुणपर्यायों को प्राप्त होता है उसे समय कहते हैं अतः समय शब्द से धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल जीव ये छह लिए जाते हैं इन्हीं छह द्रव्यों का समुदाय ही लोक है इस लोक में जो भी द्रव्य है वह अपने अनन्त धर्मों को चुम्बन करता है अर्थात् अपने अनन्त धर्मों से तन्मय है, एक द्रव्य कदापि काल में पर द्रव्य के धर्मों को चुम्बन नहीं करता— यह सब द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति होने पर भी स्वस्वरूप से पतित नहीं होते कभी भी पररूप से परिणमन नहीं करते इसी से उनके अनन्त व्यक्तित्व का कभी भी अपलाप नहीं होता यद्यपि किन्तु और अविरुद्ध कार्यों में उपयोग होकर भी विश्व का उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चय से एकत्व रूप कर ही सुन्दरता को पाते हैं यदि इसे

समयसारकी महिमा

श्री कुन्दकुन्द आचार्यको बारम्बार नमस्कार हो। उन्हीका यह वास्तविक महोपकार है जो आज इस भारतभूमिमें अध्यात्मका विस्तारसे प्रचार हो रहा है। जिन्होने उनके द्वारा निर्मित समयसारादि शास्त्रोका अवलोकन किया, उन्होने वास्तविक आत्मस्वरूपका अनुभव किया।

जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है—वे तो समयसारकी प्रथम गाथासे ही सर्ववस्तुस्वरूप जाननेके सुपात्र हो जाते हैं। प्रथम गाथामें सर्व सिद्ध-भगवान्को नमस्कार किया। इससे यह तत्त्व दृष्टिमें आता है कि प्रत्येक आत्मामे सिद्धपर्याय शक्तिरूपसे विद्यमान है। तथा नमस्कार करनेसे यह तत्त्व समझमे आता है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध नही। आत्मा नामक वस्तु एक है। उसकी २ अवस्थाएँ हैं—१ सिद्धपर्यायरूप और २ असिद्ध-पर्यायरूप।

परमार्थदृष्टिसे आत्मा अनुपम और अखण्ड है। परन्तु जब पर्यायदृष्टिसे विचार किया जाता है तब अनेक प्रकारसे उस आत्माका निरूपण होता है।

यही 'ससारिणो मुक्ताश्च' [त० सू० २-१०] सूत्रमे जीवकी दो अवस्थाओ द्वारा सब अवस्थाओका वर्णन किया है। वह कथन पर्यायदृष्टिसे आत्मतत्त्वका है। केवल द्रव्यदृष्टिसे किया हुआ अनुभव यथार्थ नही है।

दूसरी गाथामे इसका विस्तारसे वर्णन है। वह इस प्रकार है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिओ हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च त जाण परसमयं॥ २॥

इस गाथामे यह दिखाया गया है कि जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं और जो पुद्गलकर्मप्रदेशोमें स्थित है उसे परसमय कहते हैं। ये दोनो पर्याय है—जिसमें है वही जीव है। यद्यपि ये दोनो पर्याये जीवकी है परन्तु इसमे एक पर्याय आत्माको आकुलताकी जननी होनेसे त्याज्य है और दूसरी पर्याय उपादेय है। उसीकी प्राप्तिका उपाय रत्नत्रयरूप पुरुषार्थ है।

समयसारग्रन्थ अपूर्व आत्मप्राप्तिका साधन है। सर्वसे प्रथम समय (आत्म)—सार प्राप्तिके लिये आत्म-तत्त्वको जाननेकी आवश्यकता है। उसका मूल उपाय 'अह प्रत्यय' है।

अहम्प्रत्ययवेद्यता ही आत्मतत्त्वकी ज्ञापक (साधक) है। 'अह सुखी', 'अह दु खी'—मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ—ऐसा बोध जिसमे होता है, वही तो 'अह' पदवाच्य आत्मा है।

यह प्रत्यय मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी दोनोके होता है। भेद इतना है—जो सम्यग्ज्ञानी जीव केवल आत्माकी श्रद्धा करता है, और मिथ्यात्वी द्रव्यान्तरके मिलाप सहित आत्माका अनुभव करता है।

समयसारपर लिखना अथवा प्रवचन करना सामान्य नही। मैंने जो कुछ लिखा, प्रवचन किया सो दुर्बल अवस्थामें। समय यदि अच्छा आया, कुछ करूँगा, परन्तु आना कठिन है।

गणेश वर्णी

प्रकाशकीय

गत अक्तूबर १९६८ मे श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमालासे 'आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत' नामका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। विद्वत्ससार और सामान्य पाठक जगत्मे इस ग्रन्थका जो समादर एव स्वागत हुआ वह उल्लेखनीय तथा प्रसन्नतावर्धक है। मार्च १९६९ मे 'सत्यकी ओर' कृतिका ग्रन्थमालाने प्रकाशन किया। यह एक छोटी-सी रचना है, पर समाजमे इसकी इतनी माँग हुई कि एक वर्ष भी पूरा नही हुआ कि यह सस्करण समाप्तप्राय है।

हमे अत्यधिक प्रसन्नता है कि जिन प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्तके प्रति कृतज्ञता ख्यापन एव स्मृतिमें ग्रन्थमाला सस्थापित हुई उन्ही ज्ञानप्रसारक परोपकारी महामना श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (अन्तिमावस्थामे मुनिराज गणेशकोर्ति) का 'समयसार-प्रवचन' आज प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार ग्रन्थमाला एक वर्षके भीतर अपने पाठको एव सरक्षक-सदस्योको तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देनेमे समर्थ हो सकी है। हम नही जानते कि इतने जल्दी इन ग्रन्थ-रत्नोके प्रस्तुत करनेमे कौन-सी दैवी शक्ति काम कर रही है। हमे तो लगता है कि पूज्य वर्णीजीका परोक्ष प्रभावपूर्ण पुण्य कार्य कर रहा है, जिसके कारण समाजके उदार सज्जन सकेत या प्रेरणा पाते ही अपना आर्थिक सहकार सदा देनेको तैयार रहते हैं। हमारा अनुभव दृढ होता जाता है कि समाज उचित दिशामे आर्थिक सहायता दिल खोलकर देती है।

समयसार-प्रवचनके प्रकाशनके साथ एक कहानी है। वर्णीजी इसे प्रकाशित नही करना चाहते थे। उनके निकट सूत्र जब उसके प्रकाशनके लिए उनपर जोर देते थे, तो वे इतना ही कहकर उन्हे टाल देते थे कि भैया! कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामीका सूर्य-चन्द्र प्रकाशकी तरह प्रकाशक कृतियोंके सामने मेरा जुगुनूसे भी कम प्रकाशक प्रवचन क्या लाभदायी होगा?—उससे कोई लाभ नहीं होगा। जब उनसे पुन कुछ काल बीतनेपर कहा जाता, तब भी वे वही उपर्युक्त उत्तर देते थे। इससे कुछ लोगोकी यह धारणा हो गयी थी कि वर्णीजी जब उसका प्रकाशन नही चाहते और उसे न्यून बतलाते हैं तो उसे प्रकाशमे नही लाना चाहिए। किन्तु एक दूसरा पक्ष था, जो उसे प्रकाशमे लानेके लिए उत्सुक था। इस पक्षका कहना था कि जब सावनकी अन्धेरीमे चन्द्रका प्रकाश नही होता तब पथिक जुगुनूके अल्प प्रकाशके सहारे अपना मार्ग तय कर लेते है। आपका प्रवचन भले ही विद्वानोके लिए उपयोगी न हो, किन्तु सैकडो ऐसे व्यक्ति है जो कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामीकी कृतियोका रसास्वाद लेना चाहते है, पर अपनी बुद्धिमन्दताके कारण वे उनका रसास्वाद नही ले पाते—वे उससे वञ्चित रहते है। पर आपकी कृतिके सहारे वे उनका भी रसास्वाद ले सकेंगे। वर्णीजी इन्हे भी टाल देते थे। अन्ततो गत्वा उनके समक्ष समयसार-प्रवचनका प्रकाशन न हो सका।

डॉ० नरेन्द्रकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्य पूज्य वर्णीजीके उपदेशो और पत्रोका सम्पादन कर चुके थे और उनका प्रकाशन 'वर्णी वाणी' के नामसे अनेक भागोमे वर्णी-ग्रन्थमाला कर चुकी थी। उनकी तीव्र

भावना थी कि वर्णीजीका समयसार-प्रवचन अवश्य प्रकाशित होना चाहिए। इसके लिए उन्होने ला० फिरोजीलालजी दिल्लीको प्रेरित किया और उनके आर्थिक द्रव्यसे मूल ग्रन्थकी फोटो-कापी लिवायी। ला० फिरोजीलालजीने पुत्र-गोदकी रस्मपर १० मई १९६७ को हमे दिल्ली बुलाया। डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भी पहुँच गये थे। तय हुआ कि समयसार-प्रवचनका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमालाके तत्त्वावधानमें लालाजी अपने 'वर्णी अहिंसा प्रतिष्ठान' से करें और मूल प्रति पार्श्वनाथ दि० जैन उदासीनाश्रम ईसरीसे हम मगा लें।

परन्तु कुछ महीनो बाद दुर्भाग्यवश उक्त व्यवस्था टूट गयी और हम निराश होकर चुप हो गये। दो वर्ष बाद लोगोकी प्रेरणासे, जिसमे सम्पादकजीकी प्रेरणा विशेष थी, वर्णी ग्रन्थमालासे उसे प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। जैसा कि सम्पादकीयमे सम्पादकजीने उल्लेख किया है कि सम्पादित पाण्डुलिपिका मूल ग्रन्थसे मिलान और सशोधनका कार्य श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीने किया है। निस्सन्देह उनका यह योगदान स्तुत्य है।

अनेक ग्रन्थोके सुयोग्य सशोधक, टीकाकार और सम्पादक श्रीमान् पण्डित पन्नालालजी वसन्त, साहित्याचार्यने पूज्य वर्णीजीकी 'मेरी जीवनगाथा' के दोनो भागोकी तरह इसका भी तत्परता, परिश्रम और सच्चे साहित्यकारकी भाँति सम्पादन किया है। यद्यपि उनकी यह सम्पादित पाण्डुलिपि कुछ महीनोमे ही तैयार हो गयी थी, किन्तु ग्रन्थमालाके सामने तत्काल आर्थिक कठिनाई होने और नयी व्यवस्थाके जमानेमे श्रम और समय अपेक्षित होनेसे कुछ विलम्ब हो गया। साहित्याचार्यजी, लिए हुए किसी भी दायित्वमे प्रमाद करना नही जानते। विद्वानोंकी नयी पीढीमें दो ही साहित्यिक विद्वान् नजर आते हैं जो तत्परता और शीघ्रतासे साहित्यिक कार्योंको गति देते और उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वे है साहित्याचार्यजी और डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा। हमे इन विद्वानोपर गर्व है और खुशीकी बात यह है कि ग्रन्थमालाको इन दोनो विद्वानोका सहकार प्राप्त है। डॉ० नेमिचन्द्रजी तो सहयोगी मत्री भी है।

प्रस्तावनामे सम्पादकजीने कुन्दकुन्दस्वामी, उनके समयसार एव अन्य ग्रन्थो, टीकाकारो, टीकाग्रन्थो और ग्रन्थ-विषयका विस्तारसे परिचयात्मक ऊहापोह किया है। अत इस सम्बन्धमे और विशेष कहनेकी आवश्यकता नही है। हाँ, एक अन्वेषकदृष्टिसे कुन्दकुन्दके विदेह-गमनके प्रकाशक प्रमाणोकी खोज निरन्तर जारी रहना चाहिए। साथ ही देवसेनके दर्शनसारगत उल्लेखपर, जिसमें कुन्दकुन्दके विदेहगमनका स्पष्ट निर्देश है, सन्देह नही किया जाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दका 'सुय-केवली-भणिय' (१-१) विशेषण विशेष ध्यातव्य है। अमृतचन्द्रसूरिने इसका अर्थ 'श्रुतप्रकाशित और केवलीभणित' किया है, जिसका तात्पर्य है कि कुन्दकुन्द ऐसे 'समय-पाहुड' की रचना कर रहे हैं जो श्रुत (श्रुतकेवली अथवा आगम) और केवली प्रतिपादित है। इससे जहाँ उसमे स्वरुचिविरचितत्वका परिहार किया गया है वहाँ श्रुतकेवली प्रकाशित और केवली कथित तत्त्व होनेसे प्रामाणिकता भी प्रकट की गयी है। अतएव समीक्षको एव ऐतिहासिकोके लिए कुन्दकुन्दका यह विशेषण और अमृतचन्द्रसूरि कृत उसका व्याख्यान उपेक्षणीय नही है। प्रमाणोके सामने आनेपर कुन्दकुन्दके विदेहगमनपर और अधिक प्रकाश पड सकता है।

ऊपर कहा गया है कि वर्णी ग्रन्थमाला समाजके आर्थिक सहकारपर निर्भर है। अतएव इसके प्रकाशनकी एक योजना बनायी गयी कि यदि कुछ महानुभाव प्रस्तुत ग्रन्थकी १००, ५०, २५, १० आदि प्रतियाँ खरीद ले या उतनी प्रकाशन-सहायता दे दें तो यह ग्रन्थ सरलतासे प्रकाशमे आ जायेगा। तदनुसार हमने

कुछ पत्र लिखे और कुछ स्थानोंपर गये। हमे प्रसन्नता है कि लगभग ३००-४०० प्रतियोके पेशगी ग्राहक या सहायक हो गये। आज इन्ही उदार सज्जनोके सहयोगसे केवल साढे तीन माहमे ग्रन्थ छपकर तैयार हो गया। हम इन सभी आर्थिक सहयोगियोके आभारी है।

यदि ला फिरोजीलालजी, जो पूज्य वर्णीजीके परमभक्तोंमेसे है और बडे उदार प्रकृतिके हैं तथा डॉ० नरेन्द्रकुमारजी, जिन्होने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सर्वप्रथम पहल की और जिनकी भावना इसे शीघ्र प्रकाशमें लानेकी रही, मूल ग्रन्थकी फोटो-कापी न कराते एव प्रकाशनके लिए आगे न आते, तो शायद यह अभी प्रकाशमे न आ पाता। अत हम इन दोनो ही महानुभावोको हृदयसे धन्यवाद दिये विना नही रह सकते।

आदरणीय प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, उपाध्यक्ष वर्णी-ग्रन्थमालाने हमारे अनुरोधपर पाण्डुलिपिका वाचन किया और अपने मूल्यवान् परामर्श दिये। और प्राक्कथन लिख देनेकी कृपा की अत हम उनके भी आभारी है। बन्धुवर प० पन्नालालजी साहित्याचार्यने पूज्य वर्णीजीका एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्पादितकर ग्रन्थमालाको दिया और शतश पाठकोको लाभान्वित किया। एतदर्थ उन्हे हार्दिक धन्यवाद हैं।

ग्रन्थके सुन्दर और शीघ्र मुद्रणके लिए प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल सचालक महावीर प्रेस और उनका परिकर भी धन्यवादार्ह है।

भाद्रशुक्ल ५
वी नि २४९५
१५-९-६९

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री

●

प्राक्कथन

प्रस्तुत 'समयपाहुड' (समयसार) श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत अनुपम अध्यात्मग्रन्थ है। इसकी एक आत्मख्याति नामकी संस्कृतटीका आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा दूसरी तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृतटीका, उनके बाद जयसेनाचार्य द्वारा रची गयी है। इसका सर्व प्रथम हिन्दी अनुवाद पण्डितप्रवर जयचन्द्रजीने किया है। यह अनुवाद अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर आधृत है। इसका नाम 'आत्मख्याति-समयसार' है।

समयसारके अध्येता उसकी रचनाकालके बादसे ही प्राय अनेक आचार्य होते आये हैं। अनेक मनीषियोने कुन्दाकुन्दाचार्यको अपने ग्रथोमे बहुमान देकर स्मरण किया है। भगवान महावीर तथा गौतम गणधरके बाद यदि किसी आचार्यका उल्लेख मगलाचरणमे मगलप्रदाताके रूपमें किया गया हैं तो वह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका ही है।[१]

यद्यपि धर्मोपदेष्टा अन्य अनेक आचार्य भी हुए हैं तथापि श्रीकुन्दकुन्दका नाम उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्योंकी जिह्वापर नृत्य करता आया है।

आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेनके उत्तरवर्त्तियोमे इस ग्रन्थके अध्ययन करनेवालोंमें हिन्दीके कविवर बनारसीदासका नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने अपने "अर्धकथानक"में इसके अध्ययनकी चर्चा की हैं। इसके अतिरिक्त कविवरने "नाटक समयसार" नामसे छन्दोबद्ध रचना करके तो समयसारको हिन्दी जगतमें आदृत बनाया है। हिन्दीके जैन कवियोमे कविवर दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द्र आदिकी रचनाओमे जो अध्यात्मके दर्शन होते हैं वह सब कुन्दकुन्दके समयसारका ही प्रभाव है। प्रतीत होता है कि ये विद्वान् उक्त महान ग्रथके गहरे स्वाध्यायी थे।

पूज्य श्री १०५ वर्णी गणेशप्रसादजी महाराजने अपने जीवनके करीब ५० वर्ष इस महान् ग्रथके पारायणमे व्यतीत किये है। अपने अध्ययनकालसे लेकर मेरा सम्पर्क पूज्य वर्णीजीसे था। यद्यपि हमारे न्यायशास्त्रके विद्यागुरु स्व०श्रीमान् आदरणीय प०अम्बादासजी शास्त्री थे, जो पूज्य वर्णीजीके भी विद्यागुरु थे, तथापि हम अपने सहाध्यायियोके साथ वर्णीजीके पास भी उक्त विषय पढते थे, इस नाते तथा सप्तम प्रतिमाधारी विद्वान ब्रह्मचारी होनेके नाते भी हम सब उन्हें अपना गुरु ही मानते थे। वर्णीजीका मुझपर अत्यधिक स्नेह इस कारण भी था कि उन्होने सप्तम प्रतिमाकी दीक्षा मेरे पूज्य पिता ब्रह्मचारी गोकुलप्रसादजीके पास ली थी। ऐसे महान् सन्तका स्नेहभाजन होना मेरा परम सौभाग्य था।

पूज्य वर्णीजीके मुखारविन्दसे मुझे समयसारके प्रवचन सुननेका अवसर प्राय सदा मिलता था। मै उन्हें प्राय समयसारका ही स्वाध्याय करते पाता था। ग्रथराज उनके लिए 'सुधानिधि' थे। वे कभी-कभी स्वप्नमें भी समयसारका स्वाध्याय किया करते थे और उनके समीप रहनेवाले उनके मुखसे सोते समय पक्तियोका पाठ सुनते थे।

---

१ मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इसी युगमे ब्र० शीतलप्रसादजी तथा कारजाके भट्टारक श्रीवीरसेनस्वामी भी समयसारके अध्येता हुए हैं, पर इस अमृतका स्वाद वे शायद अपने तक ही सीमित रख सके। ब्र० शीतलप्रसादजीने इस विषयपर कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं।

श्री कानजीस्वामी तो समयसारसे इतने प्रभावित है कि वे अहर्निश प्राय इसीका स्वाध्याय एव प्रवचन करते हैं। उन्होने समयसारके अध्ययनके आधारपर स्वयको तथा अपने हजारो शिष्योको अध्यात्मकी ओर मोड दिया है।

पूज्य वर्णीजी अध्यात्मरसके रसिक थे। दूसरोको भी उसका रसास्वाद करानेमे उनकी माधुरी वाणी समर्थ थी। जब पूज्यश्रीका प्रवचन होता था तो ऐसा लगता था कि इनकी वाणी कैसे पकडकर रख ली जाय, जो कालान्तरमे भी हमारे हृदयमे सुधा-सिचन करती रहे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए अनेक बार वर्णीजीसे प्रार्थना की कि वे समयसारपर कुछ लिखें।

वर्णीजीने अनेक श्रोताओके आग्रहवश चुपचाप लिखना भी प्रारभ कर दिया था। उनके स्वर्ग प्रयाणके बाद शोध हुई तो उनके लिखे सययसार-प्रवचनकी पाण्डुलिपि पायी गयी। वर्णीजीकी भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित थी, अत उनका समयसार-प्रवचन भी स्वाभावत वैसी ही भाषामे लिखा गया। सर्वसाधारणकी, जो खडी हिन्दीसे परिचित है, कठिनाई भी हल हो सके, इस अभिप्रायसे यह आवश्यक समझा कि इसे खडी भाषामे अवतरित किया जाय।

यह कार्य श्री प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने करना स्वीकर किया और उसे बहुत सुदर स्वरूप दिया, जो वर्णी ग्रथमाला द्वारा प्रगट होकर आज आपके सामने आ रहा है।

१० सितम्बर १९६९,
कटनी

जगन्मोहनलाल शास्त्री

सम्पादकीय

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज, जिन्होने ईसरीमे अन्तिम समय दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण कर श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज नामसे भाद्रपद कृष्ण ११ वि० सं २०१८ को स्वर्गारोहण किया था, समयसारके माने हुए विद्वान् और कुशल प्रवक्ता थे। वे न्यायके आचार्य थे और सस्कृतभाषापर पूर्ण अधिकार रखते थे। कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा विरचित समयसार आत्म-तत्त्वका वर्णन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यने उसपर सस्कृत-टीकाएँ लिखकर उसके गम्भीर भावको सरलतासे समझाकर जनसाधारणका बहुत उपकार किया है। यह समयसार वर्णीजी महाराजको अत्यन्त प्रिय था। जीवनके अन्तिम वर्षोंमे तो वे '**सर्वं त्यज, एक भज**' के सिद्धान्तानुसार अन्य ग्रन्थोसे अपना उपयोग हटाकर एक समयसार पर ही अपना उपयोग केन्द्रित करने लगे थे। उन्हे अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति सहित समयसार कण्ठस्थ था। उनके मुखारबिन्दसे समयसारका प्रवचन सुनते समय श्रोताको जो आनन्द प्राप्त होता था उसका वर्णन वही कर सकता है जिसने कि उस प्रवचनको मनोयोगपूर्वक साक्षात् सुना है। समयसारका सस्कार उनके हृदयमे इतना अधिक आरूढ हो गया था कि वे स्वप्नमे भी इसका प्रवचन करते थे। ईसरीमे उनके समीप रहनेवाले लोगोके मुखसे सुना है कि पूज्य वर्णीजी स्वप्नमे भी अमृतचन्द्रसूरिकी आत्मख्यातिके साथ समयसारकी कितनी ही गाथाएँ अविकल बोलते रहते थे। उनकी यह क्रिया स्वप्नमे जब कभी २०-२५ मिनिट तक अविरल चलती रहती थी।

इस समय समयसारके स्वाध्यायमे पर्याप्त वृद्धि हो रही है। जो 'समयसार' शब्दका अर्थ नही समझते है, निश्चय और व्यवहारनयका स्वरूप नही जानते हैं वे भी हाथमे समयसार लिये देखे जाते है। कहना चाहिये कि यह समयसारका युग है। कुन्दकुन्द महाराजके हृदय-हिमालयसे जो अध्यात्मकी मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसकी सरस-शीतल धारमे अवगाहनकर ससार-भ्रमणसे सतप्त मानव परमशान्तिका अनुभव करे, यह बडी प्रसन्नताकी बात है। समयसारने अनगिनत जीवोका कल्याण किया है। उसका स्वाध्याय कर अन्य अनेक धर्मी लोग शाश्वत कल्याणकारी दिगम्बर धर्ममे दीक्षित हुए हैं। कविवर बनारसीदासजी, शतावधानी रायचन्द्रजी और सोनगढके सन्त श्रीकानजी स्वामी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

सपर्कमे रहनेवाले लोगोने पूज्य वर्णीजी महाराजसे जब इस बातका आग्रह किया कि महाराज! आप समयसारके अधिकारी विद्वान् हैं, अधिकारी इसलिये कि आप न केवल हिन्दी टीकाओके आधारसे इसके ज्ञाता हुए हैं किन्तु प्राकृत और सस्कृत भाषामे विरचित मूलग्रन्थ तथा उसकी सस्कृत टीकाओके एक-एक पदका विश्लेषणकर उसके ज्ञाता हुए हैं, साथ ही आपकी प्रवचन-शैली भी आकर्षक एव उच्चकोटिकी है जिससे साधारणसे साधारण श्रोता भी गहन तत्त्वको सरलतासे हृदयगम कर लेता है। अत आपके द्वारा इसकी टीका लिखी जावे—इसपर प्रवचन किये जावें, जिससे भविष्यमे भी जनता लाभान्वित होती रहे। तब लोगोंकी प्रार्थना सुनकर

वे सहज भावसे यह कहकर टाल देते थे कि **'भैया मिश्रीके चखनेमे ही आनन्द है उसके गुणवर्णन-मे नही।'** फिर भी इस ओर उन्होने ध्यान दिया और अपनी दिव्य लेखनीसे समयसारकी टीका लिखकर अपनी स्वाध्याय-मञ्जूषामे रख ली।

जब जबलपुरमे महाराजजीका चातुर्मास हो रहा था, तब हमारे एक मित्रने पत्र लिखा कि पूज्य वर्णीजी महाराजने अपनी आत्मकथा और समयसारकी टीका लिखकर पूर्ण कर ली है, इसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। प्रयत्न करनेपर भी ये अमूल्य रत्न उन्होने प्रदान नही किये। प्रत्येक कार्य समय आनेपर ही सिद्ध होता है। जबलपुरसे सागरकी ओर विहार करते हुए आप मलहरा आ गये थे। उसी वर्ष सागरमे भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे द्वितीय शिक्षण शिविरका आयोजन हो रहा था। इसका निमन्त्रण देनेके लिए मै स्वय मलहरा गया था। मध्याह्न की सामायिकके बाद उन्होने आत्मकथाका वह प्रकरण उपस्थित जनताके समक्ष स्वय सुनाया जिसमे उन्होने अपनी धर्ममाता पूज्य चिरोजाबाईजीके जीवनपर प्रकाश डाला था। सुनकर सबका हृदय गद्गद हो गया। मै आत्मकथाकी उन कापियोको प्राप्त करनेके लिए प्रयास करता रहा। फलत' वे उन्होने मुझे दे दी। शिक्षण-शिविरके कार्यक्रमसे निवृत्त होते ही मै उनकी पाण्डु-लिपिमे सलग्न हो गया और ३-४ माहके भीतर उसका एक व्यवस्थित रूप सामने आ गया। **'मेरी जीवन-गाथा'** के नामसे **'वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी'** के द्वारा उसका प्रकाशन हो गया। इस तरह एक रत्न तो सामने आ गया था। परन्तु दूसरा रत्न 'समयसारकी टीका' को उन्होने प्रकाशमे नही आने दिया।

समाधिमरणके बाद जब उनकी स्वाध्याय-सामग्री देखी गई तब उसमे यह टीका प्राप्त हुई। इसके प्रकाशनके लिये श्रीनरेन्द्रकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्यने, जो अब पी-एच० डी० भी हैं, बडा प्रयत्न किया। ला० फिरोजीलालजी दिल्लीको प्रेरित करके उनके आर्थिक सहकारसे इसके समस्त पृष्ठोको टाईप कराकर उन्होने ४-६ प्रतियाँ तैयार कराई और विद्वानोके पास भेजी। फिर भी उसके प्रकाशनका सुयोग नही बना। पिछले वर्षोंमे ईशरीमे होनेवाली मन्दिरप्रतिष्ठाके अवसरपर श्री पं० कैलाशचन्द्रजी, प० जगन्मोहनलालजी तथा खुशालचन्द्रजीके साथ मै भी वहाँ गया था। प्रसन्नताकी बात है कि वर्णी ग्रन्थमालाके मत्री डा० दरबारीलालजी कोठियाने प० कैलाशचन्द्रजी द्वारा मूलकापी ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेके विचारसे वाराणसी मंगवा ली, और वह उनकी तथा पं० जगन्मोहनलालजीको सलाहसे सपादनार्थ मुझे भेज दी।

वर्णीजी द्वारा लिखित समयसारको देखनेकी उत्सुकता बहुत पहलेसे हृदयमे विद्यमान थी अत इसका अध्ययन शुरू कर दिया। देखनेपर ऐसा लगा कि यह टीका एक प्रवचनके रूपमे है जिसमे उन्होने अधिकाश अमृतचन्द्रसूरिकी आत्मख्याति टीका, कही-कही जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य-वृत्ति और अनेक शास्त्रोके अध्ययनसे प्राप्त अपने जिनागम-सम्बन्धी अनुभवका आश्रय लिया है। समयसारके गूढभावको उन्होने बडी सरलतासे अनेक दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। साथ ही अमृत-चन्द्रसूरि द्वारा निर्मित कलश-काव्योका भी कही अर्थरूपमे और कही भावार्थरूपमे व्याख्यान किया है। यह प्रवचन उन्होने नातिविस्तर और नातिसंक्षेपकी पद्धतिसे लिखा है। इस प्रवचनके आधारपर श्रोता श्रीकुन्दकुन्दस्वामी और अमृतचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिपादित तत्त्वको सरलतासे

ग्रहण कर सकता है। कितने ही प्रवचन मूल लक्ष्यसे भटककर प्रवाहमें अन्यत्र बह जाते हैं परन्तु पूज्य वर्णीजीका यह प्रवचन मूलानुगामी है।

बादमे इसे सपादित करनेका कार्य शुरू किया। संपादन करते समय समयसारकी दोनो संस्कृत टीकाओ तथा पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी टीकाको सामने रक्खा गया तथा पूज्य वर्णीजीने जो लिखा है उसका उनसे मिलान किया गया। उन्होने अपने इस प्रवचनमे अमृतचन्द्रसूरिके कलशोपर व्याख्यान तो किया था—कही अर्थके रूपमे और कही भावार्थके रूपमे, परन्तु मूल श्लोकोको उद्धृत नही किया था। आज समयसारके अध्येताओमे कलशोके स्वाध्यायका भी प्रचार बढ रहा है। इसके ऊपर स्वतन्त्र टीकाएँ भी प्रकाशित हुई है पर बीच-बीचमे समयसारकी गाथाओका सदर्भ टूट जानेसे वे अपूर्ण-सी दिखती हैं। अत मैंने कलशोके मूल श्लोक भी तत् तत् प्रकरणोमे उद्धृत कर दिये तथा जहाँ जैसा आवश्यक दिखा उसके अर्थ और भावार्थको स्पष्ट कर दिया। वर्णीजीके द्वारा लिखित प्रतिमे अन्तके स्याद्वादाधिकारके प्रवचनके पृष्ठ नही मिले। ये पृष्ठ कही गुम गये या लिखे ही नही गये, इसका निर्णय नही हो सका। ग्रन्थ अपूर्ण न रहे, इस भावनासे मैने श्रीजयचन्द्रजीकी हिन्दी टीकाके आधारपर स्याद्वादाधिकारका हिन्दी व्याख्यान स्वय लिखकर जोड दिया है। वर्णीजीकी भाषा अपनी एक शैली स्वय रखती है, उसमे यद्यपि आधुनिक खडी बोली और सस्कृतबहुल शब्दोका आश्रय कम हैं तथापि उसमे माधुर्य है, आकर्षण है और हृदयगत भावको प्रकट करनेकी अद्भुत क्षमता है। इसलिये परिमार्जनके नामपर उसमे उतना ही परिमार्जन किया गया है जितना कि अत्यन्त आवश्यक दिखा। कही-कही कुछ उदाहरण एकसे अधिक बार आ गये थे उन्हे अलग कर दिया।

इस ग्रन्थका सपादन करते समय अन्तरङ्गमे बडा आह्लाद था, ऐसा लगता था कि एक अपूर्व ग्रन्थ जनकल्याणके लिये सामने आ रहा है, इसलिये दिनभर सस्थाओंके कार्योमे व्यस्त रहनेके बावजूद भी रात्रिके दो-दो बजे तक अथवा जब नीद खुल खई तभी यह कार्य होता रहा। ऐसा लगता था कि जैसे कोई अदृश्य शक्ति इस कार्यमे मुझे शक्ति प्रदान कर रही है।

ग्रन्थ तैयार होनेपर मुझे लगा कि इस ग्रन्थका सम्बन्ध एक ऐसे उच्च सयमी एव ख्याति प्राप्त विद्वान्के साथ है जो समाजमे जन-जनकी श्रद्धाके भाजन थे और वर्तमानमे विद्यमान नही है। **'जीवन-गाथाके'** दोनो भागोका सपादनकर उनकी पाण्डुलिपियाँ उन्हे दिखाकर तथा अक्षरश उन्हे सुनाकर अपने दायित्वसे मुक्त हो गया था। पर यह सस्करण उनके अभावमे प्रकाशित हो रहा है, अत चिन्तित था कि ग्रन्थमे कही कोई त्रुटि न रह जावे। फलत मैने इसे अन्य विद्वानोको भी दिखा लेना उचित समझा। श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और प० दरबारीलालजी कोठियाकी समत्यनुसार सपादित पाण्डुलिपि श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीके पास भेज दी। हर्षकी बात है कि उन्होने पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखित मूल प्रति तथा समयसारकी अन्य प्रतियोको सामने रखकर अक्षरश उसका अवलोकन किया तथा जहाँ सुधार आवश्यक समझा उसकी एक सूची बनाई और उसे लेकर सागर पधारे। यहाँ ५ दिन रहे तथा सपादित पाण्डुलिपिका पुन वाचन कराकर ऊहापोहपूर्वक आवश्यक सुधारोको यथास्थान आयोजित कराया। मै पण्डित-जीकी इस तल्लीनतासे मन ही मन बडा प्रसन्न हो रहा था। इस तरह पण्डितजीके निरीक्षणके

बाद पाण्डुलिपिकी पूर्णताके विषयमे मैं आश्वस्त हो सका। पण्डित जगन्मोहनलालजी एक-एक शब्द-विन्यासको बडी बारीकीसे परखते हैं। समयसारका अनुभव भी आपका उत्तम है। इस कार्यमे उन्होने जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

संपादनके पूर्व इसके प्रकाशनकी जो व्यवस्था निश्चित हुई थी वह विघटित हो गई, इसलिए नवीन व्यवस्थाके लिए प्रयास करना पडा और इसमे कुछ समय भी लग गया। पर मेरा हृदय इस ग्रन्थको जहाँसे प्रकाशित करना चाहता था वहीसे इसका प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नताकी बात है। वर्णी ग्रन्थमाला पूज्य वर्णीजीके नामसे सम्बद्ध है तथा उन्हीके वरदहस्त एव शुभाशीर्वादसे इसका कार्य प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम 'मेरी जीवनगाथा'के नामसे वर्णीजीकी आत्मकथाका प्रथम भाग इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद वर्णीजीसे सम्बद्ध मेरी जीवनगाथा द्वितीय भाग, वर्णी-वाणी ४ भाग आदि अनेक ग्रन्थ और भी इस ग्रन्थमालाने प्रकाशित किये हैं। वर्तमानमे उसके उत्साही मन्त्री श्री डा० दरबारीलालजी कोठिया ग्रन्थमालाके संचालनमे बडा श्रम, समय और मनोयोग देते हैं। प्रूफ देखने आदिका कार्य भी आप नि स्पृह भावसे स्वय निपटा लेते हैं। उन्हीके परिश्रमस्वरूप इस ग्रन्थका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमालासे हो रहा है, अत वे धन्यवादके पात्र हैं। धन्यवादके प्रकरणमे श्री नरेन्द्रकुमारजीका नाम अविस्मरणीय है, क्योकि उनके प्रयत्नके फलस्वरूप ही यह ग्रन्थरत्न प्रकट हो रहा है।

अन्तमे इस ग्रन्थके संपादनमे हुई त्रुटियोका उत्तरदायित्व मुझपर है और मै इसके लिये विद्वत्समाजसे क्षमाप्रार्थी हूँ। भावना है कि घर-घरमे इसका प्रचार हो और सभी लोग इसके माध्यमसे श्रीकुन्दकुन्दस्वामीकी देशनाको समझनेका प्रयत्न करें।

विनीत
पन्नालाल जैन

प्रस्तावना

ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

इस समयप्राभृत अथवा समयसारके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य हैं। ये दिगम्बर जैनाचार्योंमे सर्वाधिक वाङ्मयप्रभावक एव प्रसिद्धिको प्राप्त आचार्य हैं।

मङ्गल भगवान्वीरो मङ्गल गौतमो गणी।
मङ्गल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मङ्गल-पद्यके द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतमके बाद कुन्दकुन्दस्वामीको मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्तिमे कविवर वृन्दावनका निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमे बतलाया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ, न है और न होगा—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भास वृन्द
स्याद्वाद जैन बैन इद कुदकुद से
तास के अभ्यास तैं विकास भेदज्ञान होत
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुदकुंद से।
देत हैं अशीस शीस नाय इ द चद जाहि
मोह मार खड मार तड कुदकुद से
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होहिंगे मुनिंद कुदकुद से॥

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके इस गुणस्तवनका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थोमे उन्होने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुणपर्यायोसे अभिन्न आत्माका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होने इसमें अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनीको प्रवाहित किया है उसके शीतल प्रवाहमे अवगाहनकर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष आत्मशान्तिको प्राप्त करते है।

कुन्दकुन्दाचार्यका विदेहगमन

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके विषयमें यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और सीमन्धरस्वामीकी दिव्यध्वनिसे उन्होने आत्मतत्त्वका स्वरूप प्राप्त किया था। विदेहगमनका सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि० स० की १०वी शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसारसे प्रकट है—

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति॥ ४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानसे बोध न देते तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

देवसेनके बाद ईसाकी बारहवी शताब्दीके विद्वान् जयसेनाचार्यने भी पञ्चास्तिकायकी टीकाके आरम्भ-में निम्नलिखित अवतरण-पुष्पिकामें कुन्दकुन्दस्वामीके विदेहगमनकी चर्चा की है—

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेह गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीमदरस्वामितीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादि-सारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवै पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्य-प्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वक तात्पर्यव्याख्यान कथ्यते ।'

'जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य थे, प्रसिद्ध कथाके अनुसार जिन्होने पूर्वविदेहक्षेत्र जाकर वीत-राग सर्वज्ञ श्रीमदरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शनकर तथा उनके मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवणसे अवधारित पदार्थोंमे शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थको ग्रहणकर जो पुन वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा अन्तस्तत्त्वकी मुख्यरूपसे और बहिस्तत्त्वकी गौणरूपसे प्रतिपत्ति करानेके लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि सक्षेप रुचिवाले शिष्योको समझानेके लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा ।'

षट्प्राभृतके सस्कृत टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने अपनी टीकाके अन्तमे भी कुन्दकुन्दस्वामीके विदेह-गमनका उल्लेख किया है—

'श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुला-काशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयप्रभजिनेन तत्श्रुतज्ञानसम्बोधित-भरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे—'

'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, 'एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोसे जो युक्त थे, चार अङ्गुल ऊपर आकाशगमनकी ऋद्धि जिन्हे प्राप्त थी, पूर्वविदेहक्षेत्रके पुण्डरीकिणी नगरमे जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयप्रभ जिनेन्द्रकी जिन्होने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होने भरत-क्षेत्रके भव्यजीवोंको सबोधित किया था, जो जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पट्टके आभूषणस्वरूप थे तथा कलि-कालके सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यद्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थमे—'

उपर्युक्त उल्लेखोसे साक्षात् सर्वज्ञदेवकी वाणी सुननेके कारण कुन्दकुन्दस्वामीकी अपूर्व महत्ता प्रख्या-पित की गई है । किन्तु कुन्दकुन्दस्वामीके ग्रन्थोमें उनके स्वमुखसे कही विदेहगमनकी चर्चा उपलब्ध नही होती । उन्होने समयप्राभृतके प्रारम्भमें सिद्धोकी वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गइ पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिय ॥ १ ॥

इसमें कहा गया है कि मै श्रुतकेवलीके द्वारा भणित समयप्राभृतको कहूँगा । यदि सीमधर-स्वामीकी दिव्यध्वनि सुननेका सुयोग उन्हे प्राप्त होता तो उसका उल्लेख वे अवश्य करते । फिर भी देवसेन आदिके उल्लेख सर्वथा अकारण नही हो सकते ।

कुन्दकुन्दाचार्यके नाम

पञ्चास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी आदि अपर नामोंका उल्लेख किया है, षट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागरसूरिने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचाय, और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोका निर्देश किया है। नन्दिसघसे सम्बद्ध विजयनगरके शिलालेखमे भी, जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये है। नन्दिसघकी पट्टावलीमे भी उपर्युक्त पाँच नाम निर्दिष्ट हैं परन्तु अन्य शिलालेखोमे पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामोका ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्दका जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्यने पद्मनन्दीको कुण्डकुन्दपुरका बतलाया है। इसीलिये श्रवणवेलगोलाके कितने ही शिलालेखोमें उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाईने 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया'में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे दक्षिणकी ओर लगभग ४ मीलपर एक कोनकुण्डल नामका स्थान है जो अनन्तपुर जिलेके गुटीतालुकेमे स्थित है। शिलालेखमे इसका प्राचीन नाम कोण्डकुन्दे मिलता है। यहाँके निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दि' कहते है। बहुत कुछ सभव है कि कुन्दकुन्दाचार्यका जन्म स्थान यही हो।

कुन्दकुन्दके गुरु

ससारसे नि स्पृह वीतराग साधुओके मातापिताके नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करनेकी परम्परा प्राय नही रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्योंके माता-पिता विषयक इतिहासकी उपलब्धि नही है। हाँ, इनके गुरुओके नाम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध होते है। पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमे जयसेनाचार्यने कुन्दकुन्दस्वामीके गुरुका नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसघकी पट्टावलीमे उन्हे जिनचन्द्रका शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुडके अन्तमें अपने गुरुके रूपमे भद्रबाहुका स्मरण किया है और अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोधपाहुडकी गाथाएँ इस प्रकार है—

> सद्द-वियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णाणमसीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥
> बारसअगवियाण चउदसपुव्वगविउलवित्थरण।
> सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥ ६२ ॥

प्रथम गाथामे कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमे शब्द-विकारको प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शब्दोंमें ग्रथित किया गया है। भद्रबाहुके शिष्यने उसको उसी रूपमे जाना है और कथन किया है द्वितीय गाथामे कहा गया है। कि बारह अगो और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवत हो।

ये दोनो गाथाएँ परस्परमे सबद्ध है। पहली गाथामे कुन्दकुन्दने अपनेको जिस भद्रबाहुका शिष्य कहा है दूसरी गाथामे उन्हीका जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहुसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पडते है क्योकि द्वादश अङ्ग और चतुर्दश पूर्वका विपुल विस्तार उन्हीसे सभव था। इसका समर्थन समयप्राभृतके पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य 'वदित्तु सव्वसिद्धे—' से भी होता है जिसमें उन्होने कहा है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृतको कहूँगा। श्रवणवेलगोलाके अनेक शिलालेखोंमें यह उल्लेख मिलता है कि अपने

शिष्य चन्द्रगुप्तके साथ भद्रबाहु वहाँ पधारे और वही एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटनाको आज ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकृत किया गया है।

बोधपाहुडके संस्कृत टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने—

'भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्‌बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्'

इन पंक्तियो द्वारा कहा है कि यहाँ भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखाचार्यका ग्रहण है। इन विशाखाचार्यके अर्हद्‌बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी है तथा ये दशपूर्वके धारक ग्यारह आचार्योंके मध्य प्रथम आचार्य थे। वही श्रुतसागरसूरि ६२ वी गाथाकी टीकामे भद्रबाहुको 'पञ्चाना श्रुतकेवलिना मध्येऽन्त्यो भद्रबाहु' इन शब्दो द्वारा पाँच श्रुतकेवलियोमे अन्तिम श्रुतकेवली प्रकट करते हैं।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्दको अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दीसे ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जब कि ग्यारह अग तथा चौदह पूर्वोंके जानकार आचार्योंको परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते कुन्दकुन्दस्वामीकी इतनी प्रतिष्ठा कैसे सभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थितिमें कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नही। श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हे गुरुपरम्परासे प्राप्त रहा होगा, उसीके आधारपर उन्होने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे, अत उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको उनके शिष्य विशाखाचार्यने जाना। उसीकी परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरुका अर्थ श्रुतसागरजीने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्यके लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्दका समय

कुन्दकुन्दस्वामीके समय निर्धारणपर प्रवचनसारकी प्रस्तावनामे डा० ए० एन० उपाध्येने, समन्तभद्रकी प्रस्तावनामें जुगलकिशोरजी मुख्तारने, पञ्चास्तिकायकी प्रस्तावनामे डा० ए० चक्रवर्तीने तथा कुन्दकुन्द प्राभृतसग्रहकी प्रस्तावनामें प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विस्तारसे चर्चा की है। लेख-विस्तारके भयसे मै उन सब चर्चाओके अवतरण नही देना चाहता। जिज्ञासु पाठकोको तत् तत् ग्रन्थोसे जाननेकी प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्दस्वामीके समय-निर्धारणके विषयमे मात्र दो मान्यताओका उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हवेल द्वारा सपादित नन्दिसघकी पट्टावलियोके आधारपर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् थे। वि० स० ४९ मे वे आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामे उन्हे आचार्यपद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिनकी थी। डा० ए० चक्रवर्तीने पञ्चास्तिकायकी प्रस्तावनामे अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रारम्भके विद्वान् हैं, जिसका समर्थन जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि इतिहासज्ञ विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें कुन्दकुद द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन-शैली ही

इस प्रकारकी है कि पाठक उसमे वस्तुस्वरूपका अनुगम बडी सरलतासे प्राप्त कर लेता है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित निर्विवाद रूपसे माने जाते है तथा जैन समाजमे उनका सर्वोपरि मान है—

१ नियमसार, २ पञ्चास्तिकाय, ३ प्रवचनसार, ४ समयसार (समयप्राभृत), ५ वारस-अणुवेक्खा, ६ दसणपाहुड, ७ चारित्रपाहुड, ८ सुत्तपाहुड, ९ बोधपाहुड, १० भावपाहुड, ११ मोक्खपाहुड, १२ सीलपाहुड, १३ लिंगपाहुड, १४ दसभत्तिसंगहो।

इनके सिवाय रयणसार नामका ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित प्रसिद्ध है। परन्तु उसके और अनेक पाठभेद देखकर विचारक विद्वानोका मत है कि यह कुन्दकुन्दके द्वारा रचित नही है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगोंकी गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई है। इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारके अनुसार षट्खण्डागमके आद्य भागपर कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित परिकर्म ग्रन्थका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थका उल्लेख षट्खण्डागमके विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेनने अपनी टीकामे कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तो वह उपलब्ध रहा, परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नही है। शास्त्रभण्डारो—खासकर दक्षिणके शास्त्रभण्डारोमे इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योकि उसकी अन्तिम पुष्पिकामे '(इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत-मूलाचाराख्यविवृति) कृतिरियं वसुनन्दिन श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है।

कुन्दकुन्दस्वामीके समस्त ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। अत उनका परिचय अनावश्यक मालूम होता है। समयसार या समयप्राभृत पाठकोके हाथमे है अत उसका परिचय देना आवश्यक जान पडता है।

समयप्राभृत (समयसार) नामकी सार्थकता

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्यके 'मम परमविशुद्धि शुद्ध-चिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते' इस कलशाके तृतीयश्लोकमे तथा जो 'समयपाहुडमिमं पडिहूण अत्थ तच्चदो णाउ' इस समारोपात्मक अन्तिम गाथाके अनुसार प्रकृत ग्रन्थका नाम 'समयप्राभृत' है, 'समयसार' नही। किन्तु पीछे चलकर नियमसार और प्रवचनसारके अनुसार इसका नाम भी 'समयसार' प्रचलित हो गया। समयसार नाम प्रचलित होनेमे अमृतचन्द्रस्वामी द्वारा रचित आत्मख्याति टीकाके 'नम समयसाराय' इस मङ्गल श्लोकमे तथा समयसार शब्दका प्रयोग भी एक कारण है। अमृतचन्द्रस्वामीने समयका अर्थ जीव किया है—'टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ स समय । समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्त' अर्थात् टङ्कोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जो जीव नामका पदार्थ है वह समय कहलाता है। जो एक साथ समस्त पदार्थोको जाने वह समय है ऐसी समय शब्द की निरुक्ति है। जयसेनाचार्यने भी 'सम्यग् अय बोधो यस्य भवति स समय आत्मा अथवा सम एकभावेनायन गमन समय' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समयका अर्थ आत्मा किया है। इन्ही जयसेनाचार्यने 'प्राभृत'का व्याख्यान करते हुए लिखा है—प्राभृत सार सार शुद्धावस्था, समयस्य आत्मन प्राभृत समयप्राभृत, अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृतम्'। अर्थात् प्राभृतका अर्थ सार है, सार शुद्ध अवस्थाको कहते है अत आत्माकी शुद्ध अवस्था का नाम समयप्राभृत है। संस्कृत कोषोमे प्राभृतका एक अर्थ उपहार या भेंट भी बतलाया गया है, आत्माकी जो भेंट है वह समयप्राभृत है। अथवा 'सम्-एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् अयते गच्छति' अर्थात् जो अपने गुण और पर्यायोके साथ एकीभावको प्राप्त हो वह समय है। इस निरुक्ति के अनुसार समयका अर्थ

समस्त पदार्थ होता है। उनमें प्राभृत अर्थात् सारभूत पदार्थ जीवपदार्थ है। प्राभृतका एक अर्थ शास्त्र भी होता है अत समयप्राभृतका अर्थ आत्माका शास्त्र है। 'प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्' अर्थात् जो उत्कृष्टताके साथ सब ओरसे भरा हुआ हो—जिसमे पदार्थका पूर्वापरविरोध रहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते है। इस ग्रन्थमे समय अर्थात् आत्मा अथवा समस्त पदार्थो—नव पदार्थोका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है इसलिये यह समयप्राभृत है।

समयके भेद

कुन्दकुन्दस्वामीने समय अर्थात् आत्माके 'स्वसमय' और 'परसमय' की अपेक्षा दो भेद किये है। जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभावमे स्थित है वह स्व समय है और जो पुद्गल कर्म प्रदेशोमे स्थित है वह परसमय है। पुद्गल कर्मप्रदेशोमे स्थित होनेका अर्थ उन्हे आत्मस्वरूप मानना है। जब तक यह जीव परमाणु मात्र भी पुद्गल द्रव्यको आत्मस्वरूप मानता रहता है तब तक वह परसमय ही कहलाता है। ससारके समस्त प्राणी इन्ही दो भेदोमे विभक्त हैं।

समयप्राभृतकी वस्तु व्यवस्था एव वर्णनीय पदार्थ

समयसारमे कुन्दकुन्दस्वामीने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन पदार्थोको वर्णनीय पदार्थ माना है। इन्हीको यथार्थरूपसे जानना सम्यग्दर्शन कहा है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवा-जीवा य पुण्ण पाव च।
आसव सवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त॥

अर्थात् भूतार्थनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व है। यहाँ कारणमे कार्यका उपचार कर सम्यक्त्वका वर्णन किया गया है अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक्त्वके कारण है और सम्यक्त्व कार्य है। इन्ही नौ पदार्थोका विशद वर्णन इस ग्रन्थमे किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने इन नौ पदार्थोमेसे पुण्य और पापको आस्रवमे गतार्थ कर सात ही तत्त्व माने हैं तथा उनके क्रमको भी परिवर्तित कर दिया है जैसे 'जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये साततत्त्व है। इनका यथार्थश्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है

'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'

जीव और अजीव तत्त्वका क्रम कुन्दकुन्द और उमास्वामी की मान्यताके अनुसार एकसा है। परन्तु आस्रवके बाद कुन्दकुन्दस्वामीने उसके विरोधी सवरका पाठ रक्खा है और उमास्वामीने आस्रवके बाद होनेके कारण उसके बाद बन्धका पाठ रक्खा है। सवर पूर्वक ही निर्जरा कार्य-कारिणी होती है इस दृष्टिसे कुन्दकुन्द स्वामीने सवरके बाद निर्जराका पाठ रक्खा है। उमास्वामीने भी सवर और निर्जराका यही क्रम स्वीकृत किया है। कुन्दकुन्दने निर्जराके बाद बन्ध और उसके बाद बन्धके विरोधी मोक्षतत्त्वका पाठ रक्खा है। अपनी-अपनी विवक्षाओके अनुसार दोनो मान्यताएँ ठीक हैं। पुण्य और पापके विषयमे अधिक भ्रान्ति होती है अत कुन्दकुन्दस्वामीने उस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये अलगसे उनका वर्णन करना उचित समझा, पर उमास्वामीने उन्हे आस्रवका ही एक विशेष रूप समझकर उनका स्वतन्त्र वर्णन करना ठीक नही समझा। उमास्वामीके द्वारा स्वीकृत क्रमका समर्थन करते हुए पूज्यपाद और अकलंकस्वामीने सर्वार्थसिद्धि एव राज-

वार्तिकमें कहा कि जीवतत्त्व सब तत्त्वोंमें प्रमुख है अत उसका पहले कथन किया है। उसके बाद जीवके विरोधी अजीवतत्त्वका वर्णन किया है। जीव और अजीवके सयोगसे जीव की ससारदशा होती है उसके कारण आस्रव और बन्ध हैं। मोक्ष उपादेयतत्त्व है और उसकी प्राप्ति सवर और निर्जरापूर्वक होती है अत बन्धके बाद सवर और निर्जराका कथन है। अन्तमें प्राप्त होनेके कारण सबसे अन्तमे मोक्षतत्त्वका कथन है।

इन पदार्थोंका विशद वर्णन करनेके लिए कुन्दकुन्द महाराजने समयप्राभृतको निम्नलिखित दश अधिकारोमे विभाजित किया है—१ पूर्वरङ्ग २ जीवाजीवाधिकार ३ कर्तृकर्माधिकार ४ पुण्य-पापाधिकार ५ आस्रवाधिकार ६ सवराधिकार ७ निर्जराधिकार ८ बधाधिकार ९ मोक्षाधिकार और १० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयोका सामञ्जस्य बैठानेके लिये अमृतचन्द्रस्वामीने पीछेसे स्याद्वादाधिकार नामका एक स्वतन्त्र अधिकार और जोडा है। अमृताख्याति टीकाके अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओमे समाप्त हुआ है। तात्पर्यवृत्तिके अनुसार कुछ गाथाएँ अधिक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य सम्मत नय व्यवस्था

कुन्दकुन्दस्वामीने निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे सिर्फ दो नय स्वीकृत किये है। वस्तुके एक-अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष परिणमनको जाननेवाला निश्चयनय है और अनेक-भेदरूप तथा पराश्रित—परसापेक्ष परिणमनको जाननेवाला व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्योंने निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं और व्यवहारनयके सद्भूत, असद्भूत, उपचरित, अनुपचरित आदिके भेदसे अनेक भेद स्वीकृत किये हैं परन्तु कुन्दकुन्दस्वामीने इन भेदोके चक्रमें न पडकर सिर्फ उपर्युक्त दो भेद स्वीकृत किये है। अपने गुणपर्यायोसे अभिन्न आत्मा की परिणतिके कथनको उन्होने निश्चयनयका विषय माना है और कर्मके निमित्तसे होनेवाली आत्मा की परिणतिको व्यवहारनयका विषय माना है। निश्चयनय आत्मामे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोको स्वीकृत नही करता। वे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होते है इसलिये उन्हे सीधे पुद्गलके कह दिये हैं। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदिके विकल्प जीवके स्वभाव नही है अत निश्चयनय उन्हें स्वीकार नही करता। इन सबको आत्माके कहना व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनय स्वभावको विषय करता है विभावको नही। जो स्वमें स्वके निमित्तसे होता है वह स्वभाव है जैसे जीवके ज्ञानादि और जो स्वमे परके निमित्त से होते हैं वे विभाव है जैसे जीवमे क्रोधादि। ये विभाव चूंकि आत्मामें ही परके निमित्तसे होते है इसलिये इन्हे कथचित् आत्माके स्वीकृत करनेके लिये परवर्ती आचार्योने निश्चयनयमे शुद्ध और अशुद्ध निश्चयका विकल्प स्वीकार किया है परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभावको आत्माका मानना स्वीकृत नही करते वे उसे व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं।

निश्चय और व्यवहारनयमे भूतार्थग्राही होनेसे निश्चयनयको भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होनेसे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। यहाँ व्यवहारनय की अभूतार्थता निश्चयनय की अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनके अपेक्षा नही। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमे बडी आपत्ति दिखती है। श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने ४६ वी गाथा की टीकामे लिखा है—

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव

नि'शकमुपमर्दनेन हिसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थता भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव.।

यही भाव तात्पर्यवृत्तिमे जयसेनाचार्यने भी दिखलाया है —

यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालबनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा नि शकोपमर्दन कुर्वन्ति जना । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येक दूषण, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित' पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिस्ष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठान कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीय च दूषणम् । तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय' ।

इन अवतरणो का भाव यह है—

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोको समझानेके लिए म्लेच्छ भाषाका अगीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवोको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहारनयका दिखलाना न्यायसगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नही है। अत उसके आलम्बन से पदार्थ का प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामे जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेमे हिसा नही होती उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवोका नि शङ्क उपमर्दन करनेसे हिसा नही होगी और हिंसाके न होनेसे बन्धका अभाव हो जायगा, बन्धके अभावसे ससारका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्धको प्राप्त होता है अत उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिससे वह राग, द्वेष, मोहसे छूट जाये, यह जो आचार्योने मोक्षका उपाय बताया है वह व्यर्थ हो जावेगा क्योकि परमार्थसे जीव राग, द्वेष, मोहसे भिन्नही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्षके उपाय स्वीकार करना असगत होगा और इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायगा।

नय परार्थश्रुतज्ञानके भेद है। परार्थका तात्पर्य है जिससे दूसरेकी अज्ञान निवृत्ति हो। इससे सिद्ध होता है कि नयोका प्रयोग पात्रभेदकी अपेक्षा रखता है। एकही नयमे सब पात्रोका कल्याण नही हो सकता। कुन्दकुन्दस्वामीने स्वयभी बारहवी गाथामे इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिए और अशुद्धनय किसके लिए आवश्यक है। शुद्धनयसे तात्पर्य निश्चयनयका और अशुद्धनयसे तात्पर्य व्यवहारनयका लिया गया है। गाथा इस प्रकार है—

'सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहि ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥

अर्थात् जो परम भावको देखनेवाले है उनके द्वारा तो शुद्धतत्त्वका कथन करनेवाला शुद्धनय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमे मे स्थित है उनके लिए व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है।

नयोके विसवादसे मुक्त होनेके लिए कहा गया है—

'जइ जिणमअ पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च ॥'

अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनोही नयोको मत त्यागो, क्योकि यदि व्यवहारनयको त्याग दोगे तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेशही नही हो सकेगा। फलत धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा और यदि निश्चयको त्याग दोगे तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है।

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रसूरीने भी कलशकाव्यमे दरशाया है—

उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा ।
सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै—
रनवमनयपक्षा क्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ १४ ॥

अर्थात् जो जीव स्वय मोहका वमन कर निश्चय और व्यवहारनयके विरोधको ध्वस्त करनेवाले एव स्यात्पदसे चिह्नित जिनवचनमे रमण करते हैं वे शीघ्रही उस समयसारका अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योति स्वरूप है, नवीन नही अर्थात् द्रव्य-दृष्टिसे नित्य है और अनयपक्ष—एकान्तपक्षसे जिसका खण्डन नही हो सकता।

सम्यक्‌दृष्टि जीव वस्तुस्वरूपका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिए दोनो नयोका आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धा मे वह अशुद्धनयके आलम्बनको हेय समझता है यही कारण है कि वस्तु-स्वरूपका अथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनयका आलम्बन स्वय छूट जाता है। कुन्दकुन्दस्वामीने उभय नयोके आलम्बनसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया है इसलिए वह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है।

समयप्राभृतके अधिकारोका प्रतिपाद्य विषय

(१) पूर्वरङ्ग—कुन्दकुन्दस्वामीने स्वय पूर्वरङ्ग नामका कोई अधिकार सूचित नही किया है परन्तु सस्कृतटीकाकार अमृतचन्द्रसूरिने ३८वी गाथाकी समाप्ति पर पूर्वरङ्ग समाप्ति की सूचना दी है। इन ३८ गाथाओमे प्रारम्भकी १२ गाथाएँ पीठिका रूपमे हैं जिनमे ग्रन्थकर्त्ताने मङ्गलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्व-समय-परसमयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनयके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है। इन नयो के ज्ञान विना समयप्राभृतको समझना अशक्य है। पीठिकाके बाद ३८वो गाथा तक पूर्वरङ्ग नामका अधिकार है जिसमे आत्माके शुद्ध स्वरूपका निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मामे जहाँपर द्रव्यजनित विभाव-भावको स्वीकृत नही करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायोके साथ भेद भी स्वीकृत नही करता। वह इस बातको भी स्वीकृत नही करता कि आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चरित्र ये गुण है क्योकि इनमे गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है। वह यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप है। आत्मा प्रमत्त हैं और आत्मा अप्रमत्त है इस कथनको भी शुद्धनय स्वीकृत नही करता क्योकि इस कथनसे आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायोमे विभक्त होता है। वह तो आत्माको एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जोवाधिकार मे जीवके निज स्वरूपका कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान विभावो से पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नही है, द्रव्यकर्म मेरा नही है और भावकर्मभी मेरा नही है इस तरह इन पदार्थोंसे आत्म-तत्त्वको पृथक् सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एव भाव्य-भावकभावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपनेमे प्रतिबिम्बित मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमे आये हुए घट-

पटादि ज्ञेयोसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओके प्रतिबिम्बसे सयुक्त होनेपर भी तज्जन्य तापसे उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमे रहते फल-कर्मफलके अनुभवसे रहित है। इस तरह प्रत्येक परपदार्थसे भिन्न आत्माके अस्तित्व का श्रद्धान करना जीव तत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है। इस प्रकरणके अन्तमें कुन्दकुन्दस्वामीने उद्घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्त वि ॥३८॥

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानसे तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नही है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव पुद्गल-द्रव्यके सयोगसे उत्पन्न हुई सयोगज पर्यायमे आत्म-बुद्धि कर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमे हर्ष विषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी, द्वेषी होता है और उनके निमित्तसे नवीन कर्म बन्धकर अपने ससारकी वृद्धि करता है। जब यह जीव परपदार्थोसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोसे इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

(२) जीवाजीवाधिकार

जीवके साथ अनादिकालसे कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल-द्रव्यका सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व-दशामे यह जीव शरीररूप नोकर्मकी परिणतिको आत्माकी परिणति मानकर उसमे अहकार करता है, इस-रूप ही मैं हूँ ऐसा मानता है अत सर्वप्रथम इसकी शरीरसे पृथक्ता सिद्ध की है उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म और रागादिक भावकर्मसे इसका पृथक्त्व दिखाया गया है। आचार्य महाराजने कहा है कि हे भाई— ये सब भाव पुद्गलद्रव्यके परिणमनसे निष्पन्न है अत पुद्गलके है, तूँ इन्हे जीव क्यो मान रहा है ? यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चति ॥४४॥

जो स्पष्ट ही अजीव है उनके अजीव कहनेमे तो कोई खास बात नही है। परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीवके साथ घुलमिलकर अनित्य तन्मयी भावसे तादात्म्य जैसी अवस्थाको प्राप्त हो रहे है उन्हे अजीव सिद्ध करना इस अधिकारकी विशेषता है। 'रागादिक भाव अजीव हैं', गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव है, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। अजीव है—इसका यह तात्पर्य नही है कि ये घटपटादिके समान अजीव है। यहाँ 'अजीव है' इसका इतना तात्पर्य है कि ये जीवकी निज परिणति नही है यदि जीवकी निज परिणति होती तो त्रिकालमे इनका अभाव नही होता परन्तु जिस पौद्गलिककर्मकी उदयावस्थामे ये भाव होते हैं उसका अभाव होनेपर ये स्वय विलीन हो जाते है। अग्निके ससर्गसे पानीमे उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदाके लिए नही आती है। अग्निका सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि कर्मोंके उदयकालमे होनेवाली रागादि भाव आत्मामे अनुभूत होते हैं परन्तु वे सयोगज भाव होनेसे आत्माके विभाव भाव है स्वभाव नही इसीलिए उनका अभाव हो जाता है। ये रागादिक भाव आत्माको छोड-कर अन्य जड पदार्थोंमे नही होते किन्तु आत्माके उपादानसे आत्मामें उत्पन्न होते है इसलिए उन्हे आत्माके कहनेके लिए अन्य आचार्योंने एक अशुद्ध निश्चयनयकी कल्पना की है। वे शुद्ध निश्चयनयसे आत्माके नही हैं।

परन्तु अशुद्ध निश्चयनयसे आत्माके हैं ऐसा कथन करते है परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी तो बेदाग और बेलाग बात कहना पसंद करते हैं वे विभावको आत्माके मानने के लिए तैयार नही हैं। उन्हे आत्माके कहना इसे वे व्यवहारनयका विषय मानते है और उस व्यवहारका जिसे कि उन्होने अभूतार्थ कहा है। व्यवहारको अभूतार्थ कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि वह अन्य द्रव्याश्रित परिणमनको अन्य द्रव्यका परिणमन मानता है। 'व्यवहार-नय अभूतार्थ है' इसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि वह अनुपादेय है। पात्रकी योग्यताके अनुसार व्यवहारकी उपादेयताका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ इतनी बात खासकर ध्यानस्थ करना आवश्यक है कि यह कथन निमित्तप्रधान दृष्टिका है उपादानप्रधान दृष्टिका नही। उपादानप्रधान दृष्टिमे रागादिकका उपादान आत्मा ही है कर्मरूप पुद्गल नही।

इसी प्रसङ्गमे जीवका स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने कहा है—

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिंग्गहण जीवमणिदिट्ठ सठाण ॥४९॥

अर्थात् हे भव्य! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, आलिङ्ग ग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नही होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नही किया गया है, ऐसा है किन्तु चतना गुणवाला है।

यहाँ चेतनागुण जीवका स्वरूप है और रस-गन्ध आदि उसके स्वरूप नही है। परपदार्थसे उसका पृथकत्व सिद्ध करनेके लिए ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक सभी जीवसे भिन्न है—जीवेतर है। इस तरह इस जीवाजीवाधिकारमे आचार्यने मुमुक्षु प्राणीके लिये परपदार्थसे भिन्न जीवके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कराया है साथ ही उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थको अजीव दिखलाया है। वस्तुत यह ससार जीव और अजीवमय ही तो है। यह जीवाजीवाधिकार ३८ वी गाथासे लेकर ६८वी गाथा तक चला है।

(३) कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिककर्म) अनादिकालसे सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त है इसलिए प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्धका कारण क्या है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि जीवने कर्मको किया तो जीवमे ऐसी कौनसी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्मको किया यदि बिना विशेषताके ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्मको करें इसमे क्या आपत्ति है? और कर्मने जीवको किया तो कर्ममे ऐसी विशेषता कहाँसे आई कि वे जीवको कर सके—उसमे रागादिक भाव उत्पन्न कर सके। बिना विशेषताके ही यदि कर्म रागादिक करते है जो कर्मके अस्तित्वकालमे सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रश्नावलीसे बचनेके लिए यह समाधान किया गया है कि जीवके रागादि परिणामोसे पुद्गलद्रव्यमे कर्म-रूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन—उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामे रागादिक भाव उत्पन्न होते है। इस समाधानमे जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उमे अनादि सयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकारमे कुन्दकुन्दस्वामीने इसी बातका बडी सूक्ष्मतासे निरूपण किया है। इस वर्णनको समझनेके लिए सबसे पहले उपादानोपादेय भाव और निमित्त-नैमित्तिकभावको समझना आवश्यक है। इसके बिना कर्तृकर्माधिकारका सूक्ष्म विषय सहसा ग्रहणमे नही आता।

जो स्वय कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान कहलाता है और जो कार्य होता है वह उपादेय कहलाता है जैसे मिट्टी घटाकार परिणति करती है अत वह घट का उपादान है और घट उसका उपादेय है। यह उपादान-उपादेय भाव सदा एक द्रव्यमे ही बनता है क्योकि एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल-मे भी नही कर सकता। उपादानको कार्यरूप परिणति करनेमे जो सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है और उस निमित्तसे उपादानमे जो कार्य निष्पन्न हुआ है वह नैमित्तिक कहलाता है जैसे कुम्भकार तथा उसके दण्ड, चक्र, चीवर आदि उपकरणोकी सहायतासे मिट्टीमे घटाकार परिणमन हुआ तो यह सब निमित्त हुए और घट नैमित्तिक हुआ। यहाँ निमित्त और नैमित्तिक दोनो पुद्गलद्रव्यके अन्दर निष्पन्न है और जीवके रागादि भावोका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन हुआ यह निमित्त नैमित्तिकभाव दो द्रव्योमे हुआ।

अब विचार करना है कि कर्मका कर्ता कौन है? तथा रागादिकका कर्ता कौन है? जब उपादान-उपादेय भावकी अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमे हुआ है इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नही, परन्तु जब निमित्त नैमित्तिकभावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोका निमित्त पाकर पुद्गल मे कर्मरूप परिणमन हुआ है, कुम्भकारके हस्तव्यापारका निमित्त पाकर घटका निर्माण हुआ है, रथकारके हस्तव्यापारमे रथकी रचना हुई है इसलिए इन सबके निमित्त कर्ता क्रमश रागादिक भाव, कुम्भकार और रथकार है। इसी प्रकार द्रव्यकर्मकी उदया-वस्थाका निमित्त पाकर जीवमे रागादिक परिणति हुई है इसलिए इस परिणतिका उपादानकारण जीव स्वय है और निमित्तकारण द्रव्यकर्मकी उदयावस्था है।

कुन्दकुन्दस्वामीने निमित्त-नैमित्तिकभावको अलगसे स्वीकृत करते हुए भी कर्तृ-कर्मभावका वर्णन उपादानोपादेय भावसे ही किया है। उन्होने कहा है—

> **जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।**
> **पुग्गल कम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ॥ ८०॥**
> **ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जाव गुणे।**
> **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णम्पि॥ ८१॥**
> **एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।**
> **पुग्गल कम्म कयाण ण दु कत्ता सव्व भावाण॥ ८२॥**

अर्थात् पुद्गलद्रव्य जीवके रागादिक परिणामोका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त होता है, इसी तरह जीवद्रव्य भी पुद्गलकर्मोके विपाक कालरूप निमित्तको पाकर रागादि भावरूप परिणम जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीवद्रव्य कर्ममे किसी गुणका उत्पादक नही अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वय ज्ञानावरणादि भावको प्राप्त होता है। इसी तरह कर्म भी जीवमे किन्ही गुणोको नही करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमन करता है। इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव इन दोनोका परिणमन परस्पर निमित्तक है, ऐसा जानो। इसीसे आत्मा अपने भावोके द्वारा अपने परिणमनका कर्ता होता है, पुद्गल कर्मकृत जो सब भाव है उनका कर्ता नही है अर्थात् पुद्गलके जो ज्ञाना-वरणादि कर्म है उनका कर्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादि भाव है उनका कर्ता जीव है।

आत्मामे वैभाविकशक्ति होनेके कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है अत अन्तरङ्गमे उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमे पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्मके विपाकसे इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुद्गलद्रव्यमे भी वैभाविकशक्ति होनेके कारण कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है अत अन्तरङ्गमें उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमे जीवके मिथ्यादर्शनादि विभाव-भावके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ आत्मा और पुद्गलमें विद्यमान वैभाविकशक्तिसे जायमान योग्यताको लक्ष्यमे रखकर जब कथन होता है तब कहा जाता है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वय करता है और पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वय करता है। जब आत्मा और पुद्गलकी इस योग्यताको गौणकर बहिरङ्ग निमित्तकी प्रधानतासे कथन होता है तब कहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गलके निमित्तसे आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभाव रूप परिणमन करता है और आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमनके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है।

कुन्दकुन्दस्वामीने कर्तृ-कर्मभावका वर्णन एक द्रव्यमे किया है दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता या कर्म नही हो सकता। इसके फलितार्थमे यह नही निकाला जा सकता कि कुन्दकुन्दस्वामी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धको नही मानते थे। क्योकि उन्होने निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको सर्वत्र स्वीकृत किया है। यहाँ जीवके रागादिक भाव और पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप परिणमनमे निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकृत किया ही है नियमसारमे भी सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोका उल्लेख करते हुए उसे स्वीकृत किया है यथा—

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी॥ ५३॥

अर्थात् सम्यग्दर्शनका बाह्यनिमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरङ्गहेतु दर्शनमोहनीयकर्मकी क्षय आदि अवस्थाएँ हैं।

षड्द्रव्योके कार्य और उपकार आदिका वर्णन तो पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थोमें किया ही है। निमित्त-नैमित्तिकभावकी स्वीकृतिके बिना न इस लोककी व्यवस्था बनती है और न परलोककी।

जीवाजीवादि नौ पदार्थोके विवेचनके बीचमे कर्तृकर्मभावकी चर्चा छेडनेमें कुन्दकुन्दस्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थका कर्ता, धर्ता तथा हर्त्ता मानकर व्यर्थ ही राग-द्वेषके प्रपञ्चमें पडता है। अपने आपको परका कर्ता माननेसे अहकार उत्पन्न होता है तथा परकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमे हर्ष-विषादका अनुभव होता है जब तक परपदार्थमें हर्ष-विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमे सुस्थिर नही होता, वह मोहकी धारामे बहकर स्वरूप से च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिये। इसी उद्देश्य से आस्रवादि तत्त्वोकी चर्चा प्रारम्भ करनेके पूर्व कुन्दकुन्द महाराजने सचेत किया है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! तू कर्तृत्वके अहकारसे बच, अन्यथा रागद्वेषके दल-दलमे फंस जावेगा।

निमित्त-नैमित्तिकभावको सर्वथा अस्वीकृत कर देनेपर तो जिनागमका प्रसाद ही ढह जावेगा। इसी कर्तृकर्माधिकारमे अमृतचन्द्रस्वामीने अनेक नय पक्षोका उल्लेखकर तत्त्ववेदी पुरुषको उनके पक्षसे अतिक्रान्त बताया है। आखिर नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन हैं साध्य नही। एक अवस्था ऐसी आती है जहाँ व्यव-

हार और निश्चय दोनो प्रकारके नयोका अस्तित्व नही रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपचक्रका तो पता ही नही चलता कि वह कहा गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्यो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

६९ से लेकर १४४ गाथा तक कर्तृकर्माधिकार चला है ।

पुण्य पापाधिकार

ससारचक्रसे निकलकर मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी प्राणीको पुण्यका प्रलोभन अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी आस्रवाधिकार प्रारम्भ करनेके पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते है कि हे मुमुक्षु ! तू मोक्षरूप महानगरकी यात्राके लिये निकला है देख, कही बीचमे ही पुण्यके प्रलोभनमे नही पड जाना । यदि उसके प्रलोभनमे पडा तो एक झटकेमे ऊपरसे नीचे आ जावेगा और सागरो पर्यन्तके लिये उसी पुण्य महलमे नजर कैद हो जायगा ।

अधिकारके प्रारम्भमे ही कुन्दकुन्द महाराज कहते है कि लोग अशुभको कुशील और शुभको सुशील कहते है परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है ? जो इस जीवको ससारमे ही प्रविष्ट रखता है उससे बाहर नही निकलने देता । बन्धनकी अपेक्षा सुवर्ण और लोह—दोनोकी बेडियाँ समान है । जो बन्धन से बचना चाहता है उसे सुवर्णकी बेडी भी तोडना होगी ।

वास्तवमे यह जीव पुण्य का प्रलोभन तोडनेमें असमर्थ-सा हो रहा है यदि अपने आत्म स्वातन्त्र्य तथा शुद्ध स्वभावकी ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नही है । दया, दान, व्रताचरण आदिके भाव लोकमे पुण्य कहे जाते है और हिंसा आदि पापो मे प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं । पुण्यके फलस्वरूप पुण्यप्रकृतियोका बन्ध होता है और पापके फलस्वरूप पापप्रकृतियोंका बन्ध होता है जब उन पुण्य और पापप्रकृतियो का उदयकाल आता है तब इस जीवको सुख-दु खका अनुभव होता है । परमार्थ के विचार किये जावे तो पुण्य और पाप दोनो प्रकार की प्रकृतियो का बन्ध इस जीवको ससारमे ही रोकनेवाला है । इसलिये इनसे बचकर उस तृतीय अवस्था को प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये । जो पुण्य और पाप दोनोके विकल्पसे परे है । उस तृतीय अवस्थाओमे पहुँचनेपर ही यह जीव कर्मबन्धसे बच सकता है । और कर्मबन्ध से बचनेपर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है । उन्होने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे, अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
ससारगमणहेदु वि मोक्खहेउ अजाणता ॥१५४॥

जो परमार्थ से बाह्य है अर्थात् ज्ञानात्मक आत्मा के अनुभवनसे शून्य हैं वे अज्ञानसे ससारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते है तथा मोक्षके कारणको जानते भी नही है ।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञानके रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्यको मोक्षका साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि वह पुण्य ससारकी प्राप्तिका कारण है । कषायके मन्दोदयमें होनेवाली जीवकी जो

शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते है, ऐसा पुण्य शुभकर्मके बन्धका कारण है, कर्मक्षयका कारण नही है परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तरको नही समझ पाता है। यहाँ पुण्य रूप आचरणका निषेध नही है किन्तु पुण्याचरणको मोक्ष का मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभव का उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धामे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नही है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नही है यहाँ इतनी ध्यानमे रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नही छोडा जाता—वह तो शुद्धोपयोग की भूमिकामें प्रविष्ट होने पर स्वय छूट जाता है।

जिनागमका कथन नय सापेक्ष होता है अत, शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है परन्तु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोगमें यथार्थमार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोगमे उसकी सभावना ही नही है। जैसे प्रात काल सम्बन्धी सूर्य लालिमा का फल सूर्योदय है और सायकाल सम्बन्धी लालिमा का फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथनको अगीकृत करते हुए श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेश शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरण से होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वर व्रतै पदं दैव नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेद. प्रतिपालयतोर्महान् ॥२॥

व्रतोसे देवपद पाना अच्छा है परन्तु अव्रतोंसे नारकपद पाना अच्छा नहीं है क्योकि छाया और धूपमें बैठकर प्रतीक्षा करनेवालोमे महान् अन्तर है।

अशुभोपयोगरूप पाप सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद-की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनो रूप है। यद्यपि किन्ही-किन्ही आचार्योंने सम्यग्दृष्टिके पुण्यको निर्जराका कारण बताया है और मिथ्यादृष्टिके पुण्यको बन्धका कारण। परन्तु वस्तुतत्त्वका यथार्थ विश्लेषण करनेपर यह बात अनुभवमे आती है कि सम्यग्दृष्टि जीवके मोहका आंशिक अभाव हो जानेसे जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जराका कारण है और जो शुभरागरूप अवस्था है वह बन्धका ही कारण है। बन्धके कारणोकी चर्चा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने तो एक ही बात कही है—

रत्तो बधदि कम्म मुचदि जीवो विरागसपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

रागी जीव कर्मोको बाधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोको छोडता है यह श्री जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमें राग नही करो।

यहाँ आचार्यने शुभ या अशुभ दोनों प्रकारके रागको ही बन्धका कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभरागसे शुभकर्मका बन्ध हो और अशुभरागसे अशुभकर्मका बन्ध हो।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथातक चला है।

आस्रवाधिकार

सक्षेपमे जीवद्रव्यकी दो अवस्थाएँ है एक ससारी और दूसरी मुक्त। इनमे ससारी अवस्था अशुद्ध होनेसे त्याज्य है और मुक्त अवस्था शुद्ध होनेसे उपादेय है। ससार अवस्थाका कारण आस्रव और बन्धतत्त्व हैं तथा मोक्ष अवस्थाका कारण संवर और निर्जरा तत्त्व हैं। आत्माके जिन भावोसे कर्म आते हैं उन्हे आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१. मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकार-ने इन चारके सिवाय प्रमादका वर्णन और किया है। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी प्रमादको कषायका ही एक रूप मानते है अत उन्होने चार आस्रवोका ही वर्णन किया है। इन्ही चारके निमित्तसे आस्रव होता है। मिथ्या-दृष्टिगुणस्थानमे चारो ही आस्रव है उसके बाद अविरतसम्यग्दृष्टितक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव है। पचमगुणस्थानमें एक देश अविरमणका अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थानसे दशवेंतक कषाय और योग ये दो आस्रव है और उसके बाद ११, १२ और तेरहवें गुणस्थानमे सिर्फ योग आस्रव है तथा चौदहवें गुणस्थानमें आस्रव बिलकुल ही नही है।

इस अधिकारकी खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बन्ध नही होते। जबकि कारणानुयोगकी पद्धतिसे अविरतसम्यग्दृष्टिको आदि लेकर तेरहवे गुणस्थानतक क्रमसे ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १ प्रकृतियोका बन्ध बताया है। यहाँ कुन्दकुन्दस्वामीका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीके उदयकालमे इस जीवके तीव्र अर्थात् अनन्त ससारका कारण बन्ध होता था वैसा बन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके नही होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी विचित्र महिमा है कि उसके होनेके पूर्व ही बध्यमान कर्मोंकी स्थिति घटकर अन्त कोडाकोडी प्रमाण हो जाती है और सत्तामे स्थित कर्मोंकी स्थिति इससे भी सख्यात हजार सागर कम हो जाती है। वैसे भी अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोका आस्रव और बन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात है कि सम्यग्दृष्टिजीवके सम्यग्दर्शनरूप परिणामोसे बन्ध नही होता उसके जो बन्ध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोका उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव मोक्षके कारण हैं वे बन्धके कारण नही हो सकते किन्तु उनके सद्भावकालमे जो रागादिक भाव हैं वे ही बन्धके कारण हैं। इसी बातको अमृतचन्द्रसूरिने निम्नाङ्कित कलशामें स्पष्ट किया है—

रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसभव।
तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

चूकि ज्ञानी जीवके रागद्वेष और विमोहका अभाव है इसलिये उसके बन्ध नही होता। वास्तवमे रागादिक भाव ही बन्धके कारण है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रवका विरोधीतत्त्व सवर है अत आस्रवके बादही उसका वर्णन किया जा रहा है। 'आस्रव-निरोध सवर' आस्रवका रुक जाना सवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारोने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परी-षहजय और चारित्रको सवर कहा है किन्तु इस अधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने भेदविज्ञानको ही सवरका मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोगमें ही है, क्रोधादिकमे नही है और क्रोधादिक

क्रोधादिकमे ही हैं उपयोग मे नही हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न है अत उनसे भेदज्ञान प्राप्त करनेमे महिमा नही है, महिमा तो उन रागादि भाव कर्मोंसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमे है जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नही समझ पाता इसीलिये वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उनमे तत्काल रागद्वेष करने लगता है परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनो धाराओके अन्तरको समझता है इसलिये वह किसी पदार्थको देखकर उनका ज्ञाता दृष्टा तो रहता है परन्तु रागी, द्वेषी नही बनता। जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाससे भिन्न अनुभव करने लगता है वहो उनके सम्बन्धसे होने वाले राग-द्वेपसे बच जाता है। राग-द्वेषसे बच जाना ही सच्चा सवर है। किसी वृक्षको उखाडना है तो उसके पत्ते नोचनेसे काम नहो चलेगा उसकी जडपर प्रहार करना होगा। इसी तरह आस्रव और बन्धको रोकना है तो मात्र क्रियाकाण्डसे काम नहो चलेगा किन्तु उसकी जडपर प्रहार करना होगा। रागद्वेप की जड है परपदार्थोंमे आत्मीयभाव-उनको अपना मानना अत भेदज्ञान के द्वारा उन्हे अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करनेका वास्तविक उपाय है। इस भेदविज्ञान महिमाका गान करते हुए श्रीअमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ १३१ ॥

जितने आज तक सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए है और जितने ससारमे बद्ध है वे भेदविज्ञानके अभावमे ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञानकी भावना तबतक करते रहना चाहिये जबतक कि ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञानमे ही प्रतिष्ठित नही हो जाता। परपदार्थसे ज्ञानको भिन्न करनेका पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होता है और दशम गुणस्थानके अन्तिम समयमे समाप्त होता है वहाँ यह जीव परमार्थसे अपनी ज्ञानधाराको रागादिककी धारासे सर्वथा पृथक् कर लेता है। इस दशामे इस जीवका ज्ञान सचमुच ही ज्ञानमे प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये इस जीवके रागादिकके निमित्त होने वाले बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योगके निमित्तसे सातावेदनीयका आस्रव और बन्ध होता है सो भी सापरायिक आस्रव नही तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध नही। मात्र ईर्यापथ आस्रव और मात्र प्रकृति प्रदेशबन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर ऐसा जीव नियमसे केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो ! भव्य प्राणियो ! सवरके इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बन्धसे छुटकारा मिले।

सवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित कर्मपरमाणुओकी निर्जरा ससारके प्रत्येक प्राणीके प्रतिसमय हो रही है पर ऐसी निर्जरासे किसीका कल्याण नही होता क्योकि जितने कर्मपरमाणुओकी निर्जरा होती है उतने ही कर्मपरमाणु आस्रवपूर्वक आकर बन्धको प्राप्त हो जाते है। कल्याण उस निर्जरासे होता है जिसके होनेपर नवीन कर्मपरमाणुओका आस्रव और बन्ध नही होता। इसी उद्देश्यसे यहाँ कुन्दकुन्द

महाराजने संवरके बाद ही निर्जरा पदार्थका निरूपण किया है। संवरके बिना निर्जराकी कोई सफलता नही है।

निर्जराधिकारके प्रारम्भमें ही कहा गया है कि—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोके द्वारा चेतन-अचेतन पदार्थोका जो उपभोग करता है वह सब निर्जराके निमित्त करता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीवकी यह कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आ रहे हैं और उनके उदयकालमे होनेवाला उपभोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन बन्ध नही होता किन्तु पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्म के फलका भोक्ता अपने आपको नही मानता। उनका ज्ञायक तो होता है पर भोक्ता नही होता। भोक्ता अपने ज्ञान स्वभावका ही होता है यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जराका कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यकी अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञानसामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कुन्द-कुन्दस्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपभोग करता हुआ वैद्य पुरुष मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्मके उदयका भोग करता हुआ बन्धको प्राप्त नही होता। वैराग्यसामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभावसे मदिराका पान करनेवाला मनुष्य मदको प्राप्त नही होता उसी प्रकार अरतिभावसे द्रव्यका उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष बन्धको प्राप्त नही होता। कैसी विचित्र महिमा ज्ञान और वैराग्यकी है कि उसके होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जराको करता है बन्धको नही। अन्य ग्रन्थोमे इस अविद्याकी निर्जराका प्रमुख कारण तपश्चरण कहा गया है परन्तु कुन्दकुन्दस्वामीने तपश्चरणको यथार्थ तपश्चरण बतानेवाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसीका सर्वप्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्यके बिना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभबन्धका कारण होता है।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है बन्ध बिलकुल नही होता? इसका उत्तर करणानुयोगकी पद्धतिसे यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जरा प्रारम्भ हो गई। मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसी निर्जरा आज तक नही हुई किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वह ऐसी निर्जराका पात्र बन जाता है। 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षयकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना' आगम-में गुणश्रेणी निर्जराके ये दश स्थान बतलाये हैं इनमे निर्जरा उत्तरोत्तर बढती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जरा और बन्ध दोनो चलते हैं। निर्जराके कारणोसे निर्जरा होती है और बन्धके कारणोंसे बन्ध होता है। जहाँ बन्धका सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान है उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थानतक निर्जरा और बन्ध दोनो चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितम गुणस्थानोमे चढता जाता है वैसे वैसे निर्जरामे वृद्धि और बन्धमें न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यशक्ति की प्रधानता हो जाती है इसलिये बन्धके कारणो-की गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा ही होती है बन्ध नही। इसी निर्जराधि-कारमें कुन्दकुन्दस्वामीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोका विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

बन्धाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनो ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनोमे चेतन-अचेतनकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है फिर भी इनका अनादिकालसे सयोग बन रहा है। जिसप्रकार चुम्बकमें लोहेको खीचनेकी और लोहामे खिचनेकी योग्यता है इसी तरह आत्मामे कर्मरूप पुद्गलको खीचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमे खिचनेकी योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यताके कारण दोनोका एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एक क्षेत्रावागहको बन्ध कहते है। इस बन्धदशाके कारणोका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभावको ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकारके प्रारम्भमे ही वे एक दृष्टान्त देते है कि जिस प्रकार धूलि बहुल स्थानमे कोई मनुष्य शस्त्रोसे व्यायाम करता है, ताड तथा केले आदिके वृक्षोको छेदता भेदता है, इस क्रियासे उसके शरीरके साथ धूलिका सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्धके होनेमे कारण क्या है ? उस व्यायाम कर्ता के शरीरमे जो स्नेह—तैल लग रहा है वही उसका कारण है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव इन्द्रिय विषयोमे व्यापार करता है उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्बन्ध उसकी आत्माके साथ होता है उसका कारण क्या है ? उसका कारण भी उसकी आत्मामे विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीवका स्वभाव नही किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्यकर्मकी उदयवस्था रूप कारणसे उत्पन्न हुआ है। आस्रवाधिकारमे आस्रवके जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये है वे ही बन्धके भी प्रत्यय—कारण है। इन्ही प्रत्ययोका सक्षिप्त नाम राग-द्वेष अथवा अध्यवसान भाव है। इन अध्यवसान भावोका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ-अशुभकर्मोके साथ बन्धको प्राप्त नही होते जैसा कि कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिंप्पति॥ २८०॥

सम्यग्दृष्टि जीव बन्धके इस वास्तविक कारणको समझाता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारणको नही समझ पाता इसलिये करोडो वर्षकी तपस्याके द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था प्राप्त नही कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्मका आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्म भोगणिमित्त णदु कम्मक्खयणिमित्त' धर्मको भोगके निमित्त करता है। कर्मक्षयके निमित्त नही।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इस अध्यवसान भावोको समझ और उन्हे दूर करनेका पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्तकी मान्यतासे बचनेके लिये ऐसा व्याख्यान करते है कि आत्मामें रागादिक अध्यवसान भाव स्वत होते है उसमे द्रव्य कर्मकी उदयावस्था निमित्त नही है। ऐसे जीवोको बन्धाधिकारकी निम्न गाथाओका मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिये—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं।
रगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहि॥ १७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥ २७९॥

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह स्वय लालाई आदि रगरूप परिणमन नही करता परन्तु लाले आदि द्रव्योसे ललाई आदि रङ्गरूप परिणमन करता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वय राग आदि विभाव भाव रूप परिणमन नही करता है किन्तु अन्य राग आदि दोषो—द्रव्य कर्मोदय जनिक विकारोसे रागादि विभाव भावरूप परिणमन करता है।

श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने भी निम्न कलशाके द्वारा उक्त भावका निरूपण किया है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्त ।
तस्मिन्निमित्तं परसग एव वस्तु स्वभावोदयमुदेति तावत् ।। १७५ ।।

जिस प्रकार अर्ककान्त—स्फटिकमणि स्वय ललाई आदिको प्राप्त नही होता उसी प्रकार आत्मा स्वय रागादिके निमित्त भावको प्राप्त नही होता। उसमे निमित्त परद्रव्यका सयोग ही है। वस्तुका स्वभाव ही यह है किसोका किया नही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अन्तरको समझता है वह स्वभावको तो अकारण मानता है पर विभावको सकारण ही मानता है। ज्ञानी जीव स्वभावमे स्वत्व बुद्धि रखता है और विभावम परत्व बुद्धि। इसीलिये वह बन्धसे बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्माकी सर्व कर्मसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व हानेवाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकारमे मोक्ष प्राप्तिके कारणोका विचार किया गया है। प्रारम्भमे ही कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकालसे बन्धनमे पडा हुआ काई पुरुष उस बन्धनके तीव्र मन्द या मध्यम स्वभावको जानता है तथा उसके कालको भी समझता है परन्तु यदि उस बन्धनका—बेडीका छेदन नही करता है तो वह उस बन्धनसे मुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्म बन्धके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्धको जानता है परन्तु उस बन्धको छेदनेका पुरुषार्थ नही करता तो वह उस कर्मबन्धसे मुक्त नही हो सकता।

इस सन्दर्भमे कुन्दकुन्द स्वामीने बडी उत्कृष्ट बात कही है। वह उत्कृष्ट बात है सम्यक्चारित्र। हे जीव ! तुझे श्रद्धान है कि मै कर्मबन्धनसे बद्ध हूँ और बद्ध होनेके कारणोको भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्म बन्धनसे मुक्त करनेवाला नही है, मुक्त करानेवाला तो यथार्थश्रद्धान और ज्ञानके साथ होनेवाला चारित्ररूप पुरुषार्थ ही है। जबतक तूँ इस पुरुषार्थको अगीकृत नही करेगा तबतक बन्धनसे मुक्त होना दुर्भर है। मात्र श्रद्धान और ज्ञानको लिये हुए तेरा सागरो पर्यन्तका दीर्घकाल योही निकल जाता है पर तूँ बन्धनसे मुक्त नही हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञानके साथ जहाँ चारित्ररूप पुरुषार्थको अंगीकृत करता है। वहाँ तेरा कार्य बननेमे बिलम्ब नही लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्तमे भी काम बन जाता है।

हे जीव ! तू मोक्ष किसका करना चाहता है ? आत्माका करना चाहता हूँ। पर इस सयोगीपर्यायके अन्दर तू ने आत्माको समझा या नही ? इस बातका तो विचार कर। कही इस सयोगीपर्यायको ही तो तूने

आत्मा नहीं समझ रखा है। मोक्षप्राप्तिका पुरुषार्थ प्रारम्भ करनेके पहले आत्मा और बन्धको समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं—

जीवो बधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो॥ २९५॥

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणोसे जाने जाते है। सो जानकर बन्ध तो छेदनेके योग्य है और आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन्! वह लक्षण तो बताओ, जिसके द्वारा मै आत्माको समझ सकूँ। उत्तरमे कुन्द-कुन्द महाराज कहते है—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव वित्तव्वो॥ २९६॥

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा—भेदज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञासे उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए वित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥ २९७॥

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव है वे मुझसे पर है।

इस प्रकार स्वपरके भेदविज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्षप्राप्तिका वास्तविक पुरुषार्थ है। चारित्रको परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारमे कहा है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

चारित्र ही वास्तवमे धर्म है, और सम परिणाम धर्म है तथा मोह—मिथ्यात्व और क्षोभ—रागद्वेषसे रहित आत्माकी जो परिणति है वही साम्यभाव है।

व्रत, समिति, गुप्ति आदि, इसी साम्यभावरूप चारित्रकी प्राप्तिमे साधक होनेसे चारित्र कहे जाते हैं।

यह अधिकार २८८से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

आत्माके अनन्त गुणोमे ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकारका विकार शेष न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारोमे उक्त-अनुक्त बातोका एकबार फिरसे विचारकर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें किया गया है।

आत्मा परद्रव्यके कर्तृत्वसे रहित है। इसके समर्थनमे कहा गया कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण और पर्यायरूप परिणमन करता है अन्य द्रव्यरूप नही, इसलिये वह परका कर्ता नही हो सकता। अपने ही गुण और पर्यायोंका कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मोंका कर्ता नही है। कर्मोंका कर्ता पुद्गलद्रव्य है, क्योंकि ज्ञानावरणादिरूप परिणमन पुद्गलद्रव्यमें ही हो रहा है। इसी तरह रागादिकका कर्ता आत्मा ही

है, परद्रव्य नही, क्योकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्तप्रधान दृष्टिको लेकर पिछले अधिकारमे पुद्गलजन्य होनेके कारण रागको पौद्गलिक कहा है। यहाँ उपादानप्रधान दृष्टिको लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादिरूप परिणमन आत्माका होता है, अत आत्माके हैं। अमृतचन्द्रस्वामीने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमे परद्रव्यको ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धि हैं तथा मोहरूपी नदीको नही तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय ॥ २२१ ॥

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिये इस कलशाका अवतरण दिया करते हैं। पर वे श्लोकमे पडे हुए 'एव' शब्दकी ओर दृष्टिपात नही करते। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि एव शब्दके द्वारा, यह प्रकट कर रहे है कि जो रागकी उत्पत्तिमे परद्रव्यको ही कारण मानते हैं स्वद्रव्यको कारण नही मानते, वे मोहनदीको नही तैर सकते। रागादिककी उत्पत्तिमे परद्रव्य निमित्तकारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण है। सो जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादानकारणको न मानकर परद्रव्यको ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्तकारणसे उनकी उत्पत्ति मानते है वे मोहनदीको नही तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नही होता, परन्तु कार्यको उत्पत्तिमे उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग कारणोसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जिनागमकी यह निर्विवाद मान्यता सनातन है।

आत्मा परका—कर्मका कर्त्ता नही है, यह सिद्धकर ज्ञानी जीवको कर्मचेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभावका ही भोक्ता है, कर्मफलका भोक्ता नही है, यह सिद्धकर उसे कर्मफलचेतनासे रहित सिद्ध किया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतनासे ही सहित है, उसीके प्रति उसकी स्वत्व बुद्धि रहती है।

इस अधिकारके अन्तमें एक बात और बडी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थके नाना लिङ्ग धारण करनेको प्रेरणा इसलिये करते है कि ये मोक्षके मार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्षका मार्ग नही है, मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि त चेव झाहि त चेय।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥

मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीका चिन्तन करो और उसीमे विहार करो, अन्य द्रव्योमें नही।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावक लिङ्गका निषेध करते हैं। इसलिये वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

परन्तु व्यवहारनय दोनो लिङ्गोको मोक्षमार्गमें कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्गमें सभी लिङ्गोंको इष्ट नही मानता।

इस तरह विवादके स्थलोको कुन्दकुन्दस्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते है। 'जिनागमका कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है' यह तो सर्व समन बात है। इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नय-विवक्षाको प्रकट करते चलें और श्रोता भी उस नयविवक्षासे व्याख्यात तत्त्वको उसी नयविवक्षासे ग्रहण करने-का प्रयास करें, तो विसवाद उत्पन्न होनेका अवसर नही आ सकता।

यह अधिकार ३०८से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है

स्याद्वादाधिकार

यह अधिकार श्री अमृतचन्द्रस्वामीने स्वरचित आत्मख्याति टीकाके अङ्गस्वरूप लिखा है। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत अध्यात्मग्रन्थ है। अध्यात्मग्रन्थोका वस्तुतत्त्व सीधा आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसलिये उसके कथनमे निश्चयनयका आलम्बन प्रधानरूपमे लिया जाता है, परपदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवहारनयका आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनो नयोके प्रधान और गौण भावपर दृष्टि नही रखते है उन्हे भ्रम हो सकता है। उनके भ्रमका निराकरण करनेके उद्देश्यसे ही अमृतचन्द्रस्वामीने इस अधिकारका अवतरण किया है।

इस अधिकारमे उन्होने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयोसे आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। अन्तमे कलश-काव्योके द्वारा इसी बातका समर्थन किया है। अमृतचन्द्रस्वामीने अनेकान्तको परमागमका जीव—प्राण और समस्त नयोके विरोधको नष्ट करनवाला माना है। जैसा कि उन्होने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके मङ्गलरूपमे कहा है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

आत्मख्याति टीकाके प्रारम्भमे भी उन्होने यही आकाक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥ २॥

अनन्तधर्मात्मक परमात्मतत्त्वके स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकारमे जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियोका निरूपण किया है जो नयविवक्षाके परिज्ञानसे ही सिद्ध होता है। इन शक्तियोका विवेचन ग्रन्थकी टीकामे किया गया है। इसी अधिकारमें उपायोपेयभावका भी विचार किया है। इसमे एक ज्ञानमात्र आत्मामे ही उपाय और उपेयभावका समर्थन किया है। वही आत्मा साधक है और वही आत्मा सिद्ध भी है। अन्तमे १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति-

नास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गोके द्वारा द्रव्यका निरूपण किया है।

संस्कृतटीकाकारोका परिचय

अमृतचन्द्रसूरि

समयसार या समयप्राभृतपर दो संस्कृत-टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक आत्मख्याति और दूसरी तात्पर्य-वृत्ति। आत्मख्यातिके रचयिता अमृतचन्द्रसूरि हैं। इन्होने कुन्दकुन्दस्वामीके हार्द (अभिप्राय) को खोलने-का पूर्ण प्रयास किया है। कुन्दकुन्दस्वामीके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसारपर इनकी टीकाएँ मिलती हैं जो तद्तद ग्रन्थोके साथ मुद्रित हो चुकी हैं। आपकी भाषा पाण्डित्यपूर्ण है। अध्यात्मग्रन्थोकी टीकामें यदि सरल भाषाका प्रयोग होता तो और भी लाभदायक होता। समयसारकी टीकाके साथ आपने गाथाओके अभिप्रायको स्पष्ट अथवा पल्लवित करनेके लिये श्लोक भी लिखे हैं जो कलशाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके संस्कृतटीकासहित तथा मात्र हिन्दी टीकासहित अलगसे भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये कलश-काव्य इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं कि कितने ही महानुभावोके नित्यपाठमे सम्मिलित हो गये हैं। इन्हीकी शैलीका अनुकरण कर पद्मप्रभमलधारीदेवने नियमसारकी संस्कृत-टीका लिखी है तथा टीकाके बाद कलश काव्य भी।

इन टीकाओके सिवाय अमृतचन्द्रस्वामीके द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय तथा तत्त्वार्थसार ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। इन आचार्यने अपना परिचय किसी ग्रन्थमे नही दिया है। यहाँतक कि समयसारके इस निरूपणका कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहो है' इनके ऊपर गहरा प्रभाव पडा है जिससे वे समय-सारके अन्तमे लिखते हैं—

> स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
> स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ २७८ ॥

अपनी शक्तिसे वस्तुस्वरूपको सूचित करनेवाले शब्दोके द्वारा यह समय—आगम अथवा समयसार व्याख्या की गई है। स्वरूपमे गुप्त रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरिका इसमे कुछ भी कर्तृत्व नही है।

इसी भावके श्लोक पञ्चास्तिकाय तथा पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमे उपलब्ध हैं।

यह आचार्य अनेकान्तके अनन्यभक्त थे। निश्चय और व्यवहारनयके पारस्परिक विरोधको शमन करने-के लिये पुरुषार्थसिद्धयुपायमे इन्होने लिखा है—

> व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
> प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

जो यथार्थरूपमे व्यवहार और निश्चयनयको जानकर मध्यस्थ होता है वही शिष्य देशनाके पूर्ण फल-को प्राप्त होता है।

ये विक्रम संवत् १०००के लगभग हुए हैं क्योकि जयसेनके धर्मरत्नाकरमे इनके द्वारा रचित पुरुषार्थ-सिद्धयुपायके ५९ पद्य उद्धृत हैं। जयसेनने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १०५५में बनाया है, ऐसा उसकी प्रशस्ति-के अन्तिम पद्यसे प्रकट है। इसतरह अमृतचन्द्रसूरि १०५५के पूर्ववर्ती ही हैं, उत्तरवर्ती नही।[1]

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ८ अंक ४–५

जयसेनाचार्य

तात्पर्यवृत्तिके कर्ता श्रीजयसेनाचार्य हैं। इनकी टीकाकी भाषा बहुत सरल और हृदयग्राही है।

वास्तवमे अध्यात्म-ग्रथोकी टीका ऐसी ही भाषामे होनी चाहिये। इन्होने कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकाय इन तीनो ग्रन्थोपर टीकाएँ लिखी हैं और उनमे निश्चय-व्यवहारनयका ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य बैठाया है कि पढते समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्तिकी गाथाओमें कही-कही हीनाधिकता पाई जाती है अर्थात् तात्पर्यवृत्तिमे ऐसी अनेक गाथाएँ है जिनकी टीका अमृतचन्द्रसूरिने नही की है। इससे इतना सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थोकी प्रतियोमे पाठभेद बहुत पहलेसे पाया जाता है। अमृतचन्द्रस्वामीने अपनी टीकाका आधार अन्य प्रतिको बनाया होगा और जयसेनने दूसरी प्रतिको। अमृतचन्द्रस्वामीने छानबीनकर द्विरुक्त अथवा अनावश्यक गाथाओको छोडा है परन्तु जयसेनने ऐसा नही किया।

जयसेन बारहवी शताब्दीके विद्वान् है। इनकी टीकाकी पद्धतिका अनुसरणकर परमात्मप्रकाश और बृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकाएँ तत्तत् कर्त्ताओके द्वारा लिखी गयी।

प० बनारसीदासजी

जैनसाहित्यमे हिन्दी भाषाका इतना बडा अन्य कवि नही हुआ। इनका जन्म एक धनी-मानी सम्भ्रान्त परिवारमे हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदासका साका चलता था, पितामह मूलदास हिन्दी और फारसीके पडित थे और यह नरवर (मालवा) मे वहाँके मुसलमान नवाबके मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुरके प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसेन कुछ दिनो तक बगालके सुलतान मोदी खाँके पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुरमे माघ सुदी ११ सवत् १६४३ मे हुआ था। यह श्रीमाल वैश्य थे। यह बडे ही प्रतिभाशाली सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त की थी, पर अद्भुत प्रतिभा होनेके कारण यह अच्छे कवि थे। इन्होने १४ वर्षकी अवस्थामें एक हजार दोहा-चौपाईयोका नवरस नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसे आगे चलकर, इस भयसे कि ससार पथ-भ्रष्ट न हो, गोमतीमे प्रवाहित कर दिया था।

इनके पिता मूलत आगरा-निवासी ही थे तथा इन्हे भी बहुत दिनो तक आगरा रहना पडा था। उस समय आगरा जैन विद्वानोका केन्द्र था। इनके सहयोगियोमे प० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदासजी, धर्मदासजी, कुँवरपालजी और जगजीवनरामजी विशेष उल्लेख योग्य है। ये सभी कवि थे। महाकवि बनारसीदासका सन्तकवि सुन्दरदाससे सम्पर्क था। बताया गया है—"प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासके साथ सुन्दरदासकी मैत्री थी। सुन्दरदास जब आगरे गये थे तब बनारसीदासके साथ सम्पर्क हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासकी योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारोसे मुग्ध हो गये थे। तभी इतनी श्लाघायुक्त कठसे उन्होने प्रशसा की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदासजी भी थे। उनके गुणोसे सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये, इसीसे वैसी अच्छी प्रशसा उन्होने भी की थी।"

महाकवि बनारसीदासका सम्पर्क महाकवि तुलसीदासके साथ भी था। एक किंवदन्तीमे कहा गया है कि कवि तुलसीदासने अपनी रामायण बनारसीदासको देखनेके लिये दी थी। जब मथुरासे लौटकर तुलसीदास आगरा आये तो बनारसीदासने रामायणपर अपनी सम्मति "विराजै रामायण घटमाहीं मर्मी होय मर्म सो

जानै मूरख समझै नाही।" इत्यादि पद्यमे लिखकर दी थी। कहते है इस सम्मतिसे प्रसन्न होकर ही तुलसी-दासने कुछ पद्य भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुतिमे लिखे है। ये पद्य शिवनन्दन द्वारा लिखित गोस्वामीजीकी जीवनीमें प्रकाशित हैं। इनकी निम्न रचनाएँ है—

१ नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहोका छोटा-सा शब्दकोष है। इसकी स० १६७० मे जौनपुरमे रचना की थी।

२ नाटकसमयसार—यह कविवरकी सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना स० १६९३ मे आगरामे की गयी थी।

३ बनारसीविलास—इसमे ५७ फुटकर रचनाएँ सग्रहीत हैं। इसका सकलन स० १७०१ में प० जगजीवनने किया था।

४ अर्द्धकथानक—इसमे कविने अपनी आत्मकथा लिखी है। इसमे सवत् १६९८ तकको सभी घट-नाएँ दी गयी है।[१]

आद्य हिन्दी टीकाकार श्रीजयचन्द्र

आत्मख्यातिके आधारपर समयसारको सर्वप्रथम हिन्दी टीका प० जयचन्द्रजोने को है। इस टीकाका निर्माण इन्होंने कार्तिक वदी १० विक्रम सम्वत् १८६४ को किया है।

श्री प० जयचन्द्रजी छावडा खण्डेलवाल जैन थे। जयपुर से ३० मीलकी दूरीपर स्थित फागई (फागी) ग्राममे रहने वाले श्रीमोतीरामजाके पुत्र थे। बाल्यावस्थासे ही इनकी जैनतत्त्वचर्चामे रुचि थी। कुछ समय बाद आप फागईमे जयपुर आ गये। यहाँ आनेपर इन्होने विद्वानोकी अच्छो शैली देखो। उन विद्वानोंके सपर्कमे आपकी स्वाध्याय सम्बन्धी अभिरुचि बढती गई। इनका जन्म वि० स० १७९५ को हुआ था और समाधि-मरण १८८१-८२ के लगभग माना जाता है। आपकी रचनाओमे उनका काल दिया हुआ है जिससे जान पडता है कि आपने १८५९ से रचना करना शुरू किया है और यह रचनाकार्य १८७४ वि० स० तक चलता रहा है। आप सस्कृतभाषाके अच्छे जानकार थे। न केवल धर्म विषयके आप ज्ञाता थे, किन्तु न्याय विषयमे भी अच्छे निष्णात थे। ये स्वतन्त्र कविताएँ भी लिखते थे। समयसारके प्रत्येक अधिकारमे जो आपने सवैया आदि पद्य दिये हैं वे बहुत ही भावपूर्ण है। आपकी साहित्यिक रचनाएँ निम्न प्रकार है—

(१) तत्त्वार्थसूत्रवचनिका	वि० स० १८५९
(२) सर्वार्थसिद्धिवचनिका*	चैत्रशुक्ला ५ स० १८६१
(३) प्रमेयरत्नमालावचनिका*	आषाढ शु० ४ स० १८६३
(४) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षावचनिका*	श्रावण कृ० ३ स० १८६३
(५) द्रव्यसग्रहवचनिका*	श्रावण कृष्णा १४ स० १८६३
(६) समयसारवचनिका*	कार्तिक कृ० १० स० १९६४
(७) देवागम (आप्तमीमासा) वचनिका*	चैत्र कृ० १४ वि० स० १८६६

१ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन भाग १, पृ० २४४ से साभार उद्धृत।

(८) अष्टपाहुडवचनिका*	भाद्र० शु० १२ स० १८६७
(९) ज्ञानार्णववचनिका*	माघ कृष्ण ५ स० १८६९
(१०) भक्तामरस्तोत्रवचनिका	कार्तिक कृ० १२ स० १८७०
(११) पद्योको पुस्तक (मौलिक) (२४६ पद्योका सग्रह)	आषाढ शु० १० स० १८७४

(१२) सामायिकपाठवचनिका
(१३) पत्रपरीक्षावचनिका
(१४) चन्द्रप्रभचरित्र-द्वितीयसर्ग-वचनिका
(१५) मतसमुच्चयवचनिका
(१६) धन्यकुमारचरित-वचनिका

इन रचनाओमे ताग्काङ्कित ग्रन्थोकी प्रतिया स्वय पण्डितजीके हाथकी लिखी हुई दि० जैन बडा मन्दिर जयपुरमे विराजमान है ।[1]

प्रस्तुत टीकाके कर्त्ता श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रमादजी वर्णी

इस सस्करणमे सर्व प्रथम प्रकाशित टीकाके कर्ता जैनसमाजके अतिशय प्रसिद्ध एव जन-जनके श्रद्धा-भाजन पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज है । आपका जन्म असाटी वैश्य नामक वैष्णव कुलमे झाँसी जिलाके अन्तर्गत हँसेरा ग्राममे कुवार वदी ४ वि० स० १९३१ को हुआ था । पिताका नाम हीरालालजी और माताका नाम उजियारी था । हसेरामे आकर आपके पिताजी मडावरामे रहने लगे थे । जैनमन्दिरके समीप उनका घर था । मन्दिरमे होनेवाली पद्मपुराणकी वचनिका सुनकर बालक गणेशप्रसादकी जैनधर्मकी ओर रुचि जागृत हुई और वह उत्तरोत्तर इतनी वृद्धिगत होती गई कि उसने इन्हे दिगम्बर मुद्रामे दीक्षित कराया ।

आपने धर्ममाता श्री चिरोजाबाईजीके सपर्कमे आकर बहुत कुछ पाया । वाराणसी, खुर्जा, नदिया, मथुरा, आदि स्थानोमे रहकर सस्कृतभाषा और नव्यन्यायका उच्च अध्ययन किया । गवर्नमेन्ट क्वीन्स कालेज बनारससे न्यायाचार्य परीक्षा पास की । बनारसका स्याद्वाद महाविद्यालय और सागरका गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित कर आपने जैन समाजमे सस्कृत तथा धार्मिक विद्याका भारी प्रचार किया ।

आप पहले वर्णी, फिर क्षुल्लक और अन्तिम समयमे दिगम्बर मुनि पदके धारक हुए । आपने अगणित मानवोका कल्याण किया । 'मेरी जीवनगाथा' प्रथम और द्वितीय भाग स्वलेखनीसे लिखकर समाजके लिये आपने अपने जीवनकी उदात्त घटनाओमे परिचित कराया है । समयसार आपका प्रिय विषय था । वर्षों आपने इसका मनन किया था और उसके बाद यह टीका आपने लिखी थी । आपके हाथकी स्वयकी लिखी प्रति श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीमे सुरक्षित है । पत्रलेखनकलामे आपकी प्रतिभा अद्भुत थी । आपने अपने भक्त-जनोको सैकडो पत्र लिखे है जिनमे तत्त्वका अच्छा उपदेश भरा हुआ है । उन पत्रोके कई सग्रह प्रकाशित हो

१ श्री प० जयचन्दजी छावडाका परिचय तथा उनके साहित्यिक कार्योकी सूची द्रव्यसग्रहकी डा० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा लिखित भूमिकासे साभार ली गयी है ।

चुके हैं। आप प्रवचनकलाके पारगत विद्वान् थे। कठिन-से-कठिन विषयको इतनी सरलतासे समझाते थे कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-से रह जाते थे।

विक्रम संवत् २०१८ भाद्रपद कृष्णा ११ को ईसिरीमें मुनि अवस्थामें आपका समाधिमरण हुआ। खेद है कि उनकी यह रचना उनके जीवनकालमें प्रकाशित नहीं हो सकी। आपका मुनि अवस्थाका नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज था।

सागर
श्रावण शुक्ला १०,
२०२६ विक्रमाब्द,

विनीत
पन्नालाल जैन

विषयसूची

निर्जराधिकार

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

स्याद्वादाधिकार

●

आध्यात्मिक सत, प्रशममूर्ति श्री गणशप्रसाद वर्णी

सिद्धपरमात्मने नम ।

कलिकालप्राणिकल्याणकारकश्रीकुन्दकुन्दाय नमः ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

समयसार

प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्त श्रीगणेशवर्णीकृत

समयसार-प्रवचनसहित

चिदानन्दमय ज्योति सर्वतत्त्वावभासकम् ।
विभ्राजता मम स्वान्ते रागद्वेषविवर्जितम् ॥ १ ॥
समयप्राभृत भव्य भव्यचेतोऽभिरञ्जकम् ।
कुन्दकुन्दकृत भक्त्या विवृणोमि समासत ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दमुखोद्भूत वचोऽनेकान्तभूषितम् ।
भूयाद् भव्यमनोमोहतिमिरौघविनाशनम् ॥ ३ ॥
आचार्यामृतचन्द्रोऽसौ जयसेनश्च सन्मुनि ।
व्याख्याकारौ मम स्याता मार्गदर्शनदीपकौ ॥ ४ ॥
भूयासो भविन सन्ति सस्कृतज्ञानवर्जिता ।
तेषा कृते प्रयासोऽय लोकभाषामयो मम ॥ ५ ॥

१ जीवाजीवाधिकार

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य मङ्गलाचरणपूर्वक ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली-भणिय ॥ १ ॥

अर्थ—अहो भव्यजीवो ! मैं कुन्दकुन्दाचार्य ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको प्राप्त सर्वसिद्ध परमात्माओंकी वन्दना कर इस समयप्राभृतको कहूँगा जो श्रुतकेवलीके द्वारा कहा गया है ।

विशेषार्थ—संसारमे दो प्रकारके पदार्थ हैं—एक चेतन और दूसरे अचेतन । उनमें चेतन पदार्थको जीव कहते हैं और जो अचेतन है उसे अजीव कहते हैं । अजीवके ५ भेद आगममें कहे हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल । जीवसहित इन्हीं पाँचको

षट्द्रव्य कहते है। इन छह द्रव्योंमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सर्वथा शुद्ध है—इनमे कोई प्रकारका विभाव परिणमन नहीं होता, सर्वदा इन द्रव्योंका एक सदृश परिणमन रहता है। शेष जो जीव और पुद्गल द्रव्य है वे स्वभावरूप भी परिणमते है और विभावरूप भी। जब वे जीव और पुद्गल केवल अपनी अवस्थामे (अलग-अलग) रहते हैं तब उनका परिणाम शुद्ध ही रहता है और जबतक जीव तथा पुद्गलकी परस्पर अनादिकालसे आगत बन्धावस्था रहती है तबतक अशुद्ध परिणमन रहता है। हॉ, इतनी विलक्षणता है कि पुद्गल द्रव्यकी अशुद्धावस्था जीवके साथसे भी होती है और पुद्गलके सम्बन्धसे भी। किन्तु जीवकी अशुद्धावस्था केवल पुद्गलके सम्बन्धसे ही होती है। अतः इस संसारमे अनादिकालसे यह जीव कर्मरूप पुद्गलके सम्बन्धसे निरन्तर अशुद्धावस्थाका पात्र हो रहा है और जबतक अशुद्धावस्था रहेगी तबतक ससारका पात्र रहेगा। ससारी होनेसे ससारमे जो सुख-दुःख होता है उसका वह भोक्ता भी होता है[1]। जब इस जीवका ससार अल्प रहता है तब इस जीवको यह विचार होता है कि मेरा निज शुद्ध स्वभाव तो परको केवल देखना और जानना है, मै जो उनको अपना इष्ट-अनिष्ट मानता हूँ यह मेरी अज्ञानता है। जैसे दर्पणमें पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पण कुछ पदार्थ नहीं हो जाता, केवल घटपटादि पदार्थोंके सम्बन्धसे दर्पणका घटपटादि प्रतिबिम्बरूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन दर्पणकी ही स्वच्छताका विकार है। विकारका अर्थ परिणमन ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य ज्ञानादिगुणोंका पिण्ड है। उसके ज्ञानगुणमे यह विशेषता है कि उसके समक्ष जो भी पदार्थ आता है उसके ज्ञातृत्वरूप परिणमनका वह कर्ता होता है, वह ज्ञान अन्य ज्ञेयरूप नही हो जाता। परन्तु अनादिकालीन आत्माके साथ ज्ञानशक्तिके सदृश एक विभाव नामकी शक्ति है जिसके कारण आत्मामे मोहनीयकर्मके निमित्तसे अनर्थका मूल मोह उत्पन्न होता है। उसी मोहके उदयमे आत्मा विभ्रान्त दशाका पात्र होता है और उस विभ्रान्तदशामे परमे निजत्व कल्पना कर रागी द्वेषी होता है और उनके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ करता है वह किसीसे छिपा नहीं है। इसी चक्रका नाम ससार है। इस ससारसे मुक्त होनेके अर्थ सकलपरमात्माने एक ही मार्ग निर्दिष्ट किया है। वह है निज स्वभावका आलम्बन। उसका आलम्बन होते ही जीव बन्धनसे छूट जाता है। अतः जिन जीवोंको आत्मकल्याणकी अभिलाषा है वे उन जीवोकी, जो कर्मबन्धसे छूट गये हैं, उपासना कर स्व-स्वरूपकी प्राप्तिकी दिशामे बढे। इसी अभिप्रायको लेकर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने प्रथम ही समयप्राभृतमे सिद्धभगवान्को नमस्कार किया है। 'ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको जिन्होंने प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार कर मै श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत कहूँगा' ऐसा कहनेसे आचार्य महाराजका यह आशय विदित होता है कि इसके द्वारा हमारा और परका दोनोंका कल्याण होगा। समयप्राभृतके निरूपण करनेमे उपयोग निरन्तर आत्मस्वरूपके परामर्शमें तल्लीन रहेगा, इससे निरन्तर मन्दकषाय रहेगी तथा वस्तुस्वरूपके विचारसे जो स्वरूपमें स्थिरता

१ व्यवहारनयसे जीव कर्मफल सुख-दुःखका भोक्ता होता है, निश्चयसे अपने ज्ञानदर्शनका भोक्ता है

—द्रव्यसंग्रह गाथा

होगी वह ध्यानकी साधक होगी, अतः कर्मोंकी निर्जरा भी अवश्यंभाविनी है जो सिद्धपदकी प्राप्तिमें परम्पराकारण होगी, यह तो स्वयंको लाभ है ही, किन्तु जो भव्यजीव इसका पठन-पाठन करनेमे समय लगावेंगे उनके सर्वप्रथम तो समयके सदुपयोगका अवसर आवेगा, द्वितीय, सांसारिक पदार्थोंके सहवाससे जो निरन्तर कलुषित परिणाम रहते है उनसे रक्षा होगी और तृतीय, अनन्तकालसे अप्राप्त जो आत्मज्ञान उसके पात्र होगे। उसके पात्र होते ही निरन्तर परिणामोकी निर्मलतासे उस तत्त्वका विकास वृद्धिरूप हो जावेगा जो परम्परासे परमात्माके समकक्ष पहुँचा देगा। ऐसा इस समयप्राभृतके कहनेका उद्देश्य श्री कुन्दकुन्द महाराजका है।

मूल गाथामें स्वामीने सिद्धगतिको तीन विशेषणोंसे विशेषित किया है अर्थात् सिद्ध-गति ध्रुव, अचल और अनुपम है, यह प्रतिपादित किया है। संसारी आत्माएँ निरन्तर कलुषित और चञ्चल रहती है क्योंकि उनके मोह और योगका सद्भाव है। गुणस्थानोंके होनेमें मोह और योग ही कारण हैं। मोहकी मुख्यतासे बारह गुणस्थान हैं और योगकी मुख्यतासे त्रयोदशवाँ तथा चतुर्दशवाँ गुणस्थान हैं। मोहसे आत्मामे मिथ्यात्व एवं रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिससे आत्मा निरन्तर कलुषित रहता है और उसी कलुषतासे नाना प्रकारके विभावोंका पात्र होता है। इन तीनोंमें मोह आत्माको अनन्त संसारका पात्र बनाता है, अतः मोहका नाम मिथ्यात्व है, इसीके प्रतापसे आत्मा परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान रागादिकोंमें निजत्वका संकल्प करता है। वास्तवमे मिथ्यादर्शन अनिर्वचनीय है क्योंकि ज्ञानगुणको छोड़कर जितने भी आत्माके गुण है सर्व ही निर्विकल्प हैं, मात्र ज्ञानगुण ही एक ऐसा गुण है जो सबकी व्यवस्था बनाये हुए हैं। अतः मिथ्यादर्शनके होनेपर आत्मामे परपदार्थोंके प्रति जो निजत्वकी बुद्धि होती है उसीका नाम मिथ्याज्ञान है। 'तदभाववति तज्ज्ञान मिथ्याज्ञानम्' अर्थात् परपदार्थमें निजत्वका अभाव है उसमें निजत्वरूपसे स्वकीय बोध होना इसीका नाम मिथ्याज्ञान है। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसी मिथ्यादर्शनके सहवाससे आत्माकी परपदार्थोंमे निजपनेकी परिणति होती है, और इसीके सहवाससे आत्माका जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र हो जाता है। अतः श्री स्वामी समन्त-भद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें यह लिखा है—

> सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
> यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥

अर्थात् धर्मके ईश्वर गणधरादिक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहते है। यह रत्नत्रयरूप धर्म मोक्षका मार्ग है और इससे विपरीत मिथ्यादर्शनादित्रय संसारका मार्ग है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द महाराजने प्रवचनसारमे कहा है—

> चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
> मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥

स्वरूपमें जो आचरण है उसीका नाम चारित्र है, उसीका अर्थ स्वसमय प्रवृत्ति है, उसीको वस्तुस्वभावपनेसे धर्म कहते हैं, उसीका शुद्ध चैतन्य प्रकाशसे व्यवहार होता है और वही यथावस्थित आत्मगुणात्मक होनेसे साम्य शब्दसे कहा जाता है और दर्शनमोह तथा चारित्रमोहके उदयके निमित्तसे जो आत्मामे मोह और क्षोभ होता है उसी मोहक्षोभके अभावको साम्य शब्दसे कहते है। यह गुण सिद्धगतिमे पूर्णरूपसे सदाके लिए विद्यमान रहता है, इसीसे सिद्धगतिको ध्रुव कहते है और योगोके द्वारा जो आत्मप्रदेशोकी चञ्चलता होती है उसका अभाव होनेसे वह अचल गति है। ससारमे चारगतियाँ कर्मके सम्बन्धसे होती हैं और सिद्धगति कर्मोंके अभावसे होती है अतएव निरुपम है। ऐसी सिद्धगतिको प्राप्त सिद्धभगवान्का भाववचनोंके द्वारा अपने आत्मामे ध्यान कर और द्रव्यवचनो द्वारा परात्मामे ध्यान कराके श्रीकुन्दकुन्दस्वामी अपने और पराये मोहके नाशके अर्थ द्वादशाङ्ग-का अवयवभूत जो समयसारप्राभृत है उसका परिभाषण करते है। यह समयप्राभृत प्रमाणभूत है क्योंकि यह अनादिनिधन श्रुतके द्वारा कहा गया है। इसके मूलकर्ता सर्वज्ञ हैं तथा उनकी दिव्यध्वनिका निमित्त पाकर श्रीगणधरदेव भी इसके प्रकटकर्ता हैं। वास्तवमें समय नामक पदार्थ अनादिनिधन है ये तो सूर्यकी तरह उसके प्रकाशक हैं, परमत-कल्पित ईश्वरकी तरह कर्ता नहीं है ॥ १ ॥

श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने समयसारके ऊपर आत्मख्याति नामक टीका लिखी है जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके भावको हृदयङ्गम करानेमे अत्यन्त सहायक है। मैने इस विवरणमे उसी आत्मख्यातिका अधिकांश आश्रय लिया है आत्मख्यातिटीकामे अमृतचन्द्र स्वामीने अनेक श्लोक लिखे है जो कलशके नामसे प्रसिद्ध है तथा तत्त्वके निरूपण करने और अभिप्रायके निर्मल बनानेमें परम सहायक है इस विवरणमे उन कलशोका भी विवरण है। ग्रन्थकी टीकाके प्रारम्भमें वे लिखते है—

नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

अर्थ—मैं समयसार अर्थात् समस्त पदार्थोमे श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्वको नमस्कार करता हूँ जो स्वानुभूतिसे स्वय प्रकाशमान है, चैतन्य स्वभाववाला है, शुद्ध सत्तारूप है और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है अथवा चैतन्य स्वभावसे भिन्न समस्त रागादिक विकारीभावोंको नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—षड्द्रव्यात्मक ससारमें स्वपरावभासक होनेसे आत्मद्रव्य ही सारभूत है, वह आत्मद्रव्य स्वानुभूतिसे प्रकाशमान है, चैतन्य स्वभावको लिये हुए है, अनाद्यनन्त काल तक स्थित रहनेसे सद्भावरूप है, तथा अपनी ज्ञायक शक्तिसे लोकालोकके समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है अथवा चैतन्य स्वभावके अतिरिक्त आत्माके जितने अन्य विकारीभाव हैं उन्हें पृथक् करनेवाला है। ग्रन्थके प्रारम्भमे उसी शुद्ध आत्मतत्त्वको नमस्कार किया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो अनन्त धर्मोंसे युक्त शुद्ध आत्माके स्वरूपका अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

भावार्थ—आत्मा अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्परविरोधी अनन्त धर्मोंसे तन्मय है अतः उसके यथार्थ स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तदृष्टि ही है। परस्पर विरोधी अनेक अन्त—अनेक धर्मोंका समन्वय करनेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि कहलाती है। इसी अनेकान्तदृष्टिमे रूपकालंकारसे मूर्तिका आरोप करते हुए आचार्यने कहा है कि वह अनेकान्त-दृष्टिरूपी मूर्ति निरन्तर प्रकाशमान रहे क्योंकि उसके प्रकाशमें ही आत्मतत्त्वका निर्दोष वर्णन हो सकता है।

आगे समयसारकी व्याख्याका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

मालिनीछन्द

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धि शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिकी परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी वह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्तिसे युक्त है अर्थात् परम ज्ञायकभावसे सहित है तथापि वर्तमानमे परपरिणतिका कारण जो मोह नामका कर्म है उसके उदयरूप विपाकसे निरन्तर रागादिककी व्याप्तिसे कल्मापित—मलिन हो रही है।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव तो पदार्थको जानना मात्र है परन्तु अनादिकालसे एक मोहकर्म इसके साथ लगा हुआ है जो इसकी परपदार्थोंमे रागद्वेषादिरूप परिणतिके करानेमें निमित्त कारण है उसी मोहकर्मके उदयसे मेरी वह अनुभूति—ज्ञातृत्वशक्ति, अनुभाव्य—रागादिक परिणामोकी व्याप्तिसे मलिन हो रही है अर्थात् पदार्थोंको जानकर उनमे इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके अशुद्ध हो रही है सो समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिमे परम विशुद्धता आ जावे—उसमेसे इष्ट-अनिष्टका भाव निकल जावे, यही मैं चाहता हूँ। समयसारकी व्याख्या करनेका मेरा यही प्रयोजन है।

आगे वह समय क्या है? यह कहते हैं—

जीवो चरित्त-दसण-णाण-ट्ठिउ त हि ससमयं जाण।
पुग्गल-कम्मपदेस-ट्ठियं च तं जाण परसमय ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रमे स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें स्थित है उसे परसमय जानो।

विशेषार्थ—जीवका स्वभाव देखने जाननेका है क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं,

वे ही पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासमान होते हैं अतः आत्माका ज्ञान भी सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान एक ऐसा गुण है जो प्रदीपकी तरह स्वपरप्रकाशक है अर्थात् परको जानता है और अपनेको जानता है। सर्वज्ञका ज्ञान अक्रमवर्ती है अर्थात् स्व-परपदार्थोंमे युगपद् प्रवर्तमान होता है परन्तु छद्मस्थोंका ज्ञान क्रमवर्ती है अर्थात् स्व-पर पदार्थोंको क्रमसे जानता है। जिस समय परको जानता है उस समय उसका उपयोग परकी ओर रहता है। ऐसा व्यवहार भी होता है कि मै घटको जानता हूँ और जब स्वोन्मुख होता है तब स्वको जानता है अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है कि 'घटमहमनुजानामि' अर्थात् घटविषयक जो ज्ञान उसका मै ज्ञाता हूँ, वस्तुतः ज्ञानमें न तो घट आता है और न घटमें ज्ञान जाता है किन्तु अनादिकालसे आत्माके साथ पुद्गलकर्मोंका एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध हो रहा है कि उनके उदयकालमे परको निज मानता है और इसी माननेके कारण ज्ञानदर्शनस्वरूप, सर्वपदार्थप्रकाशक स्वकीयात्मद्रव्यसे च्युत हो परद्रव्यके निमित्तसे जायमान रागद्वेषमोहके साथ अभेद मानकर पुद्गलादि परद्रव्योंमें आपा मान अनन्त ससारका भाजन बनता है यही परसमय है और जब इस जीवका संसारतट समीप आनेका अवसर आता है तब आप ही आप सकल पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानके उत्पादक भेदज्ञानका उदय होनेसे ज्ञानदर्शनात्मक आत्मतत्त्वके साथ एकपनेकी बुद्धि कर जो अपने ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मामे स्थिति करता है तथा उसके होते ही अनन्त सुखका पात्र होता है इसीका नाम स्वसमय है।

यह परसमय और स्वसमय अवस्था आत्माकी दो पर्याय है। एक पर्याय पुद्गलोंके सम्बन्धसे है और दूसरी पुद्गलोंके अभावसे। जबतक शरीर सम्बन्ध है तबतक इसे ससारी कहते है और शरीर सम्बन्धका अभाव होनेपर सिद्ध कहते है। सामान्यरूपसे न सिद्ध है और न ससारी है। आत्माकी जो दो अवस्थाएँ स्वामीने कही है वे पर्यायदृष्टिसे है। तब फिर द्रव्यदृष्टिसे आत्मा कैसा है, यह प्रश्न उठता है? उसका उत्तर है कि नित्य है। यहाँ नित्यका अर्थ कूटस्थरूप नहीं है किन्तु परिणमनशील है। अतएव परिणामात्मक होनेसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिविधरूप सत्तासे अनुस्यूत है। यह सत्ता यद्यपि जीव और अजीव दोनोंमे साधारणरूपसे अनुस्यूत है। तथापि विशिष्टरूपसे जीवकी सत्ता चैतन्य स्वरूप है। इस सत्तासे ही जीवमे ज्ञान और दर्शनका उद्योत होता है। यही एक ऐसी सत्ता या शक्ति है जो आत्माको इतरपदार्थोंसे भिन्न सिद्ध करती है। आत्मामे अनन्तगुण हैं, उन गुणोंका पिण्ड होनेके कारण आत्मा एकद्रव्यरूप है। आत्मामे जो गुण है व युगपत् अक्रमसे रहते है और सदैव परिणमनशील है। इसीलिये क्रमसे रहनेवाली पर्याय और अक्रमसे रहनेवाले गुण इन दोनोसे द्रव्य तन्मय हो रहा है। आत्मा दर्पणवत् है, उसकी स्वच्छतामे सर्व पदार्थ प्रतिभासित होते हैं अतएव वैश्वरूप्य होनेपर भी अपने एकत्वको नहीं त्यागता। अर्थात् नानात्मक होनेपर भी एकात्मक है। आत्मा, आकाशादिक जो द्रव्य है उनसे भिन्न है क्योकि चेतन गुणवाला है। आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गलमे क्रमशः अवगाहन, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तना तथा रूपादि गुण है। ये ही गुण इन पदार्थोंको परस्परमे भिन्न करानेमें कारण रूप है।

संसारमे यावत् पदार्थ हैं वे परिणमनशील हैं। यही पञ्चाध्यायीमें कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभङ्गमयं तत्सदेतदिह नियमात् ॥

जिस तरह ससारमे वस्तु स्वतः सिद्ध है उसी तरह वह स्वभावसे परिणमनशील भी है इसलिए जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है वही सत् है, और जो सत् है वही नियमसे द्रव्य है।

यदि वस्तु परिणमनशील न मानी जावे तो उसमे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यकी स्थिति नहीं बन सकती। इसके सिवाय असत्का उत्पाद और सत्का विनाश होने लगेगा। इससे मानना चाहिये कि वस्तु परिणमनशील है तब ही वस्तुमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामोंका सद्भाव बन सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होती है और किसी परिणामसे नष्ट होती है तथा किसी परिणामसे ध्रौव्यरूप रहती है। इसीलिए पञ्चाध्यायीकारने लिखा है—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वयं हि वस्तुतया ॥

(इसका अर्थ ऊपर आ चुका है)

यही श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममे लिखा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥

अर्थात् सामान्यरूपसे न तो कोई द्रव्य उत्पन्न होता है और न कोई द्रव्य नष्ट होता है क्योकि व्यक्तरूपसे अन्वयकी प्रतीति होती है। जैसे एक बालक अपनी बालक अवस्थासे युवावस्थाको प्राप्त हो गया और युवावस्थासे वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गया। एतावता मनुष्यसामान्यमे कौन-सा विकार हुआ ? मनुष्य तो वह हर दशामें बना रहा। इसी प्रकार द्रव्यमे सामान्यरूपका अन्वय रहते हुए अवस्थाओंका उत्पाद और व्यय होता रहता है। ऐसी सम्पूर्ण पदार्थोंकी व्यवस्था है। यही दृष्टान्तद्वारा पञ्चाध्यायीकार दिखाते हैं—

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥

अर्थात् इस लोकमे यह प्रत्येकका अनुभव है कि घटरूपके द्वारा वस्तुका उत्पाद होता है और पिण्डरूपके द्वारा व्यय होता है। यह दोनों युगपत् ही होते हैं, मृत्तिकापनेसे न तो उत्पाद होता है और न व्यय होता है किन्तु सर्वथा स्थिरता रहती है इस तरह वस्तुमात्र एक ही कालमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

यहाँ पर किसी वादीका कहना है कि यह सब तुम्हारा बुद्धिका अजीर्ण है, उत्पादादि-

त्रयके माननेमें न तो कोई गुण है और न कोई हानि है। इसपर आचार्यका कहना है कि उत्पादादित्रय न माननेसे हानि है अर्थात् न माननेसे वस्तुका ही अपलाप हो जावेगा, अतः इन तीनोंके माननेमें ही वस्तुका अस्तित्व बन सकता है। इसके सिवाय इसके माननेमे गुण ही है वही दिखाते है—वस्तु परिणाम और परिणामी स्वरूप ही है। अब इन दोनोंमे किसे न माना जावे ? यदि परिणामको नहीं मानोगे तो परिणामके अभावमे वस्तु कूटस्थरूप रहेगी तब न तो यह ही लोक बनेगा और न परलोक बनेगा। जैसे जीवद्रव्यको लीजिये—यदि उसमे पुण्य और पापरूप परिणाम न मानोगे तो इस लोकका अभाव होगा और कारणके न होनेसे परलोक भी नहीं बनेगा तथा मोक्षका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप आत्माका परिणमन न होनेसे मोक्षकी व्यवस्था नही बनेगी, इस तरह बन्ध और बन्धाभावके बिना न तो ससार ही बनेगा और न मोक्ष तत्त्वका ही अस्तित्व रहेगा, अतः वस्तुको परिणमनशील मानना ही सुन्दर है।

अब दूसरा पक्ष रहा अर्थात् परिणामीको नहीं मानोगे तो परिणमन किसमे होगा ? परिणामीके न माननेसे वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरेगी और ऐसा होनेसे जो प्रत्यभिज्ञान होता है उसका अपलाप हो जावेगा। अतएव श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममें लिखा है—

नित्य तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिक कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत ॥

वस्तु कथचित् नित्य है क्योकि "यह वही है" ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है और यह जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह अकस्मात् (बिना कारणके) नही होता है, इसमें अन्वयीरूपका वस्तुमे निरन्तर सद्भाव रहता है और वही वस्तु कालके भेदसे क्षणिक भी है अन्यथा वस्तुमे जो बुद्धिसंचार होता है वह नही होगा अर्थात् जैसे आत्मामे ससारी और मुक्तका जो भेद होता है वह नही होगा, अतः यह मानना अत्यावश्यक है कि जो आत्मा प्रागवस्थामे कर्मोंके सम्बन्धसे ससारी था वही आत्मा कर्मोंके अभावसे मुक्त हो जाता है। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा वही है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा आत्मा ससारी भी है और मुक्त भी है। इसीसे श्री कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे स्थित है वही आत्मा स्वसमय शब्दसे कहा जाता है और जो राग-द्वेष-मोहके साथ एकपनका निश्चयकर पुद्गलकर्मप्रदेशोंमे स्थित है वही परसमय है। सामान्यरूपसे आत्मा निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, न ससारी है और न मुक्त है। इसका यह तात्पर्य है कि द्रव्यदृष्टि वस्तुका अभेदरूप वर्णन करती है और पर्यायदृष्टि भेदरूप। अतः दोनोका विषय सत्य है, यदि पर्याय दृष्टिका विषय भेद सर्वथा ही मिथ्या होता तो 'अनयोः मैत्री प्रमाणम्' यह लिखना मिथ्या हो जाता परन्तु ऐसा नहीं है क्योकि सामान्यविशेषात्मक जो वस्तु है वह ही प्रमाणका विषय है ॥ २ ॥

अब यहाँ पर कुन्दकुन्द महाराजका कहना है कि आत्मामे जो द्विविधपना है वह सुन्दर नहीं। यहाँ पर द्विविधपनसे तात्पर्य स्वसमय और परसमयसे है अर्थात् आत्मामे जो परप्रत्ययसे उत्पन्न रागादिक हैं उनके साथ एकत्व बुद्धि कर आत्मा पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें स्थित रहता है—आत्मासे भिन्न जो शरीरादिक है उन्हें अपने मानकर उनके अनुकूल जो

बाह्य पदार्थ हैं उनमे राग और जो उनके प्रतिकूल हैं उनमें द्वेष कल्पना कर अनन्तसंसारका पात्र बनता है—यह सकरता सुन्दर नहीं है—

एयत्त-णिच्छय-गओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंध-कहा एयत्ते तेण विसवादिणी होई ॥ ३ ॥

अर्थ—जो समय-पदार्थ एकत्वमें निश्चित हो रहा हैं वही सर्वलोकमें सुन्दर है। इसी हेतुसे एकपनमे जो बन्धकी कथा है वह विसवादरूपिणी है अर्थात् निन्द्य है।

विशेषार्थ—प्राय लोकमें भी देखा जाता है कि जबतक यह मनुष्य छात्र-जीवनमें रह कर गुरुकुलमें विद्याध्ययन करता है तबतक सब आपत्तियोंसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवनसे अपने समयको निर्द्वंद्व बिताता है और जब घरमे प्रवेश करता है तथा माता-पिताके आग्रहसे विवाह-बन्धनको स्वीकृत करता है तब द्विपद्से चतुष्पद होता है। दैवयोगसे बालक हो गया तो षट्पद (भौंरा) हो जाता है। और अपने बालकका जब विवाह-सस्कार हो गया तब अष्टापद (मकडी) हो जाता है और अपने ही जालसे आप ही मरणको प्राप्त हो जाता है। इससे यह तत्त्व निकला कि परका सम्बन्ध ही इस ससारमे आपत्तियोंकी खानि है।

इस गाथामें जो समयशब्द आया है उसका अर्थ यहाँ पर आत्मा नहीं है किन्तु सामान्य पदार्थ है। अतएव उसकी व्युत्पत्ति श्री अमृतचन्द्र महाराजने इस रूपसे की है—'समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति समयः' अर्थात् जो एकपनकर स्वकीय गुण-पर्यायोको प्राप्त होता है उसे समय कहते हैं। अतः समयशब्दसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह लिये जाते हैं। इन्हीं षड्द्रव्योंका समुदाय ही लोक है। इस लोकमे जो भी द्रव्य है वह अपने अनन्त धर्मोंका चुम्बन करता है अर्थात् अपने अनन्त धर्मोंसे तन्मय है, एकद्रव्य कदापि परद्रव्यके धर्मोंका चुम्बन नहीं करता। ये षड्द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति (एकक्षेत्रावगाह) के होने पर भी स्वरूपसे पतित नहीं होते—कभी भी पररूपसे परिणमन नहीं करते, इसीसे उनके अनन्त व्यक्तित्वका भी अभाव नहीं होता। समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध कार्योंमें कारण होकर विश्वका उपकार कर रहे है किन्तु निश्चयसे एकत्वरूप कर ही सुन्दरताको पाते हैं। यदि इस प्रक्रियाका त्याग कर प्रकारान्तरसे व्यवस्था की जावे तो सर्वसकरादि दोषोंकी आपत्ति आ जावेगी। इस प्रकार यह व्यस्था चली आ रही है। उसमे जीव नामक जो पदार्थ है उसमे बन्धकी कथा विसवादिनी है क्योकि बन्ध दो पदार्थों-के सम्बन्धसे होता है। बन्धका यह अर्थ नहीं कि उन दोनोंकी सत्ताका अभाव हो जाता है किन्तु वे दोनों अपने-अपने स्वरूपको छोड़ कर एक भिन्न ही अवस्था (विकारी दशा) को प्राप्त हो जाते हैं। पुद्गलोंमें तो यह ठीक है क्योंकि जैसे चूना और हल्दी मिलानेसे एक लाल रग वाली भिन्न ही वस्तु हो जाती है। कारण कि पुद्गलोंमें वर्ण गुण सभीमे रहता है, अतः वर्णका अवान्तर पर्याय लाल रंग दोनोंका होनेमें कोई बाधा नहीं। परन्तु

जीव और पुद्गलोंके बन्धमे कुछ विलक्षणता है। जीवके रागादि परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गलोंमें ज्ञानावरणादिरूप पर्याय हो जाती है और ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलका निमित्त पाकर जीवमे रागादिरूप परिणति होती है अर्थात् जीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर रागादिरूप परिणमता और कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। जीव और पुद्गलोंकी एक पर्याय नहीं होती। यहाँ यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मोंका विपाक पुद्गलोंमे होता है और जीवका रागादिक जीवमे होता है तथापि दोनो ही अपने-अपने स्वरूपसे च्युत होकर एकक्षेत्रावगाहसे रहते है। यही सिद्धान्त श्री कुन्दकुन्दस्वामीने स्वयं लिखा है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्ण पि ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥

इन गाथाओंका विशेषार्थ यथास्थान करेंगे।

इस परिपाटीसे जीवके साथ पुद्गलद्रव्योंके सम्बन्धसे यह बन्ध हो रहा है सो विसंवादका जनक है। अतएव परद्रव्योंसे भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो एकत्वपन है वही सुन्दर है॥ ३॥

आगे आत्माका जो एकत्वपन है उसकी प्राप्ति अति कठिन है यह कहते हैं—

सुद-परिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंको कामभोगविसर्पिणी बन्धकी कथा अतिसुलभ है, क्योंकि निरन्तर सुननेमें आती है, परिचित है तथा अनुभूत है। देखा जाता है कि बच्चा पैदा होते ही स्तन्यपानमे प्रवृत्ति करने लग जाता है। इसी प्रकार मैथुनादि कार्योंमे बिना ही शिक्षाके जीवोंकी प्रवृत्ति स्वयमेव हो रही है। किन्तु परपदार्थको भिन्न तथा परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान रागादिविभावोंसे भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक अभेदरत्नत्रयरूप आत्माके एकत्वकी प्राप्ति अतिदुर्लभ है।

विशेषार्थ--इस ससारमे कुम्भकारके चक्रपर जो मिट्टीका घड़ा बनाया जाता है वह जिस तरह दंडके द्वारा जब भ्रमण करता है तब उस पर रखी हुई मिट्टी भी सब ओर भ्रमण करती है, इसी तरह इस संसार-चक्रके मध्यमें जो जीवलोक है वह भी निरन्तर पञ्च परावर्तनोंके रूपमें मोहपिशाचके द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। जिस तरह कोल्हूका

बैल घूमता है, उसी तरह यह भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करनेसे लोक भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकारके तृष्णारूप रोगोंके द्वारा नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे आतुर रहता है। उनके शमन करनेके लिये पञ्चेन्द्रियविषयोंका सेवन करता है परन्तु उससे शान्तभावको नहीं पाता है। जैसे मृगादि मरुमरीचिकामें जलबुद्धि कर तृषाकी शान्तिके अर्थ दौड़ कर जाते हैं परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौड़ते हैं। वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थक कर अन्तमें प्राण गमा देते हैं। इसी तरह यह प्राणी भी अन्तरङ्ग कषायोंके शमन करनेके अर्थ पञ्चेन्द्रियविषयोंकी निरन्तर सेवा करते हैं तथा दूसरोंको भी यही उपदेश करते हैं। पापमें कौन पण्डित नहीं ? ऐसा करनेसे शान्ति तो मिलती नहीं, निरन्तर आकुलित हुए काल पूर्ण करते हैं। इस प्रकार यह कामभोगबन्धकी कथा अनादि कालसे सुननेमें आई, निरन्तर विषयोके सेवन करनेसे वह परिचित भी है और अनुभूत भी है। अतः निमित्त मिलने पर एकदम स्मरणमें आ जाती है। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रैक्यरूप आत्माका जो एकत्व है वह यद्यपि अन्तरगमे प्रकाशमान है तथापि अनादिकालीन कषायचक्रने इसे संसार अवस्थामें तिरोहित कर रखा है। जीव, स्वय तो अज्ञानी हैं सो कुछ जानते नहीं और जो आत्मज्ञानी हैं उनकी उपासना करते नहीं, अतः न तो वह सुननेमे आया, न परिचयमे आया और न अनुभवमे आया ॥ ४ ॥

आगे आत्माका जो एकत्व अतिदुर्लभ है उसीको श्रीकुन्दकुन्द महाराज दिखानेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

त एयत्त-विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
यदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥ ५ ॥

अर्थ—वह जो पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रयात्मक, मिथ्यात्वरागादिरहित परमात्मस्वरूप आत्माका एकत्व है उसे मै स्वकीय आगम, तर्क, परापरगुरूपदेश तथा स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखानेमे चूक जाऊँ तो स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा उसे जाननेका प्रयत्न करना, छल ग्रहण नहीं करना।

विशेषार्थ—आचार्य महाराजका कहना है कि मेरे पास जो कुछ विभव है उस सम्पूर्ण विभवके द्वारा मै उस आत्माके एकत्वको दिखानेका प्रयत्न करता हूँ। वह विभव कैसा है, इसीको दिखाते है—'अनेकान्तात् सिद्धिः' अर्थात् 'स्यात्' शब्दके प्रयोग बिना किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं होती। अर्थ अनेकान्तात्मक है अतः उसके वाचक शब्दके साथ जब तक 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया जावे तबतक उसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे 'घटोऽस्ति' इसका अर्थ यह है कि 'घट है।' वास्तवमें विचार किया जावे तो घट शब्द का अर्थ 'कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ' है वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे है और घटान्यपदार्थके द्रव्यादि चतुष्टयसे नहीं है। अतः जबतक 'स्यात्' पदका प्रयोग नहीं किया जावे तबतक इस अर्थका भान नहीं होता। अतः आगम मात्रमें 'स्यात्' पदकी आवश्यकता है। इस तरह सकल-

पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले 'स्यात्' पदसे मुद्रित शब्दब्रह्मकी पूर्ण उपासना स्वामीके थी और एकान्तवादियोंके द्वारा निर्णीत जो पदार्थ थे उनका अत्यन्त सारभूत युक्तियोंके द्वारा निराकरण कर यथार्थ पदार्थकी व्यवस्था उन्होने की थी, ऐसा उनका विभव था। तथा जिस पदार्थका स्वरूप स्वामीने लिखा है वह केवल आगम और युक्तिके बलसे ही नहीं लिखा है किन्तु निर्मल विज्ञानके धारी जो परापर गुरु थे उनके उपदेशसे उसे सुना था। इतना ही नहीं कि आगम, युक्ति और परापरगुरुपरिपाटीसे ता सुना हो परन्तु स्वानुभव न हो तब भी वह पदार्थ यथार्थ कहनेमे नहीं आता, उसीका निवारण करने के लिए श्री अमृत-चन्द्र स्वामीने उस विभवका यह विशेषण किया कि स्वामीने आगम, तर्क और गुरुपरम्परा-से जैसा श्रवण किया था वैसा ही उनके उस पदार्थके जाननेका अन्तरग स्वसवेदन भी था। इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने आत्माके एकत्वका प्रदर्शन करानेकी प्रतिज्ञा की। फिर भी स्वामीके ज्ञान और वीतरागभावकी महिमा देखिये, जो लिख रहे हैं कि यदि मैं इतना प्रयास करने पर भी एकत्व दिखानेमे स्खलित हो जाऊँ तो छल ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं, अपने अनुभवसे स्वसंवेदन करनेकी चेष्टा करना।

परमार्थसे देखा जावे तो जो पदार्थ है वह दुरधिगम्य है। यथार्थ पदार्थकी प्रतिपत्ति, बिना सम्यग्ज्ञानके होना कठिन है परन्तु सम्यग्ज्ञानका होना ही कठिन हो रहा है, क्योकि अनादिकालसे यह प्राणी मोहकर्मके वशीभूत होकर परपदार्थोंमे ही अपना अस्तित्व मान रहा है। एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तो ऐसा तीव्र मोह प्राणियोंके है कि मदिराके प्रबल वेगके समान उन्हें अपना पराया कुछ विवेक ही नहीं। अगृहीत मिथ्यात्वके द्वारा पर्यायमें ही आपा मान निरन्तर ससारके हो पात्र रहते है। धर्म और अधर्म, आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं—मोक्षमार्गके अनुकूल हेय और उपादेयके ज्ञानसे रहित रहते हैं। आहारादि सज्ञाओंका ज्ञान होने पर भी मोक्षमार्गके अनुकूल आस्रवादि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। मोक्षमार्गमे उपयोगी ये सात ही तत्त्व हैं। अतएव श्रीउमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमे 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है। पिपीलिकाकी प्रवृत्ति शर्करादिमे देखकर उसके ज्ञानको मोक्षमार्गानुकूल ज्ञान नही कह सकते। आजकल विज्ञानका चमत्कार देख बहुतसे मनुष्य प्रशसाके पुल बाँध देते हैं। एतावता वह ज्ञान मोक्षमार्गकी श्रद्धामे उपयोगी नहीं हो जाता। जिस ज्ञानके द्वारा आत्माको ससारमे रुलना पड़े वह ज्ञान मोक्षके अनुकूल नहीं हो सकता। धनादि पदार्थोंके द्वारा ससारमे प्रायः आपत्तियोके अतिरिक्त क्या हो सकता है ? अतः सप्ततत्त्वसे भिन्न जो भी पदार्थ है उनका ज्ञान मोक्षमार्गमे सहकारी नहीं।

सबसे पहले हमे आत्मा और अनात्मा पदार्थोंके जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। यह ज्ञान आगमके बिना नहीं हो सकता। आगमज्ञानके लिये हमे परम्परागुरुओके उपदेशकी परमावश्यकता है तथा आगमके द्वारा जो पदार्थ ज्ञात किये हैं उनमे जो सूक्ष्म नहीं है उन्हें तर्कज्ञानसे भी निर्णीत करना उचित है। और यह सब होकर यदि स्वानुभव नहीं हुआ तब भी कल्याणपथकी प्राप्ति दुर्लभ है। इसीलिये कुन्दकुन्द महाराजका कहना है कि मैं अपने विभवसे आत्माके एकत्वको दिखाता हूँ। यदि कहीं स्खलित हो जाऊँ तो आप

लोगोंको उचित है कि स्वीय अनुभवसे वस्तुस्वरूपको अवगत कर प्रमाण करें, छल ग्रहण करना सर्वथा हेय है। आजकल मनुष्य अपना समय प्रायः कुकथा आदिमें लगाकर अनुपम तत्त्वके खोजनेमें नहीं लगाते, इसीसे प्रायः दुःखके ही पात्र रहते हैं ॥ ५ ॥

अब यहाँ शुद्ध आत्माको विषय करनेवाली द्रव्यदृष्टिसे प्रश्न होता है कि आत्मद्रव्य क्या वस्तु है? इसका श्री स्वामी उत्तर देते हैं तथा दूसरी गाथाके अवतरणमें यह प्रश्न था कि समय क्या पदार्थ है? वहाँ पर स्वामीने यह उत्तर दिया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित है वही स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मप्रदेशमें स्थित है वह परसमय है, इन दोनों पर्यायोंका जो आधार है वही तो समय है—यह बात इस गाथासे स्पष्ट हो जाती है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं। वह जो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है अन्य नहीं है।

विशेषार्थ—यहाँ पर आत्माके उस सामान्यभावका ग्रहण किया गया है जो कालत्रय व्यापी रहता है। आत्माकी यों तो अनन्त अवस्थाएं होती हैं किन्तु वे सब प्रमत्त और अप्रमत्तमें अन्तर्गत हो जाती हैं। आत्मा द्रव्य अनादिकालसे पुद्गलके साथ सम्बद्ध होकर चला आया है और इसीसे इसकी यह नाना पर्याय संसारमें होती है। आत्माकी संसार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ मुख्य हैं। इनमें संसार अवस्था कर्मोंके विपाकके निमित्तसे नाना प्रकारकी होती है और मुक्तावस्था कर्मोंके अभावसे एक ही प्रकारकी है। अतः जब सामान्यकी अपेक्षा निरूपण किया जाता है तब इस प्रकारका कथन होता है कि जो आत्मा है वह अनादि और अनन्त है, नित्य ही उद्योतरूप है, एक ज्ञायकपदार्थ है। उसी आत्माका जब पर्यायकी दृष्टिसे निरूपण किया जाता है तब कथन होता है कि वह संसार दशामें अनादिकालीन बन्धपर्यायके द्वारा दुग्ध और जलकी तरह कर्मपुद्गलोंके साथ एक हो रहा है। यद्यपि वर्तमानमें आत्माका कर्मपुद्गलोंके साथ क्षीर-नीरके समान एकक्षेत्रावगाह हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टिसे यही बात कथनमें आती है कि दुःख ही अन्तमें जिसमें होता है ऐसे कषायचक्रके उदयकी विचित्रतासे पुण्य और पापको उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभ भाव हैं उन रूप स्वभावसे आत्मा नहीं है अर्थात् आत्मामें पुण्य और पापको उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभभाव होते हैं वे विकारी भाव हैं, वर्तमान आत्मामें होते हैं परन्तु मन्दकषायके उदयसे होते हैं औपाधिक हैं, कर्मनिमित्तके मिटनेसे मिट जाते हैं। अतः पर्यायदृष्टिमें तो वे हैं, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे विचार करने पर नहीं हैं। अतएव स्वभावसे आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। वह तो अशेष द्रव्यान्तरोंसे तथा उनके निमित्तसे होनेवाली पर्यायोंसे भिन्न शुद्धद्रव्य है। यह कथन नयविवक्षासे है। सर्वथा यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त

नहीं है। आत्मा प्रमत्त भी है और अप्रमत्त भी है। ये दोनों अवस्थाएँ विशेष है किन्तु इनसे कथञ्चिद् भिन्न सामान्य भी एकरूप है उसकी दृष्टिमे यह दोनों अवस्थाएँ गौण हो जाती हैं। प्रमाणकी दृष्टिमे पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जैसे जिस समय अग्नि इन्धन सहित होती है उस समय उसमें ज्वाला भी निकलती है और धूम भी निकलता है। यद्यपि उस समय अग्निमे ज्वाला भी है और धूम भी है किन्तु सर्वकाल उनका सद्भाव न होनेसे वह अग्निका स्वरूप नहीं। सामान्यरूप जो सर्वत्र पाया जावे वही अग्नि है अर्थात् अग्नित्व सामान्य ही अग्निका सामान्य स्वरूप है। इसी तरह आत्मा न प्रमत्त है और न अप्रमत्त, किन्तु ज्ञायकसामान्यस्वरूप है क्योंकि यह रूप सब अवस्थाओमे पाया जाता है। संसार अवस्थामे आत्मा क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलोंके साथ एकमेक हो रहा है किन्तु एक नहीं हो जाता है। जैसे दूध और जल संयुक्तावस्थामें एकमेक हो रहे है परन्तु दूध है सो जल नहीं और जल है सो दूध नहीं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है किन्तु मिलितावस्थामे लोग कहते है कि पनीला दूध है, फीका दूध है। जैसे सुवर्ण और रजत दोनोंका मिलाप होनेसे लोग मिश्रितावस्थामें उस पिण्डमे खोटे सोनेका व्यवहार करते हैं। चार आना भर सोना और चार आना भर चाँदी दोनों मिलकर आठ आना भर हुए। वहाँ पर विचारसे देखा जावे तो सोना चार आना भर ही है। उस सोनेका द्रव्यदृष्टिस कुछ भी घात नहीं हुआ है और न उसके मूल्यमें कुछ हानि हुई है क्योकि मिश्रितावस्थामे उसका मूल्य बीस रुपया तोला हो गया। किन्तु शुद्ध सोनासे उस खोटे सोनेका चाँदीके सयोगसे वजन आठ आना भर हो गया अतः उसके मूल्यके दश रुपये मिल गये। यह सब हुआ, किन्तु शुद्ध सोनेमे जो गुण है वे चाँदीके सम्बन्धसे विकृत हो गये, इसलिये शुद्ध सुवर्ण द्वारा जो लाभ होता है वह अशुद्ध सुवर्णसे नहीं होता।

यही अवस्था आत्माकी कर्मोंके सम्बन्धसे हो जाती है अर्थात् आत्माके जो ज्ञान-दर्शन गुण हैं वे विकृत हो जाते हैं। ज्ञान-दर्शनका काम जानना और देखना है परन्तु उनमे कर्मोदयजन्य विकार होनेसे इष्टानिष्टरूप नाना प्रकारका भाव होने लगता है। जैसे शङ्ख श्वेत है, परन्तु जिसे कामला रोग हो गया है वह शङ्खको देखता तो है परन्तु उसमे पीतगुणका आरोप करता है, वास्तवमे शङ्ख पीत नहीं। इसी प्रकार ससारमे मोहादिक कर्मोंके उदयमें आत्मामे रागद्वेष-मोह विकार हो जाते हैं। उनके सम्बन्धसे यह आत्मा अपने ज्ञानगुणके द्वारा जानता तो है परन्तु विकारी परिणामोंके सहवाससे कभी तो मिथ्याभिप्रायसे परपदार्थमें आत्मसकल्प करता है और कभी राग-द्वेषके द्वारा इष्ट-अनिष्टका विकल्प करता है। उसका फल यह होता है कि परदार्थमें आत्मत्वकी कल्पना करता है और रागादिक विभावोंको अपना स्वभाव मानने लगता है। इन्हीं विभावोंके द्वारा अनन्त संसारमें यातायात करता हुआ चतुर्गति सम्बन्धी पर्यायोंमें परिभ्रमणजन्य अनेक प्रकारके अनिर्वचनीय दुःखोका पात्र होता है।

जब इस जीवके काललब्धिका उदय आता है तब यह मिथ्याभावसे मुक्त होता है और सम्यक्त्वगुणके विकासको प्राप्त होता है। क्रमसे देशव्रतादिको धारण करता हुआ मोक्षका

पात्र होता है। उस समय इसको सिद्ध कहते हैं। इस प्रकार जीवोंकी मुख्यतया दो पर्याय हैं—एक संसारी और दूसरी सिद्ध। संसारमें मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर छठवें गुणस्थान पर्यन्तके जीवको प्रमत्त कहते हैं और सातवें गुणस्थानसे लेकर जीवकी चौदहवे गुणस्थान तक जितनी भी पर्याय होती हैं उन्हें अप्रमत्त कहते हैं। उनके जबतक आयुका सम्बन्ध है तबतक गुणस्थान व्यवहार होता है, बादमें गुणस्थानातीत होने पर उन्हें सिद्ध कहते हैं।

जीवमें यह जो व्यवहार होता है वह विशेषकी अपेक्षा होता है, सामान्यकी अपेक्षा नहीं होता। इसीसे कुन्दकुन्द महाराजने लिखा है कि जीव न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है किन्तु ज्ञायकभाव वाला है। ऐसा नहीं कि पदार्थोंके जाननेसे ज्ञायक है किन्तु स्वभावसे ज्ञायक है। जैसे इन्धनको जलानेसे अग्नि दाह्याकार होती है, वह आकार अग्नि ही का है दाह्य पदार्थका नहीं। वैसे ही घटपटादि पदार्थोंका जो आकार ज्ञानमें भासमान होता है वह आकार घटपटादिसे भिन्न ही है। ज्ञानकी ज्ञातृता ही ऐसी है कि उसमे स्वपरावभासन हो रहा है। जैसे रूपी दर्पणमे ऐसी स्वच्छता है कि उसमें वह्नि दिखती है एतावता उसमें उष्णता और ज्वाला नहीं है। इत्यादि कथनसे आत्माको निराबाध ज्ञायक स्वरूप ही मानना अबाधित प्रमाणका विषय है। अतएव जीव जिस तरह परपदार्थोंके जाननेके समय ज्ञायक है उसी तरह स्वरूप प्रकाशनके समय भी ज्ञायक है ॥ ६ ॥

आगे ऐसा जो आत्मा है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्रसे अशुद्ध नहीं हो सकता है, यही दिखाते हैं—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दंसण णाण।
ण वि णाण ण चरित्त न दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके व्यवहारद्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहे जाते हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानी है, चारित्रवाला है, दर्शनवाला है। निश्चय कर उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है किन्तु एक ज्ञायक है, इसीसे शुद्ध है।

विशेषार्थ—इस तरह ज्ञायकभावसे शुद्धात्मामें बन्धके कारणोंसे अशुद्धता कहना दूर रहो, किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी उसमे विद्यमान नहीं हैं अतः इनके निमित्तसे जायमान अशुद्धता भी कैसे हो सकती है? वास्तवमें द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो कोई भी पदार्थ अशुद्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि बन्ध जहाँ होता है वहाँ दो पदार्थोंका होना है। यहाँ बन्धका यह अर्थ ग्राह्य नहीं कि जिन पदार्थोंका बन्ध होता है वे दोनों मिलकर अभिन्न हो जाते हैं किन्तु दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वाभाविक परिणमनको छोड़कर विजातीय अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे दो परमाणु परस्परमें जब बँधते हैं तब उन्हें द्वयणुक शब्दसे कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों परमाणु तादात्म्य सम्बन्धसे एक हो गये। अथवा यहाँ तो दोनों पुद्गलके परमाणु हैं अतः उनमें जो पुद्गल सम्बन्धी रूप रस-गन्ध-स्पर्श हैं उन्हींका परिणमन विशेषरूपसे हो जाता है। परन्तु जीव और पुद्गलका जो बन्ध

है वह इस प्रकारका नहीं है। वहाँ केवल दोनों द्रव्य अपने-अपने परिणमनको छोड़ भिन्न-भिन्न रूपसे परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलवर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती है तथा मोहादि कर्मोंके उदयको पाकर जीव रागादिभावको प्राप्त हो जाता है।

यह कथा दो द्रव्योंकी है किन्तु एक ही द्रव्यमे जो गुण है अर्थात् जिनका द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है वे गुण भी परस्परमे एक नहीं हो जाते है। इसीको व्यक्त करनेके लिये द्रव्योंमे अनन्तानन्त अगुरुलघु गुण माने गये है। जैसे पुद्गलमे जो स्पर्श-रस-गन्ध-रूप गुण है वे सब नाना हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रियोके विषय है उनमे जो एकत्व व्यवहार है वह एक सत्ता होनेसे है अर्थात् पुद्गलद्रव्यसे उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। इसी तरह आत्मामे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं वे अपने स्वरूपसे भिन्न-भिन्न है किन्तु आत्मासे भिन्न उनकी सत्ता अन्यत्र नहीं पाई जाती, इसीसे अभेद व्यवहार होता है। इसी अभिप्रायको लेकर स्वामीका कहना है कि अभेददृष्टिमे ज्ञानदर्शनादि कुछ नहीं है। इसका यह अभिप्राय है कि वह नय, भेदको गौण कर अभेद को ही विषय करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आत्मामे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। केवल शिष्यके बुद्धिवैशद्यके अर्थ आचार्योंका प्रयास है।

अनन्तधर्मात्मक एक धर्मीके समझनेमे अपटु जो शिष्य है उसे समझानेके लिये उस अनन्तधर्मात्मक धर्मीको जाननेवाले आचार्य कितने ही प्रसिद्ध गुणोको लेकर कहते है कि ज्ञानीके दर्शन भी है, ज्ञान भी है, चारित्र भी है परन्तु परमार्थसे अनन्तपर्याय वाले द्रव्यके अखण्ड स्वभावका जो अनुभव करने वाले हैं उनके न दर्शन है, न ज्ञान है और चारित्र है, केवल एक ज्ञायक शुद्धभाव है। जैसे लोकमे किसीने अपने भृत्यसे कहा कि सुवर्ण लाओ। भृत्य बाजारमे गया और सामान्य सुवर्णकी किसी पर्यायमे सुवर्ण ले आया, क्योंकि सामान्य सुवर्णमे सुवर्णकी मुख्यता रहती है पर्यायोकी गौणता है। इसी तरह जब जीवका सामान्यरूपसे कथन करते है तब उसमे ज्ञायकभावकी मुख्यता रहती है, न प्रमत्त की मुख्यता रहती है और न अप्रमत्तकी, यही आत्माको शुद्ध कहनेका तात्पर्य है॥ ७॥

आगे, यदि ऐसा है तो परमार्थसे उसीका कथन करना चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि ठीक है परन्तु वे जब सामान्यसे इसे नहीं समझते है तब विशेषरूपसे कहना उचित है, इसी अभिप्रायको लेकर व्यवहारनयकी उपयोगिता दिखाते हैं—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ ८॥

अर्थ—जिस तरह अनार्य मनुष्य अनार्यभाषाके बिना अभिप्रेत वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको समर्थ नहीं हो सकता उसी तरह व्यवहारी जीव व्यवहारनयके बिना परमार्थके समझनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

विशेषार्थ – जिस तरह कोई ब्राह्मण किसी म्लेच्छोंके नगरमें चला गया। वहाँ उन लोगोंने भव्यमूर्ति ब्राह्मणको देखकर अपनी भाषामें अभिवादन कर दोनों हाथोंको मस्तकसे लगा कर नमस्कार किया। ब्राह्मणने उनकी नम्रता देखकर प्रसन्नतासे उन्हें कहा—'तुभ्यं स्वस्ति'। इस वाक्यको श्रवणकर वे लोग कुछ भी वाच्यार्थको न जान सके, अतः मेढ़ाकी तरह ब्राह्मणकी ओर अनिमिष नेत्रोंसे देखने लगे। तब दुभाषिया ब्राह्मणने म्लेच्छ भाषाको लेकर उन्हें 'स्वस्ति' शब्दका वाच्यार्थ समझाया कि इसका अर्थ 'आप लोगोंका कल्याण हो' यह है। जब उनकी समझमें 'स्वस्ति' पदके अर्थका बोध हुआ तब एकदम उनके हृदयमें आनन्दका उदय होकर इतना हर्ष हुआ कि आँखोंमे हर्षके आँसू छलक आये और शरीरमे रोमाञ्च हो गये। इसी तरह संसारी मनुष्यसे श्रीगुरुने कहा कि आत्मा है। इसे श्रवणकर ससारी मनुष्य भी उसी अनिमिष नेत्रोंसे आत्माकी बातको कहनेवाले श्रीगुरुकी ओर देखने लगा और आश्चर्यसे चकित हो गया। तब व्यवहार और परमार्थ पथको जानने-वाले आचार्य महाराजने कहा कि—भाई! दर्शनज्ञानचारित्रको जो प्राप्त करता है वही तो आत्मा है अर्थात् जो देखने-जाननेवाला है वही आत्मा है। इस वाक्यको श्रवणकर वह एकदम प्रसन्नताके रसमे मग्न हो गया, आनन्दके आँसू उसके नेत्रोंमे आ गये और एक बार ही आत्मविषयक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे निःसंदेह हो गया। जब ऐसी वस्तु-स्थिति है तब म्लेच्छभाषाके सदृश व्यवहारी मनुष्यको बोध करानेके लिए व्यवहारनयका अवलम्बन लेना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ब्राह्मणको म्लेच्छरूप हो जाना चाहिये।

लोकमे भी परमार्थ पदार्थके समझानेके लिए ऐसे अवलम्बन लिये जाते हैं। जैसे सेनामें जो रंगरूठ भरती होता है उसे बाण द्वारा लक्ष्यवेध सिखाया जाता है। यद्यपि वहाँ पर उस लक्ष्यवेधसे किसी साध्यकी सिद्धि नहीं, तथापि रणक्षेत्रमें जब शत्रुओपर बाण छोडनेका काम पडता है तब वह विद्या उपयोगमें आती है। अथवा जिस तरह बचपनमें छोटी-छोटी लडकियाँ मिट्टीका आटा गूनकर उसकी रोटियाँ बनाती है तथा मिट्टीकी हण्डियाँ बनाकर उनमे छोटे-छोटे ककड डाल दाल बनानेका व्यवहार करती हैं। यद्यपि यह सब उनका खेल है परन्तु बडी अवस्थामे यथार्थ कार्य करनेसे उसकी उपयोगिता होती है। इसी तरह पर-मार्थका यथार्थ बोध करानेके व्यवहारनयका आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी तरहके और भी लौकिक उदाहरण है—जैसे किसीने श्रीपरमगुरुसे पूछा कि—भो प्रभो! मेरे लिये आत्मज्ञानकी शिक्षा दीजिये—आत्मा क्या है? यह बतलानेकी कृपा कीजिये। श्रीगुरुने कहा कि—हमारे सामने बहनेवाली गङ्गा नदीमें एक मगर रहता है। उसे अच्छी तरह आत्मज्ञान करा दिया है। वह तुम्हें अच्छी तरह आत्मज्ञानका उपदेश देगा, उससे पूछ लो। श्रीगुरुके ऐसे वचन सुनकर वह सरलप्रकृतिका शिष्य गुरुवाक्यको प्रमाण करता हुआ सन्निहित गङ्गा नदीके तीर गया और उस मगरसे बोला—भाई! हमको गुरुमहाराजने तुम्हारे पास आत्मज्ञानके उपदेशके अर्थ भेजा है। मगरने उसके वाक्य सुनकर प्रसन्नताके साथ कहा—महानुभाव! मैं इस समय तृषासे अति-आतुर हूँ, आप एक लोटा पानी कूपसे लाकर मुझे

पहले पिला दीजिये मैं पश्चात् निश्चिन्त होकर आपको उपदेश करूँगा। यह सुनकर शिष्य मन-ही-मन उसकी मूढतापर पश्चात्ताप करता हुआ मगरसे बोला—भाई ! तुम बड़े अज्ञानी हो, पानीमे सर्वाङ्ग डूबे हुए भी हमसे जल माँगनेकी चेष्टा करते हो, तुम क्या आत्मज्ञानका उपदेश करोगे ? मगर बोला—महानुभाव ! आपका कहना अक्षरशः सत्य है किन्तु अपने अज्ञानको भी तो देखो। तुम स्वयं आत्मा होकर आत्मज्ञानकी बात पूछते हो। यही बात तो तुम्हारे आत्मज्ञानकी बाधक है। ऐसा सुनकर वह स्वय प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोंसे व्यवहारके द्वारा निश्चयका उपदेश दिया जाता है ॥ ८ ॥

आगे परमार्थ और व्यवहारनयसे श्रुतकेवलीका स्वरूप कहते हैं—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिण तु केवल सुद्ध ।
त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोय-प्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्व जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्व जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥ १० ॥

(जुग्म)

अर्थ—जो जीव निश्चयकर इस अनुभवगोचर केवल (ज्ञेयभिन्न) शुद्ध आत्माको सम्यक् प्रकार जानता है उसे लोकके प्रदीपक गणधरादि महाऋषि श्रुतकेवली कहते हैं, अर्थात् ऐसे जीवको परमार्थ श्रुतकेवली जानना। तथा जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह भी श्रुतकेवली है, ऐसा जिन भगवान कहते हैं क्योकि सम्पूर्ण जो ज्ञान है वह भी तो आत्मा ही है परन्तु वह व्यवहारसे श्रुतकेवली है।

विशेषार्थ—परमार्थसे यहाँ पर विचार करनेमे उपयोगको तन्मय करनेकी अति आवश्यकता है। जो केवल आत्माको जाने वह तो निश्चयसे श्रुतकेवली है और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहारसे श्रुतकेवली है, ऐसा भेद क्यो है ? इसका यह तात्पर्य है—जो आत्मा श्रुतके द्वारा केवल (परसे भिन्न) शुद्ध स्वीय आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहार है क्योंकि वह परकी उपाधि है। अथवा विचार करो कि जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान है वह आत्मा है या अनात्मा ? यदि द्वितीय पक्षका अवलम्बन करोगे तो सर्वथा ही असगत है क्योकि आत्मद्रव्यसे भिन्न जो आकाश, काल, धर्म, अधर्म तथा पुद्गल ये पाँच द्रव्य अनात्मस्वरूप है, इनके साथ तो ज्ञानका तादात्म्य असभव ही है, अतएव अगत्या ज्ञान आत्मा ही है यही तो आया। इसीसे श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है—ऐसी वस्तुकी व्यवस्था होनेसे जो केवल आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यही तो निष्कर्षसे आया और ऐसा जो जानना है सो परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञाना इन दोनोमे भेदका कथन करनेवाला जो व्यवहारनय है उसके द्वारा भी परमार्थमात्र आत्मा ही तो कहा गया, अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा गया। अथवा 'जो जीव श्रुतके द्वारा केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है' इस पर-

मार्थका प्रतिपादन करना अशक्य है, इसीसे जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है वह व्यवहारसे श्रुतकेवली है, किन्तु यह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादन करता है अतः इस ज्ञानसे आत्मा ही की तो प्रतिष्ठा हुई, अतएव इसको भी श्रुतकेवली कहना सर्वथा उपयुक्त है।

परमार्थसे तत्त्व अनिर्वचनीय है क्योंकि ऐसी व्यवस्था है कि जो द्रव्य, गुण व पर्यायें हैं वे सब अपने-अपने रूपमे अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आ रहे है। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमे, अन्य गुणका अन्य गुणमे तथा अन्य पर्यायका अन्य पर्यायमें सक्रमण नहीं होता। जब यह बात है तब ज्ञानात्मक आत्मद्रव्य कालान्तरमें अनात्मद्रव्य नहीं हो सकता। आत्माका ज्ञानगुण आत्मामे ही तादात्म्य सम्बन्धसे रहता है, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें कभी भी सक्रान्त नहीं हो सकता। केवल यह व्यवहार है कि आत्मा परको जानता है। वास्तवमे जब यह नियम है कि ज्ञान ज्ञेयमे नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नही जाता, तब परको जाननेवाला ज्ञान है इसका यह अर्थ है कि जिस तरह जिस समय दर्पणके सम्मुख जो पदार्थ रहता है उस समय दर्पण उस पदार्थके निमित्तसे अपनी स्वच्छतामें तदाकार परिणमता है, इसीसे लोग कहते है कि दर्पणमे घटपटादिक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, तत्त्वदृष्टिसे दर्पणमे दर्पणका ही परिणमन दृष्ट होता है। इसी तरह आत्मा परपदार्थोंको जानता है, यह व्यवहार होता है। परन्तु परमार्थसे आत्मा आत्मपरिणाम ही को जानता है। अतः आचार्य महाराजने जो यह कहा है कि जो श्रुतके द्वारा अपनी आत्माको जानता है वह परमार्थसे श्रुतकेवली है सो मनन करने योग्य तत्त्व है। इसीको यथार्थ जाननेसे हम अनादिविभ्रमसे अपनी रक्षा करनेमे समर्थ हो सकते है ॥९-१०॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि व्यवहारनयका आश्रय क्यो नहीं करना चाहिए ? इसीका निम्न गाथा द्वारा उत्तर देते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

अर्थ—ऋषीश्वरो ने व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है और शुद्धनयको भूतार्थ। जो जीव भूतार्थको आश्रित करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहारनय अभूत अर्थको प्रकाशित करता है यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाई जाती है। जैसे मेघोंसे बरसनेवाला जल यद्यपि निर्मल रहता है परन्तु भूमिमें पडते ही धूलि आदि विजातीय पदार्थोंके सम्बन्धसे उसकी स्वाभाविक निर्मलता तिरोहित हो जाती है। उस कर्दम मिश्रित जलको पीनेवाले जो पुरुष हैं उन्हें कर्दम और जलका भेदज्ञान नही है। भेदज्ञानके अभावसे उस जलकी निर्मलताका उन्हें अनुभव नहीं होता, वे मिश्रित जलको ही जल समझते हैं परन्तु जिन पुरुषोंने मिश्रजलमे कतकफलको घिस कर डाल दिया है तथा अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थसे उसकी स्वच्छताको प्रकट

कर लिया है वे वास्तविक जलका पान करते है और विवेकी कहलाते हैं। इसी तरह प्रबल कर्मके विपाक द्वारा आत्माका जो सहज ज्ञायकभाव है वह तिरोहित हो जाता है उस समय जो जीव आत्मा और कर्मके भेदज्ञान करनेमें असमर्थ रहता है वह व्यवहारमे ही मोहित नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट परिणतिका अनुभवन करता है, यदि मन्दकषायका उदय हुआ तो शुभ परिणामोका अनुभव करता है और तीव्र कषायका उदय हुआ तो अशुभ परिणामोका अनुभवन करता है। परन्तु जो भूतार्थको देखनेवाले है वे अपने प्रौढ विवेकसे शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मोंको पृथक्-पृथक् करते हुए अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थके द्वारा सहज ज्ञायकभावको प्रकटकर उसीका अनुभव करते है। इसीसे जो भूतार्थका आश्रय करनेवाले हैं वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और जो इनसे भिन्न है अर्थात् मात्र अभूतार्थका आश्रय करते है वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अतः कतकफलसम होनेसे शुद्धनयका आश्रय करना उपयुक्त है और असत् अर्थको कहनेवाला जो व्यवहारनय है वह आश्रय करने योग्य नही है।

यह आत्मा अनादिकालसे व्यवहारमे लीन हो रहा है और इसीसे अपना भला-बुरा सुख-दुःख आदि जो कुछ है उसे परपदार्थोंसे ही मानता है। यदि किन्ही बाह्यपदार्थोंसे दुःख हुआ तो उन्हें अनिष्ट मान उनसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है, और वे ही पदार्थ यदि सुखमें निमित्त पड गये तब उनसे चिपटनेकी चेष्टा करता है। यहाँ पर तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो सभी मिथ्या विचार प्रतीत होते है क्योकि जगतमे न तो कोई पदार्थ दुःखदायी है और न सुखदायी है, हमारी अज्ञानता ही उन्हें सुखकर और दुःखकर कल्पना करा रही है। जिस कालमें वे पदार्थ हमारी इच्छा या रुचिके अनुकूल होते है उस कालमे हम उनका सग चाहते है। मोहके कारण नाना प्रकारके अनर्थोंसे भी उनकी रक्षा करते है। यहाँ तक देखा गया है कि अपने बच्चेके लिए दयालु-से-दयालु भी मनुष्य गायका दूध, उसके पाते हुए बालकसे छीनकर पात्रमे दुह लेते है। यह कथा तो छोडो, जो वस्तु हमें इष्ट है उसे स्वय खाते हुए त्यागकर बालकके अर्थ रख लेते है। लोकमे यहाँ तक देखा गया है कि मृगी स्वकीय बालककी रक्षाके अर्थ सिंहिनीके सम्मुख चली जाती है। इस प्रकार यह जीव अनादि कालसे इन परपदार्थोंमे मोहित हो रहा है। उसे सत्यभूत अर्थका बोध करानेके लिए शुद्धनयका उपदेश है—भाई! तुम्हारी आत्माकी परिणति ज्ञायकभावसे भरी हुई है, ज्ञयका उसमे अश भी नहीं जाता, यह जो परके साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है उसीमे तुम्हे भ्रमसे विपरीत भान होता है। वास्तवमे तो तुम्हारा निजस्वरूप शुद्ध-बुद्ध है, तुम ज्ञानघनके पिण्ड हो, यह सब परपदार्थ तुमसे भिन्न है, इनके साथ तुम्हारा केवल ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है, इससे अधिक जो तुम्हारी कल्पना है वह ससारकी जननी है। अतः यदि कल्याणके अभिलाषी हो तो इस क्लेशकारिणी कल्पनाके जालमें मत आओ और जो स्वकीय ज्ञायकभाव है उसकी भावना करो, यही भावना संसारसमुद्रसे संतरणके लिये नौकाका काम देगी।

तब क्या व्यवहारको सर्वथा त्याग देना चाहिए? नहीं, यह हमारा तात्पर्य नहीं, जबतक यथार्थका लाभ न हो तबतक यह भी प्रयोजनवान् है—किन्ही जीवोके किसी कालमे यह व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है ॥११॥

आगे पात्रभेदसे निश्चय और व्यवहार दोनो नयोकी उपयोगिता दिखाते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थ—जो परमभावको देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला शुद्ध नय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमे स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है।

विशेषार्थ—जैसे लोकमें देखा जाता है कि जिन्होंने सुवर्णको शुद्ध करते-करते अन्तके पाकसे शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति कर ली है उन जीवोंको प्रथमादि पाकसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सुवर्णको शुद्ध करनेके लिए सोलह बार ताव देनेकी आवश्यकता होती है, जिन्होने सोलह ही ताव देकर शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति कर ली उन जीवोको एकसे लेकर सोलह तक किसी भी तावकी आवश्यकता नही रहती। इसी तरह जो जीव अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान परमभाव—उत्कृष्ट आत्मस्वभावका अनुभव करते है उन जीवोके प्रथम, द्वितीय आदि अनेक तावोकी परम्परासे पच्यमान सुवर्णके समान अपरमभाव अनुत्कृष्ट मध्यमादि आत्मस्वभावके अनुभवकी शून्यता रहती है। अतः शुद्धद्रव्यका ही प्ररूपक होनेसे, जिसने कभी स्खलित नहीं होनेवाले एक आत्मस्वभावको ही समुद्योतित—प्रकाशित किया है, ऐसा शुद्धनय ही उनके लिये प्रयोजनवान् है किन्तु जिस तरह जो जीव अभी प्रथम, द्वितीयादि पाकसे सुवर्णकी जघन्य, मध्यमादि अवस्थाओका ही प्राप्त हो रहे है उन जीवोको जबतक शुद्ध सुवर्णका लाभ न हो तबतक अपने योग्य ताव (आँच) देनेकी आवश्यकता है क्योंकि उन्हे अभी पर्यन्तपाकसे निष्पन्न शुद्ध सुवर्णका लाभ नही हुआ है। इसी तरह जिन जीवोंको जबतक अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान आत्माके परमभावका अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् शुद्ध आत्माका लाभ नहीं हुआ है तबतक विचित्रवर्णमालिकाके तुल्य होनेसे अनेक अवस्थाओका कथन करनेवाला व्यवहारनय उनके लिये प्रयोजनवान् है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफलकी प्रवृत्ति इसी प्रकार होती है। जैसा कि कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ—यदि जिनेन्द्र भगवान्‌के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनोंही नयोंको मत त्यागो, क्योंकि यदि व्यवहार नयको त्याग दोगे तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नहीं हो सकेगा। फलतः धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा। और यदि निश्चयनयको त्याग दोगे तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है। इसी अर्थको श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने बहुत ही सुन्दर पद्योमे कहा है—

मालिनीछन्द

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा ।

सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चय और व्यवहारनयोंके विषयमे परस्पर विरोध है क्योंकि निश्चयनय अभेदको विषय करता है और व्यवहारनय भेदको ग्रहण करता है, किन्तु इस विरोधका परिहार करनेवाला स्यात्पदसे अङ्कित श्रीजिनप्रभुका वचन है। उस वचनमे, जिन्होंने स्वय मोहका वमन कर दिया है वे ही रमण करते हैं और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समयसारका अवलोकन करते हैं जो कि अतिशयसे परम ज्योति स्वरूप है, नवीन नहीं अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, [केवल कर्मके सम्बन्धसे तिरोहित था, भेदज्ञानके बलसे जब मोहादि सम्बन्ध दूर हो गया तब पर्यायरूपसे व्यक्त हो गया] और अनय पक्ष—एकान्त पक्षसे जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

मालिनीछन्द

व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदाना हन्त [दत्त] हस्तावलम्ब ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्र
परविरहितमन्त पश्यता नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि पहली अवस्थामे जिन जीवोने अपना पद रखा है उनके लिये व्यवहारनयका सखेद हस्तावलम्बन लेना पडता है तथापि परसे भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थका जो अन्तरङ्गमे अवलोकन करते है अर्थात् ऐसे चिच्चमत्कारमात्र परम तत्त्वकी जो श्रद्धा करते हैं—उसमे लीन होकर चारित्रभावका लाभ करते है उन जीवोंके लिये यह व्यवहारनय कुछ नहीं है अर्थात निष्प्रयोजन है। जैसे कोई मनुष्य किसी कार्यकी सिद्धिके लिये उसके अनुरूप कारणकूट—सामग्रीका एकत्र करता था, पर कार्य सम्पन्न होनेके अनन्तर उस कारणकूट—सामग्रीकी कोई आवश्यकता नही रह जाती। अथवा तबतक मनुष्य नौकाको नहीं छोडता जबतक तीरको प्राप्त नहीं हो जाता, तीरको प्राप्त हो जाने पर नौकाकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी तरह शुद्धस्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्रके प्राप्त होनेपर उसके लिये अशुद्ध (व्यवहार) नयकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु न ॥ ६ ॥

अर्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा अपने एकपनमें नियत है, स्वकीय गुणपर्यायोंमे व्याप्त होकर रहता है तथा पूर्णज्ञानका पिण्ड है ऐसे आत्माका आत्मातिरिक्त द्रव्योंसे जो भिन्न

अवलोकन है अर्थात् संसारके समस्त द्रव्योंसे उसका पृथक् अनुभवन है इसीका नाम सम्यग्दर्शन है, इसीके होते ही आत्माका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वास्तवमें ज्ञानमे जो मिथ्यापन है वह स्वतः नही किन्तु जबतक आत्मामे परसे भिन्न अपनी यथार्थ—प्रतीति नहीं होती तबतक यथार्थ ज्ञान भी नही होता। जैसे कामला रोगसे पीड़ित मनुष्य शङ्खको नहीं जानता, सो नहीं है किन्तु कामला रोगसे उसमे पीतत्वका भान करता है, रोगापहरणके अनन्तर ही उसे श्वेत शङ्खका भान होने लगता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव शरीरको आत्मा मानता है, मिथ्यात्वके जानेके बाद आत्माको आत्मा और परको पर जानता है। इस जाननेमे मुख्यतः मिथ्याभावके जानेकी ही महिमा है। अतः आचार्य महाराजका कहना है कि जो शुद्धनयके बलसे परसे भिन्न केवल शुद्धचिद्रूप आत्माको देखते है उन्हींके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। और यह जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा तावन्मात्र है—सम्यग्दर्शनके प्रमाण है क्योंकि गुण और गुणीमें प्रदेशभेद नहीं है। इसीसे आचार्य महाराजने कहा है कि नवतत्त्वकी सन्ततिको छोडकर हमारे केवल एक आत्मा ही हो अर्थात् परसे भिन्न शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो।

उपर्युक्त कथनका यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय आत्माको नानारूपसे व्यवहारमें लाता है। जैसे एक ही पुरुष स्वीय पिताकी अपेक्षा पुत्रशब्दसे व्यवहृत होता है तथा स्वकीय पुत्रकी अपेक्षा पिताशब्दसे कहा जाता है। अपने गुरुकी अपेक्षा शिष्यशब्दसे प्रतिबोधित होता है तथा निज शिष्यकी अपेक्षा वही गुरुशब्दसे पुकारा जाता है। मातुलकी अपेक्षा भानजा और भानजाकी अपेक्षा मातुलशब्दसे घोषित होता है इत्यादि नाना सम्बन्धोंके होने पर भी परमार्थसे पुरुप नाना नहीं है। इसी प्रकार एक ही आत्मा व्यवहारनयसे अनेक पर्यायोंका आलम्बन लेनेके कारण नाना होकर भी द्रव्यदृष्टिसे नाना नहीं है। निश्चय और व्यवहार दोनो ही नय अपने-अपने विषयमे प्रमाण है क्योकि श्रुतज्ञानके अंश है। जैसे अशुद्धनयकी दृष्टिमे आत्मा नाना और शुद्धनयकी दृष्टिमे एक तथा प्रमाणदृष्टिमें एकानेक है। वस्तुतः जो है सो है क्योंकि वस्तु अनिर्वचनीय है।

केवल एक अंशका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि वह तो वस्तुका एकदेश है। जैसे एक रुपयेमे चौसठ पैसे होते हैं, अब उसमे पाव आनाका विचार कीजिये। क्या वह रुपया है ? नहीं, यदि पाव आनामे रुपयेका व्यवहार किया जावे तो एक रुपयेके स्थानमें चौसठ रुपयोका व्यवहार होने लगेगा जो कि सर्वथा असंगत है और यदि पाव आना रुपया नहीं है तो इसी तरह दूसरा पाव आना तथा तीसरा पाव आना आदि सभी रुपया नहीं है तब रुपयाके व्यहारका अपलाप ही हो जावेगा, अतः पाव आना न तो रुपया है और न रुपयासे भिन्न है, किन्तु एक रुपयेका $\frac{1}{64}$ अंश है। इसी तरह वस्तु, द्रव्यके भेदाभेद की अपेक्षा दो अश रूप है, उन दोनों अशोंकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर केवल शुद्धनयकी मुख्यतासे कथन है, इसीसे उसके द्वारा जानी हुई शुद्ध आत्माकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनयसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहनेका प्रयोजन यह है कि शुद्धनयके द्वारा

प्रतिपाद्य जो आत्माकी शुद्ध अवस्था है वह उपादेय है और व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपाद्य जो अशुद्ध अवस्था है वह हेय है। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंका पिण्ड है अतः उन सब अवस्थाओंको लक्ष्यमे रखने पर आत्मद्रव्यकी पूर्णता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध ही है अथवा सर्वथा अशुद्ध ही है ऐसी श्रद्धा एक अशकी श्रद्धा है। अथवा सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प गुण है। उसके होते ही आत्माका जो ज्ञान है वह यथार्थ हो जाता है और उसीको उपचारसे सम्यग्दर्शन कहते है। यही कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम्।
ज्ञानत्व चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता ॥

अर्थ—जब आत्माका विपरीत अभिप्राय चला जाता है तब उसके ज्ञानको दर्शन कहते हैं और अर्थकी विज्ञप्तिको ज्ञान कहते है तथा कर्मके नाश करनेकी शक्तिका नाम ही चारित्र है।

अतः शुद्धनयायत्त प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति ॥ ७ ॥

अर्थ—अतः शुद्धनयके द्वारा परपदार्थसे भिन्न और अपने स्वरूपसे अभिन्न आत्मज्योति का विकास होता है। वह आत्मज्योति यद्यपि नवतत्त्वके साथ मिल रही है तथापि अपना जो एकत्वपना है उसे नही त्यागती है।

आत्मा परपदार्थके सम्बन्धसे नवतत्त्वोंमें सम्बद्ध होनेके कारण यद्यपि नाना प्रकार दीखता है तथापि जब इसका पृथक् विचार किया जाता है तब अपने चैतन्यचमत्कारलक्षण-के कारण यह भिन्न ही है। जैसे नट नानाप्रकारके स्वाग रखकर भी अपने मनुष्यपनसे एक ही है ॥ १२ ॥

आगे भूतार्थनयसे जीवाजीवादि पदार्थोंका जानना सम्यग्दर्शन है यह कहते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च।
आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

अर्थ—भूतार्थनयके द्वारा जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सम्यक्त्व हैं अर्थात् इन नौ तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति जिस गुणके विकास होने पर होती है उसीका नाम सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ—जबतक आत्मामें सम्यग्दर्शनगुणका विकास नहीं होता तबतक यह आत्मा मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी रहता है और इसी कारण परपदार्थोंमें अपना संकल्प करता रहता है। यद्यपि ज्ञानादि गुणोके कारण आत्मा परपदार्थोंसे भिन्न है, कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपको छोड़कर अन्यरूप नहीं होता, परन्तु क्या करे? मतवालेकी तरह भ्रान्त होनेसे मनमें जो कल्पना उठ गई उसीका उपयोग करने लगता है। कभी सत्य कल्पना भी उठती

है परन्तु उसका गाढ़ श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकारके संकल्पों द्वारा अपनेको नाना मानता है परन्तु जिसके सम्यग्दर्शनका विकास हो जाता है उसका ज्ञान आस्रवादि पदार्थोंको यथार्थ जानने लगता है। यही कारण है कि वह इन नव तत्त्वोंमें, जो संसार के कारण हैं, वे चाहे शुभ हों, चाहे अशुभ हों, उन्हें हेय समझता है और जो संसार-बन्धनका छेदन करने वाले हैं उनमे उपादेय बुद्धि कर अपनी प्रवृत्ति करता है। इसीसे स्वामीने लिखा है कि ये जो जीवादिक नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थ नयके द्वारा जाने जानेपर सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कराते हैं।

ये जो नव तत्त्व हैं वे अभूतार्थ नयसे कहे गये हैं क्योकि आत्मा तो वास्तवमें एक है, अखण्ड है, अविनाशी है और यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप जो नव तत्त्व है वे भेददृष्टिसे कहे गये हैं। इनमें भूतार्थ नयसे देखा जावे तो जीव एक है, उसके एकपनको जानकर शुद्धनयके द्वारा निर्णीत आत्माकी जो अनुभूति है वही तो आत्मख्याति है। उसीके लिये यह नव तत्त्वोंका विस्तार अभूतार्थ नयसे निरूपित किया गया है।

उन नव तत्त्वोंमे विकार्य और विकारक पुण्य और पाप ये दोनों हैं अर्थात् पुण्य और पापरूप जो आत्माके परिणाम है वे स्वय विकारयोग्य हैं और विकारके उत्पादक भी हैं। इसी तरह आस्राव्य और आस्रावक ये दोनों ही आस्रव है अर्थात् आस्रवभाव, आस्राव्य है और आगामी आस्रवका कारण भी है। इसी तरह संवार्य और सवारक ये दोनों संवर है अर्थात् संवरभाव, स्वयं निरोधरूप है और आगामी कर्मोंके निरोधका कारण भी है। इसी तरह निर्जर्य और निर्जरक ये दोनों भाव निर्जरा है अर्थात् निर्जरारूप जो भाव है वह स्वयं निर्जरणस्वरूप है और निर्जराका करने वाला भी है। इसी तरह बन्ध्य और बन्धक ये दोनों ही बन्ध हैं अर्थात् जो बन्धभाव है वह स्वय बन्धने योग्य है और बन्धनका करने वाला भी है। इसी प्रकार मोच्य और मोचक ये दोनों ही मोक्ष हैं अर्थात् जो मोक्षभाव है वह मोक्ष होने योग्य और मोक्षका करनेवाला भी है।

एक ही पदार्थमे नवतत्त्व नहीं बन सकते। आत्मा अपने आप आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप परिणमनको प्राप्त नहीं हो सकता, अतः जीव और अजीव इन दोनोंके मिलनेसे इन आस्रवादि पदार्थोंका उत्पाद होता है ऐसा माना गया है। जीव नामक पदार्थमे अनेक शक्तियाँ हैं। उनमे एक विभावशक्ति भी है और योगशक्ति भी है। ये शक्तियाँ निमित्त पाकर जीवमें प्रदेश-चञ्चलता और कलुषताको उत्पन्न करती हैं। जिसके द्वारा आत्मामे आस्रव और बन्ध होता है। तथा जब तीव्र कषाय होती है तब पापके कारण अशुभ और जब मन्द कषाय होती है तब पुण्यके कारण शुभ परिणाम होते है जो कि आत्मामें पाप और पुण्यकी परिणति करते हैं। तथा जब आत्मा बन्ध-फलका अनुभवन करता है तब वह कर्म रस देकर खिर जाता है उसे निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शनके पहले सब जीवोंके होती है परन्तु उसका मोक्षमार्गमें कोई उपयोग नहीं होता। जब आत्मामें परिणामोंकी निर्मलता होनेसे विपरीत अभिप्राय निकल जाता है और

सम्यग्दर्शनका लाभ हो जाता है तब संवरपूर्वक निर्जरा होने लगती है। और जब गुणस्थान-परिपाटीसे क्रम-क्रमसे परिणामोंकी निर्मलता बढने लगती है तब उसी क्रमसे संवर बढ़ने लगता है। इस तरह ग्यारह, बारह और तेरहवें गुणस्थानमे केवल सातावेदनीयका आस्रव रह जाता है, शेष प्रकृतियोंका संवर हो जाता है और अन्तमे चतुर्दश गुणस्थानमें उसका भी संवर हो जाता है। अघातिया कर्मोंकी जो पचासी प्रकृतियाँ सत्तामे रह जाती हैं उनकी भी उपान्त्य और अन्त्य समयमे निर्जरा कर आत्मा मोक्षका लाभ करता है। इस तरह ये नव तत्त्व पदार्थद्वय—जीव-अजीवके सम्बन्धसे होते है। बाह्य दृष्टिसे जीव और पुद्गलकी जो अनादि कालसे बन्धपर्याय प्रवाहरूपसे चली आ रही है यदि उसकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो एकपनसे अनुभूयमान होने वाले ये नव तत्त्व सत्यार्थ हैं और मिश्रिता-वस्थाको छोडकर केवल जीवद्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं। केवल न जीवद्रव्य नवरूप हो सकता है और न केवल अजीव (पुद्गल) द्रव्य ही नवरूप हो सकता है। जैसे नमक, मिर्च, खटाई, यदि इनको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और तीनोको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च-खटाई इस तरह अनेक स्वाद हो जाते हैं। यदि तीनोको पृथक्-पृथक् रखा जावे तो मिश्रमे जो स्वाद आता है वह केवलमे नहीं आ सकता। इसी तरह जीवमे जो आस्रवादि होते है वह पुद्गलसम्बन्धसे ही हैं, केवल जीवमे तो एक ज्ञायकभाव ही है और अन्तमे पुद्गलका सम्बन्ध विच्छेद होने पर वही रह जाता है। अत एव केवल जीवके अनुभवमें ये नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। इसलिये इन नव तत्त्वोंमे भूतार्थनयसे विचार किया जावे तो केवल एक जीव ही भूतार्थ है तथा अन्तर्दृष्टिसे ज्ञायकभाव जीव है। जीवके विकारका कारण अजीव है, जब ऐसी व्यवस्था है तब जीवके विकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप हैं और ये अजीवके विकारके कारण हैं। इसी तरह अजीवरूप भी पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं और ये जीवके विकारके कारण है। ये जो नौ तत्त्व हैं इनका यदि जीवद्रव्यके स्व-भावको छोड़कर स्वपरनिमित्तक एकद्रव्यपर्यायरूपसे अनुभव किया जावे तो ये भूतार्थ हैं और सकल कालमे अपने स्वभावसे स्खलित न होने वाले जीवद्रव्यके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि इन नव तत्त्वोंमें भूतार्थनयके द्वारा एक जीव ही प्रद्योतमान है क्योंकि वह द्रव्य है। द्रव्य स्थास्नु (नित्य) है, पर्याय अस्थास्नु (अनित्य) है अतएव नश्वर है। इस प्रकार एकपन कर द्योतमान जीव शुद्धनयके द्वारा अनुभवका विषय होता है और जो यह अनुभूति है वही आत्मख्याति है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है, इस रीति से यह समस्त कथन निर्दोष है। अमृतचन्द्रस्वामीने कहा है—

> चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
> कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
> अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
> प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अर्थ—चिरकालसे यह आत्मज्योति नवतत्त्वके अन्तस्तलमें लुप्त-सी हो रही है। जैसे वर्णमालाकलापमें अर्थात् मिश्रित अन्य द्रव्योंके वर्णसमूहमें सुवर्ण मग्न रहता है, किन्तु जैसे पाकादिक्रिया द्वारा शुद्ध सुवर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही यह आत्मज्योति भी शुद्धनयके द्वारा विकासमें लायी जाती है। अतएव हे भव्यात्माओ! इसे निरन्तर अन्य द्रव्यों तथा उनके निमित्तसे होने वाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न एकरूप देखो। यह आत्मज्योति प्रत्येक पर्यायमें चिच्चमत्कारमात्रसे प्रकाशमान है।

इस संसारमें यावत् द्रव्य है वे सब अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा ही परिणमन करते हैं। यदि कालकी विवक्षा की जावे तो सभी द्रव्योंके परिणमन नाना हैं। उनमें आकाश, काल, धर्म और अधर्म ये चार द्रव्य सदा एक (सदृशपरिणमन) रूप ही रहते हैं, किसी भी कालमें उनका विसदृश परिणमन नहीं होता, क्योंकि उन द्रव्योंमें विभावशक्तिका अभाव है। शेष जीव और पुद्गल द्रव्य परस्पर निमित्त पाकर नाना प्रकारके परिणमनके कर्ता होते हैं क्योंकि उनमें विसदृश परिणमन कराने वाली विभावशक्ति विद्यमान है। यही कारण है कि जीव और पुद्गलमें यह आस्रवादिक परिणमन होता है।

अब यहाँ विचार करनेकी परमावश्यकता है। यह जो (दृश्यमान) परिणमन है वह सम्यग्दृष्टिके भी होता है और मिथ्यादृष्टिके भी होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि मात्र पर्यायमें अहंता—अहंभाव धारण कर ससारका पात्र होता है। सम्यग्दृष्टि भी यद्यपि पर्यायको अपनी जानता है परन्तु वह यह मानता है कि यह जो पर्याय निष्पन्न हुई है वह विजातीय द्रव्यके सम्बन्धसे हुई है अतएव स्वभावरूप और स्थिर नहीं है, कारणके अभावमें मिट जावेगी, आकुलताकी उत्पादक है तथा आस्रवादिकी जनक है; अतः वर्तमानमें उसे अपनी मान कर भी उसके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है। यदि सर्वथा अपनी न समझे तो उसे पृथक् करनेका जो प्रयास है वह सब व्यर्थ हो जावे और इसी तरह रागादि विभाव या आस्रवादि सर्वथा आत्माके नहीं हैं ऐसा समझे तो रागानुत्पत्तिको संवर और बन्धफलानुभवको निर्जरा कहा है वह सब व्यर्थ हो जावे तथा मोक्षका जो लक्षण 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' कहा गया है वह सब भी असंगत हो जावे। अत आत्माका जो एकपना कहा गया है वह शुद्धनयकी दृष्टिमें है, अशुद्धनय—पर्यायदृष्टिमें नहीं है। परन्तु जो जीव सर्वथा पर्यायमें ही अपना अस्तित्व मान रहे हैं और द्रव्यसे पराङ्मुख हैं उन्हें यथार्थ वस्तु अवगत करानेके लिये तथा पर्यायके कारण जो नानात्व बुद्धि हो रही है उसके निवारण के अर्थ आचार्यप्रभुका कहना है कि एकपनकर जाना हुआ जो शुद्धात्माका विषय है वह वस्तु, नानापर्यायोंमें रहता हुआ भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ता। जैसे सुवर्णद्रव्य किट्ट-कालिकादि परद्रव्यके सम्बन्धसे अनेक अवस्थाओंको धारण करता हुआ भी द्रव्यदृष्टिसे स्वकीय सुवर्णताको नहीं त्यागता, इस तरह द्रव्यदृष्टिसे कोई हानि नहीं, परन्तु पर्यायदृष्टिसे हानि अवश्य हुई। उस सुवर्णको यदि वसन्तमालिनी बनाना चाहो तो वैद्य तत्काल कहेगा कि यह अशुद्ध सुवर्ण है, इसका उपयोग दवाईमें नहीं होता, क्योंकि इसकेवर्णादिगुण विकृत

हैं, गुणकारी नहीं हैं। इसी तरह जो आत्मा परपदार्थोंके सम्बन्धसे मोही हो रहा है उसके चारित्रादि गुण भी विकारी हैं, अतः यह आत्मा अनन्त सुखका पात्र नहीं हो सकता। अनन्त सुख आत्माका एक अनुपम विकासरूप गुण है, इसीके लिये ही महापुरुषोंने प्रयास किया और इसके भोक्ता हुए तथा अब भी जो सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थ कर रहे हैं वे इसीके अर्थ कर रहे है, अतः इन परपदार्थोंके सम्बन्धसे होने वाली नानापनकी बुद्धिको त्यागकर आत्माके एकपनका अनुभव करो, जो संसार-दुःखसे छूटनेका मूल उपाय है।

इस प्रकार एकपनकर जानी हुई जो आत्मा है उसके जाननेके उपाय प्रमाण, नय और निक्षेप हैं। ये उपाय भी अभूतार्थ हैं। इनमे एक जीव ही भूतार्थ है। प्रमाण दो तरहका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। जो प्रमाण परकी अपेक्षा न कर केवल आत्मद्रव्यके द्वारा ही उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष सकल और विकलके भेदसे दो तरहका है। सकलप्रत्यक्ष केवली भगवान्के होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। और विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमे अवधिज्ञान असयमी और सयमी दोनोंके होता है किन्तु मनःपर्ययज्ञान संयमीके ही होता है। इनमें अवधिज्ञान भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे तीन प्रकारका होता है। इनमें परमावधि, सर्वावधि और देशावधिका उत्कृष्ट भेद संयमीके ही होता है। अवधिज्ञान सामान्यरूपसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके ही होता है किन्तु मनःपर्ययज्ञान ऐसा नहीं है, वह तो सयमीके ही होता है।

परोक्ष ज्ञान मति और श्रुतके भेदसे दो प्रकारका है। इनमे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। असज्ञी जीवोंके इन्द्रियजन्य ही मतिज्ञान है परन्तु सज्ञी जीवोके इन्द्रिय और मन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान है। सज्ञी जीवोंका श्रुतज्ञान भी मन तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और असंज्ञी जीवोंके इन्द्रियो द्वारा ही होता है। 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' यह जो सूत्र है वह अक्षरात्म श्रुतज्ञानके अर्थ है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। जहाँ श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहाँ परम्परासे, विचार किया जावे तो, मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

यदि इन दोनों ज्ञानोंका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी विवक्षासे विचार किया जावे तो भूतार्थ हैं अर्थात् दोनों ही प्रमाण हैं और सम्पूर्ण भेद जिसमे गौणताको प्राप्त हो गये हैं ऐसे जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं।

नय दो प्रकारका है—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक, क्योंकि इनका प्रतिपाद्य पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। इन दो अंशोंमें जो सामान्य अशको कहनेवाला है वह द्रव्यार्थिकनय है और जो विशेष अशको कहनेवाला है वह पर्यायार्थिकनय है। द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करनेवाला है, इसका यह तात्पर्य है कि इस नयका विषय सामान्य है, यह तात्पर्य नहीं कि विशेष कोई वस्तु ही नहीं है। हाँ, वह अवश्य है, पर यह नय उसे

विषय नहीं करता किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है, इसीसे आचार्यने लिखा है—'सापेक्षो हि सन्नयः'।

श्रीसमन्तभद्र स्वामीने भी देवागम स्तोत्रमें ऐसा ही कहा है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न. ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

अर्थ—निरपेक्ष अर्थात् एक-एक धर्मका कथन करनेवाले जो नय हैं वे सब मिथ्या हैं, उनका जो समूह है वह भी मिथ्या ही है और जो नय सापेक्षताको लेकर कथन करते है वे सम्यग् नय हैं और वही वस्तुभूत हैं तथा वही अर्थक्रिया करनेमें समर्थ हैं।

इन्हीं स्वामीने अरनाथ भगवान्की स्तुतिमें स्वयम्भूस्तोत्रमें भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥

अर्थ—पदार्थ सत् है, एक है, नित्य है, वक्तव्य है और इनसे विपरीत असत् है, अनेक है, अनित्य है, अवक्तव्य है। इस तरह जो नय सर्वथा—निरपेक्ष होकर कथन करते हैं वे दाषयुक्त है और जो 'स्यात्' शब्दके सहयोगसे कथंचित्—सापेक्षभावसे कथन करते हैं वे इष्टको पुष्ट करते हैं।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय अपने विषय द्रव्यको कहता है। पर्यायार्थिकनयका विषय विशेष अर्थात् पर्याय है। यह नय द्रव्यको नहीं देखता, किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है। इसीसे 'स्यात्' पदकी उसके साथ योजना की जाती है।

इन दोनों नयोंका जो परस्पर मैत्रीभाव है वह प्रमाण है। वस्तु न केवल द्रव्यस्वरूप है और न केवल पर्यायस्वरूप है किन्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। अतएव श्रीकुन्दकुन्द महाराजने लिखा है—

पज्जय-विजुद दव्व दव्व-विजुत्ता न पज्जया हुति ।
दोण्ह अणण्णभूद भाव समणा परूविति ॥

अर्थ—अर्थात् पर्यायके बिना द्रव्यका कोई स्वत्व नहीं और द्रव्यके बिना पर्यायोंका अस्तित्व नहीं, किन्तु द्रव्य और पर्याय दोनोंके अस्तित्वको लेकर ही वस्तुका अस्तित्व है। वही वस्तुका यथार्थ अवलोकन है, इसीको प्रमाण कहते है। दोनों नय द्रव्य और पर्यायका क्रमसे अनुभव करते हुए प्रमाणभूत हैं—सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्यायकी विवक्षासे रहित शुद्ध वस्तुमात्र जीवस्वभावकी अनुभूतिमें वे अभूतार्थ हैं।

जिस प्रकार वस्तुको जाननेके लिए प्रमाण और नय कारणरूप हैं उसी प्रकार निक्षेप भी कारणरूप है और वह नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भावके भेदसे चार प्रकारका है। जिसमें

जो गुण तो नहीं हैं मात्र व्यवहारके लिए उन गुणोंकी अपेक्षा किये बिना उसका नाम रख दिया जाता है वह नामनिक्षेप है। जैसे किसीका नाम हाथीसिंह रख दिया। अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी स्थापना करना स्थापनानिक्षेप है। जैसे 'यह वही आदिनाथ है' इस प्रकार प्रतिमामें आदिनाथ भगवान्‌की स्थापना करना। यह स्थापना तदाकार और अतदाकारके भेदसे दो प्रकारकी होती है। वर्तमान पर्यायसे अन्य अतीत और अनागत पर्यायमें वर्तमान पर्यायका कथन करना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजपुत्र और राज्यभ्रष्टको राजा कहना। वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भाव कहते है, अतः भाव अर्थात् वर्तमान पर्यायको वर्तमानरूपसे ही कहना भावनिक्षेप है। ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणोंकी विलक्षणतासे अनुभवमें आते हैं अतः भूतार्थ है—सत्यार्थ है और सब लक्षणोको गौण कर केवल एक जीवस्वभावकी अनुभव दशामे अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। इस प्रकार इन नव तत्त्वों तथा प्रमाण-नय-निक्षेपोंमे भूतार्थनयके द्वारा एक जीव ही प्रकाशमान है अर्थात् पदार्थान्तरका सम्बन्ध पाकर उसीकी नाना पर्यायें दिख रही है। वास्तवमे तो वह एक अखण्ड अविनाशी चैतन्य पिण्ड है। श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कहते है—

मालिनीछन्द

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
कवचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्नुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अर्थ—समस्त भावोंको नष्ट करनेवाले शुद्धनयके विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजःपुञ्जस्वरूप आत्माका अनुभव होनेपर नयोकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपोका समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नहीं जानते। और अधिक क्या कहें, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

मोहके उदयसे जो रागादिभाव होते हैं वही नाना प्रकारकी कल्पनाएँ कराके विविध पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि कराते हैं। जो मोह कल्पनाओंका कारण है उसके विलीन हो जाने पर उक्त कल्पनाएँ कहाँ हो सकती हैं ? आगे अमृतचन्द्र स्वामी शुद्धनयकी महिमाका गान करते हैं—

उपजातिछन्द

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अर्थ—परभावसे भिन्न, सब ओरसे पूर्ण, आदि-अन्तसे रहित, एक और जिसमें

औपाधिक संकल्प-विकल्पोंका समूह विलीन हो गया है ऐसे आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—वास्तवमे शुद्धनयकी कोई अनिर्वचनीय ही महिमा है क्योंकि उसके होते ही पर और परके निमित्तसे जायमान रागादि विभावभावोंसे भिन्न आत्माका स्वभाव भासमान होने लगता है। वह आत्मस्वभाव क्षयोपशम अवस्थामें अपूर्ण रहता है, परन्तु सर्व-तत्त्वावभासी केवलज्ञानके होनेपर आसमन्तात् पूर्ण हो जाता है, किसीसे उत्पन्न नहीं होता और कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये अनादि-अनन्त है, सामान्यदृष्टिसे रहित है और मोह तथा रागद्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सकल्प-विकल्पोके जालसे रहित है ॥१३॥

अब उस शुद्धनयका स्वरूप कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठ अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणाहि ॥१४॥

अर्थ—जो नय आत्माको बन्ध और स्पर्शसे रहित, अन्यपनेसे रहित, चलाचलभावसे रहित, विशेषतासे रहित और संयुक्तपनस रहित जानता है उसे शुद्ध नय जानो।

विशेषार्थ—जो नय निश्चयसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माका अनुभव करता है वही शुद्ध नय है। यहाँ पर वस्तुका विचार केवल द्रव्यस्वभाव-को लेकर किया जाता है, अतः उसके निरूपणमं परपदार्थके निमित्तसे जो भी अवस्था होती है वह सब अभूतार्थ कही जाती है। और यदि परपदार्थके सम्बन्धसे उन अवस्थाओंका विचार किया जावे तो वे सब अवस्थाएँ सत्यभूत होती हैं।

आत्माका जो स्वरूप ऊपर कहा गया है उसका अनुभव कैसे होता है? उसीको कहते हैं—ये जो बद्ध-स्पृष्ट आदि जीवकी अवस्थाएँ हैं वे अभूतार्थ हैं क्योंकि पर पदार्थके सम्बन्धसे जायमान है। जैसे जिस कालमें कमलिनीका पत्र जलमें निमग्न रहता है उस कालमे उसका विचार करिये। विचार करनेपर अवगत होता है कि सलिलका कमलिनी पत्रके साथ जो सम्बन्ध है वह सत्य है—भूतार्थ है क्योंकि कमलिनी-पत्रका जलके साथ संयोग हो ही रहा है। परन्तु जब केवल कमलिनीके पत्रका विचार किया जाता है तब अवगत होता है कि कमलिनीपत्रका स्वभाव सलिलके स्पर्शसे रहित है अतः वह जलसंयुक्तपना अभूतार्थ है। इसी प्रकार आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। जब उसको लेकर विचार किया जाता है तब आत्मामें बद्ध-स्पृष्ट पर्यायें भूतार्थ ही हैं ऐसा अनुभव होता है और पुद्गल जिसका स्पर्श नहीं कर सकता ऐसे आत्म-स्वभावको लेकर जब विचार किया जाता है तब बद्ध-स्पृष्ट पर्यायें अभूतार्थ हैं ऐसा प्रतीत होता है।

इसी तरह जब मृत्तिकाका घट बनाते हैं तब उसकी पहले जलके द्वारा आर्द्रावस्था

की जाती है। बादमें स्थास, कोश, कुसूल और घटकी निष्पत्ति होती है। जब वह घट भग्न हो जाता है तब उसके टुकड़ोंको कपाल कहते हैं तथा जब और भी छोटे टुकड़े हो जाते हैं तब उन्हें कपालिका कहते हैं। इस तरह स्थास, कोश, कुसूल, घट, कपाल और कपालिका आदि अनेक पर्यायें मृत्तिकाकी होती हैं, वे सब पर्यायें परस्परमें भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न कार्य भी उनके देखे जाते हैं, अतः उन सबमे जो अन्यपना है वह भूतार्थ है। परन्तु जब सब पर्यायों में एकरूपसे रहने वाले मृत्तिकास्वभावकी ओर दृष्टि देकर विचार किया जाता है। तब वह अन्यपना अभूतार्थ हो जाता है।

इसी तरह जीवकी नर-नारकादि पर्यायको लक्ष्य कर यदि विचार किया जावे तो नारकी अन्य है, मनुष्य पर्यायवाला जीव अन्य है, सुर अन्य है, पशु अन्य है। सबके निमित्तभूत कर्म अन्य-अन्य हैं तथा सब पर्यायोंमे अभेदरूपसे रहनेवाला जो जीवका स्वभाव है उसकी विवक्षासे विचार किया जावे तो वह अन्यपना अभूतार्थ है।

जैसे समुद्रमें जब समीरके सचरणका निमित्त मिलता है तब नाना तरङ्गोंकी माला उठती है और जब समीरके संचरणका निमित्त नहीं मिलता तब तरङ्गमाला नहीं उठती। इस रूपसे कभी तो समुद्र वृद्धिरूप हो जाता है और कभी हानिरूप हो जाता है अर्थात् उसकी नियतावस्था नहीं रहती। इस विवक्षाको लेकर समुद्रमे अनियतपना भूतार्थ है और नित्य व्यवस्थित रहनेवाले समुद्रस्वभावको लेकर विचार किया जावे तो वह अनियतपना अभूतार्थ है। एव आत्माकी वृद्धि-हानिरूप पर्यायको लेकर विचार किया जावे तो उसमें अनियतपन भूतार्थ है और यदि आत्मस्वभावको लेकर विचार किया जावे तब आत्मा तो सर्वदैव अखण्ड अविनाशी द्रव्यरूपसे विद्यमान है अतः उसमें यह अनियतपन अभूतार्थ है।

जैसे सुवर्णके स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन आदि गुणोंको लेकर जब विचार करते हैं तब उसमें जो विशेषपन है वह भूतार्थ है क्योंकि अन्य धातुओंकी अपेक्षा सुवर्णका स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन निराला ही है। परन्तु जिसमें समस्त विशेष अस्त हो गये ऐसे सामान्य सुवर्णस्वभावको लेकर जब अनुभव किया जाता है तब वह विशेषपना अभूतार्थ है। ऐसे ही आत्माके जो ज्ञानदर्शनादि गुण हैं उनकी विशेषतासे जब विचार किया जाता है तब आत्मामें अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा विशेषता भूतार्थ है क्योंकि अन्य द्रव्यों में यह विशेषता नहीं पाई जाती। और जिसमें सम्पूर्ण विशेषताओंका अभाव हो गया है ऐसे आत्माके एकस्वभावको लेकर यदि विचार करते हैं तो यह विशेषता अभूतार्थ है।

जैसे जलमें अग्निका सम्बन्ध पाकर जब उष्णता हो जाती है तब यदि विचार किया जावे तो उसमें संयुक्तपन सत्यार्थ है और यदि जलके केवल शीतस्वभावको लेकर विचार किया जावे तो यह संयुक्तपन अभूतार्थ है क्योंकि जल स्वभावसे उष्ण नहीं है, अग्निके सम्बन्धसे ही उष्णताका लाभ करता है। इसी तरह आत्माका जब कर्मसहित पर्यायके सम्बन्धसे विचार करते हैं तब उसमें सयुक्तपन भूतार्थ ही है क्योंकि विजातीय द्रव्यके

सम्बन्धको पाकर ही आत्मा और कर्मोंका अनादिकालसे संयोग चला आ रहा है, इस स्थितिमें आत्मामें जो संयुक्तपन है वह भूतार्थ है। और जब एकान्तसे केवल स्वयबोध-स्वरूप जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जाता है तब यह संयुक्तपन अभूतार्थ है। इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमान समन्ताज्-
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

अर्थ—यह जगत् मोहरहित होकर अर्थात् मिथ्यात्वके आवरणको दूरकर सब ओरसे प्रकाशमान उसी एक आत्मस्वभावका अनुभव करे, जिसमें ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव स्पष्ट रूपसे ऊपर तैरते हुए भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नही होते।

भावार्थ—स्वामी कहते है कि ये जो बद्ध, स्पष्ट आदि भाव है वे आत्मस्वरूपके साथ मिलकर एकमेक नहीं हो जाते, ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं ऐसा सब ओर विकासरूप जो आत्म-स्वभाव है उसीका अनुभव करो। आत्म-स्वभाव जगत्‌के ऊपर ही रहता है, अनुभवमे भी यही आता है कि संसारमे जितने पदार्थ है वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए अपने अखण्डरूपसे विराजमान हो रहे है। एक अंश भी अन्यका अन्यमे नहीं जाता। यदि एक पदार्थ अन्य रूप हो जावे तो ससारका ही अभाव हो जावे।

इस आत्माका अनुभव कब और किस जीवको होता है, यह कलश द्वारा स्वामी दिखलाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भूत मान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्त किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुव
नित्य कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वय शाश्वत ॥१२॥

अर्थ—यदि कोई भेदविज्ञानी सुबुद्धि पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसे कालत्रय सम्बन्धी बन्धको वेगसे भेदकर तथा बलपूर्वक मोहको विध्वस्त कर अन्तरङ्गमे अवलोकन करता है तो उसे दिखाई देता है—उसके अनुभवमे आता है कि यहाँ एक आत्मानुभवसे ही जिसकी महिमा जानी जा सकती है, जो अत्यन्त स्पष्ट है, निरन्तर कर्मकलङ्करूपी पङ्कसे रहित है तथा शाश्वत—अविनाशी है ऐसा आत्मदेव स्थायीरूपसे विराजमान हो रहा है।

भावार्थ—परमार्थसे आत्मतत्त्व तो आत्मतत्त्वमे ही है, परन्तु हम उसे संसारके बाह्य पदार्थोंमें अवलोकन करते हैं। जैसे हरिणके अण्डकोशमे कस्तूरी है, पर वह संसारमे खोजता है, यही भूल है। इसी प्रकार आत्मा तो अपने आपमे ही है किन्तु हमारी प्रकृति तीर्थ, मन्दिर तथा पुराण आदिमे देखनेकी हो गई। जब तक बाह्य दृष्टिका त्यागकर आभ्यन्तर नहीं देखा जावेगा तब तक उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही नही, असम्भव है।

आगे वही आत्मदेव उपासना करने योग्य है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

> आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
> ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
> आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
> मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन समन्तात् ॥१२॥

अर्थ—शुद्धनयके द्वारा जो आत्मानुभूति होती है वही ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर आत्मामें ही आत्माको निश्चलभावसे स्थापित कर अवलोकन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सब ओरसे ज्ञानघन एक आत्मा ही निरन्तर अनुभवमे आता है।

भावार्थ—अनादि कालसे आत्माका सम्बन्ध कर्मोंके साथ हो रहा है और इसीसे नर-नारकादि यावत् पर्याय हैं वे सब असमानजातीय दो द्रव्योंके सम्बन्धसे निष्पन्न हुई हैं, उनमें नाना प्रकारके बद्ध, स्पृष्टत्वादि भाव आत्माके होते हैं। एक द्रव्य स्वय बन्धको प्राप्त नही होता, अतः उसमे बद्धत्व भाव मानना सर्वथा असगत है। इसी प्रकार द्रव्यका जो नानारूप परिणमन दिखता है वह भी परके सम्बन्धसे है। जैसे केवल परमाणुमे नाना प्रकारके परिणमन नही हो सकते हैं और जब वही परमाणु स्कन्धरूप हो जाता है तब शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि नाना भेदोंको प्राप्त हो जाता है, केवल परमाणुमे वे नही है। इसी तरह केवल आत्मामे नरनारकादि पर्यायें नहीं बन सकती, किन्तु मोहादिकर्मोके सम्बन्धसे उसी जीवकी अनेक पर्यायें हो जाती है। केवल जीवमे उन पर्यायोंका अस्तित्व नही है, परपदार्थके सम्बन्धसे ही इन नाना प्रकारके परिणमनोंका अस्तित्व है।

इन सब परिणमनोका मूल कारण अनादि कालसे आत्माका पर अर्थात् ज्ञानावरणादि-कर्मोसे सम्बन्ध है। उनका निमित्त पाकर आत्मामे रागादिक परिणाम होते है और रागादिक परिणामोका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणाओका ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हो जाता है तथा उनके सम्बन्धसे इस आत्माका नाना प्रकारके शरीरोके द्वारा चतुर्गतिमे परिभ्रमण होता रहता है। जिन जीवोको इस परिभ्रमणसे बचनेकी इच्छा है वे इन परपदार्थोंके सम्बन्धसे अपने आपको सुरक्षित रखे और स्वकीय आत्माके उस एकत्वका अनुभव करे जहाँ इन बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भावोंका अवकाश नहीं। यही उपदेश अमृतचन्द्र स्वामीने उपर्युक्त कलशोंमे दिया है—हे जगत्के प्राणिगणो ! आप लोग उस सम्यक् स्वभावका अनुभव

करो जहाँपर ये बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भाव ऊपर-ऊपर ही भासमान हो रहे हैं किन्तु उसके अन्तरङ्गमे प्रतिष्ठा नहीं पाते हैं क्योंकि द्रव्यस्वभाव सर्वदा नित्य है, सब प्रदेशोंमे प्रकाशमान हो रहा है। आवश्यकता इसकी है कि हम मोहभावका त्यागकर उसकी ओर देखे। केवल वचनमात्रसे साध्यसिद्धि होना असंभव है। जो कोई सम्यग्ज्ञानी कालत्रय सम्बन्धी बन्धको भेदकर और बलपूर्वक मोहका घातकर अन्तरङ्गमें उस आत्माको देखता है अर्थात् निरन्तर अभ्यास करता है उसे आत्मानुभवसे गम्य महिमावाला, स्पष्ट, नित्य कर्म-कलङ्कसे निकल शाश्वत देवस्वरूप आत्माका अवलोकन होता है। द्रव्यदृष्टिसे देखा जावे तो आत्मा अपने स्वरूपसे अभिन्न और परभावसे भिन्न है परन्तु अनादिकालसे मोहादि-कर्मोंके साथ सम्बन्ध होनेसे नाना प्रकारकी योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ अनेक दुःखोंका पात्र होता है। सो यदि बलपूर्वक मोहका नाशकर अतीत, अनागत और वर्तमान कालीन बन्धका नाशकर अन्तरङ्गमें अभ्यास करे तो वहां आत्मारूपी देव स्वयं शाश्वत विद्यमान है ही। शुद्धनयका विषयभूत जो आत्माकी अनुभूति है, वही ज्ञानकी अनुभूति है, इस प्रकार निश्चयसे जानकर आत्मामे आत्माका निवेशकर सब ओरसे एक विज्ञानघन आत्मा है, ऐसा देखना चाहिये। परमार्थसे ससारमे जितने द्रव्य है वे सब अपने अस्तित्व गुणसे भिन्न-भिन्न है, किसी द्रव्यका किसी द्रव्यके साथ एकीभाव नहीं होता। विजातीय द्रव्योंकी कथा ही क्या कहना है जो सजातीय एकलक्षणवाले पुद्गल परमाणु है उनका स्निग्ध-रूक्ष-गुणोके द्वारा बन्ध होकर भी तादात्म्य नहीं होता। वस्तुस्थिति ही ऐसी है, इस व्यवस्थाका कोई भी अपलाप नहीं कर सकता, क्योंकि यह अनादि अनन्त है ।।१४।।

आगे शुद्धनयके विषयभूत आत्माको जो जानता है वह समस्त जिनशासनको जानता है, यह कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।।

अर्थ—जो जीव आत्माको अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्य-भावश्रुतरूप समस्त जिनागमके रहस्यको जानता है।

विशेषार्थ—जो अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पॉच भावरूप आत्माकी अनुभूति है वह सम्पूर्ण जिनशासनकी अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्माकी अनुभूति है। वस्तुकी मर्यादा तो यह है फिर भी जो अज्ञानी है और परज्ञेयोंमें लुब्ध हैं वे सामान्यरूपसे प्रकट तथा विशेषरूपसे अप्रकट अनुभवमे आनेवाले ज्ञानके स्वादसे वञ्चित रहते हैं अर्थात् ऐसा ज्ञान उन्हें रुचिकर नहीं होता, यही दिखाते हैं—

१ अपदेशसूत्रमध्यम्-अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रं परिच्छित्तिरूप भावश्रुत ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्य ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। ता० वृ०।

जैसे नाना प्रकारके व्यञ्जनोंके साथ लवणका सम्बन्ध होनेसे लवणका सामान्य स्वाद तिरोहित हो जाता है। उस समय जो व्यञ्जनके लोभी पुरुष हैं वे शुद्ध लवणके स्वादसे वञ्चित रहते हैं, विशिष्ट स्वादका अनुभव करते हैं। कोई कहता सेव नमकीन है, कोई दाल-मोटको नमकीन कहता है। कहाँ तक कहा जावे, जिस-जिस वस्तुके साथ लवणका सम्बन्ध हुआ है उस-उस वस्तुको नमकीन कहते हैं, और शुद्ध लवणके स्वादसे वञ्चित रहते हैं। यद्यपि जो विशेष रूपसे लवणका स्वाद आ रहा है वह स्वाद सामान्यसे भिन्न नहीं है, किन्तु जो व्यञ्जनोंमे लुब्ध हैं वे इस सामान्य स्वादसे अपनेको वञ्चित रखते है। इसी पद्धतिसे विचित्र ज्ञेयोंके सम्बन्धसे सम्बन्धित जो ज्ञान है उसका घटपटमठादिके भेदसे अनेकाकार परिणमन हो रहा है। इस कालमे जो जीव ज्ञयोमे लुब्ध है उन्हे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद नहीं आता, क्योंकि वे ज्ञेयोंमे लुब्ध है। यद्यपि जो विशेषरूपसे ज्ञानका अनुभव हो रहा है उसका सामान्य अनुभव हो रहा है, उसका सामान्य अनुभवसे वास्तविक भेद नहीं है। परन्तु जो ज्ञेयोंमे लुब्ध है उन्हें इसका प्रत्यय नहीं होता है।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि जो व्यञ्जनमें लुब्ध नहीं है उन्हें जैसे अन्यके सयोगसे रहित सैन्धव (नमक) की खिल्लीका सब ओरसे एक लवणरसपन होनेसे केवल लवणरूपसे स्वाद आता है। अर्थात् लवणकी ककडीका किसी ओरसे स्वाद लीजिये, केवल खारेपनका ही स्वाद आता है क्योंकि उसमे द्रव्यान्तरका सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह परद्रव्यके सम्बन्धसे रहित केवल आत्माका जो जीव अनुभव करनेवाले हैं उन्हें केवल एक आत्माका ही आस्वाद आता है क्योंकि उसमें सब ओर विज्ञानघन वही आत्मा है, परपदार्थका वहाँ अवकाश नहीं। है तो वस्तु ऐसी, परन्तु अज्ञानी मनुष्योंको उसकी स्वच्छतामे जो ज्ञेय आते है उनकी ही लुब्धता होनेसे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानकी अनुभूति होती है। यद्यपि ऐसा होता नही, क्योंकि ऐसा नियम है कि न ज्ञान ज्ञेयोंमे जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमे आता है। जब जाता नहीं तब स्वाद कैसा ? परन्तु बलिहारी अज्ञानकी, जो कल्पना न करे सो थोडी है। परपदार्थमे निजत्व कल्पना ही दुःखका मूल कारण है, इसीको पृथक् करनेके अर्थ यह सब तत्त्वज्ञान है, उसकी महिमा अपार है।

अब अमृतचन्द्र स्वामी कलश द्वारा भावना प्रकट करते है कि वह परम तेज हमारे प्रकट हो—

पृथ्वीछन्द

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अर्थ—जो अखण्डित है अर्थात् ज्ञेयोंके आकारसे खण्ड-खण्ड नहीं होता है, जिस प्रकार दर्पणमे नाना प्रकारके प्रतिबिम्ब पडनेपर भी उसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है। इसी

प्रकार समस्त पदार्थोंका ज्ञायक होनेपर भी जिसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है, जो अनाकुल है अर्थात् मोहादि कर्मोंके विपाकसे जायमान रागादि प्रयुक्त नाना प्रकारकी आकुलतासे रहित है, जो अनन्त है अर्थात् परके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकज्ञानका अन्त हो जाता है, अथवा पहले परिमित पदार्थोंके अवबोधसे सान्त व्यपदेश पाता था, अब इन दोनों कारणोंका अभाव हो जानेसे जो अनन्त है, जो अन्तरङ्ग और बाह्यमें जाज्वल्यमान है अर्थात् आभ्यन्तरमें आत्माको जानता है और बाह्यमे बाह्य पदार्थोंका प्रकाशक है, जो सहज है तथा सहज ही जिसका विलास है, जो चेतनाका छलकसे अतिशय भरा हुआ है, जो अतिशय सुशोभित है और लवणखिल्यकी लीलाका आचरण करता हुआ जो सदा एकरसका आलम्बन करता है अर्थात् सदा एक ज्ञायकभावसे भरा रहता है वह विज्ञानघन परमतेज हमारे हो।

आगे सिद्धिके अभिलाषी पुरुषोको इसी आत्माकी उपासना करना चाहिये, यह कलश द्वारा कहते है—

> एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि ।
> साध्यसाधकभावेन द्विधैक समुपास्यताम् ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष सिद्धि—मोक्षके अभिलाषी हैं उन्हें इसी ज्ञानघन आत्माकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। यह आत्मा यद्यपि साध्य और साधकके भेदसे दो प्रकारका है तथापि परमार्थसे एक है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमे तो द्रव्यदृष्टिसे एक है परन्तु कर्मजभावोंसे विशिष्ट जो आत्मा है वह ससारी है और कर्मजभावोसे अतीत जो त्मा है वह मुक्त है, ऐसा उसमे द्विविधपना है। जिन जीवोको काललब्धि आदि निमित्त मिल जाते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्तकर साधनावस्थाको प्राप्त हो जाते है और वही साधनावस्था वृद्धिगत होते-होते एकदिन पूर्ण सामग्रीको पाकर अभीष्ट साध्यसिद्धिका लाभ करानेमे समर्थ हो जाती है ॥१५॥

आगे दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधकभाव हैं, अत. साध्यकी सिद्धिके लिए इनकी उपासना करना चाहिये, यह कहते हैं—

> **दसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च ।**
> **ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाण चेव णिच्छयदो ॥१६॥**

अर्थ—साधु पुरुषोंको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र सेवन करने योग्य हैं। निश्चयसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही आत्मा हैं।

विशेषार्थ—जीवको मुक्त अवस्था साध्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके साधन है, अतः साधु पुरुषोंको इनकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। तत्त्वदृष्टिसे ये तीनों आत्मा

ही हैं, आत्मासे भिन्न नहीं हैं, इसलिये अभेद दशामें आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है। यही आचार्य श्रीनेमिचन्द्रने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

सम्मद्दंसण-णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तिय-मइओ णिओ अप्पा ॥

अर्थ—व्यवहारसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मोक्षमार्ग हैं और निश्चय से इन तीनसे तन्मय अपना आत्मा मोक्षमार्ग है, ऐसा जानो।

केवल गुण-गुणीकी भेदविवक्षासे आत्मा और ज्ञानादिगुणोमे भेदव्यवहार होता है। यदि गुण-गुणीकी भेदविवक्षा न की जावे तो कोई भेद नहीं है। द्रव्य और गुणमे प्रदेश-भेद नहीं, किन्तु लक्षणादि भेद है। यही श्री समन्तभद्र स्वामीने देवागममे कहा है—

द्रव्य-पर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेकत ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत. ॥
सज्ञा-सख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा ॥

अर्थ—अर्थात् प्रदेशभेदाभाव होनेसे द्रव्य और पर्यायमे एकता है तथा परिणामविशेष, शक्तिमान् और शक्तिभाव, संज्ञाविशेष, सख्याविशेष, स्वलक्षणविशेष तथा प्रयोजनादिके भेदसे उनमे नानापन है, सर्वथा नानापन नही है।

जिस भावसे आत्मा साध्य और साधनरूपसे विद्यमान है उसी भावके द्वारा नित्य ही उपासना करने योग्य है, ऐसा जब आपको निश्चय हो जाता है तब व्यवहारसे अन्य-को यह जीव प्रतिपादन करता है कि साधु पुरुषके द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नित्य उपासना करने योग्य हैं। परमार्थसे ये तीनों ही आत्मा है अतः इनकी उपासनासे आत्माकी उपासना हो जाती है क्योकि इनसे भिन्न आत्मा अन्य कोई वस्तु नहीं है। जैसे देवदत्त नामक किसी पुरुषका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र देवदत्तसे भिन्न नहीं हैं, देवदत्त ही हैं, क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव है और देवदत्त स्वभाववान् है। तथा स्वभाव स्वभाववान् पदार्थसे पृथक् नहीं होता। जैसे अग्निका स्वभाव उष्ण है तो क्या वह उष्ण स्वभाव अग्निसे भिन्न है ? नहीं है। इसी तरह देवदत्तका ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप जो स्वभाव है वह क्या देवदत्तसे भिन्न है ? नहीं है। इसी प्रकार आत्माका जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्र है, वह आत्मासे पृथक् नहीं है क्योंकि जो स्वभाव है वह स्वभाववान्का अति-क्रमण नहीं करता॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्माके स्वभाव हैं, अतः आत्मा-का अतिक्रमण कर अन्यत्र रहनेको असमर्थ हैं, अतएव ये आत्मा ही है, भिन्न वस्तु नहीं हैं। इससे यह स्वयमेव आ गया कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है, यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशकाव्योंके द्वारा प्रकट करते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत ॥१६॥

अर्थ—गुण-गुणीकी भेदविवक्षासे दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणोंके द्वारा आत्मामें तीनपन है, परन्तु स्वय द्रव्यदृष्टिसे एक है। इसीसे नयदृष्टिसे यदि विचार किया जावे तो आत्मा नाना भी है और एक भी है और प्रमाणदृष्टिसे विचार किया जावे तो एक ही कालमे एकानेक, मेचकामेचक आदि नाना विरुद्धशक्तियोंका पिण्ड है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि परिणतत्वत ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक ॥१७॥

अर्थ—आत्मा द्रव्यदृष्टिसे एक होता हुआ भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनरूप परिणमनके द्वारा व्यवहारसे नानारूपका अवलम्बन करता है। जैसे मनुष्य एक होकर भी बाल युवा, वृद्ध अवस्थाओंके भेदसे नाना व्यवहारको प्राप्त होता है। ऐसे ही आत्मा एक होकर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्ररूपणासे नानापनके व्यवहारका भागी होता है।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक ॥१८॥

अर्थ—परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तो व्यक्त ज्ञातापनरूप ज्योतिसे आत्मा एक ही है क्योंकि उसका ज्ञातृत्वस्वभाव अन्य सभी भावोंको ध्वस्त करनेवाला है अर्थात् ज्ञायकभावको छोड़कर अन्य भावोंको अपनेमे आश्रय नहीं देता। इस तरह आत्मा अमेचक—एकरूप है।

यहाँ अन्य भावोंको अपनेमे आश्रय नहीं देता, इसका यह तात्पर्य नहीं कि अस्तित्वादि जो भाव अन्य पदार्थोंमे है उन्हें भी आश्रय नहीं देता। यह नहीं है, क्योंकि सामान्य गुण तो सब पदार्थोंमे एकरूपसे रहते हैं, वे पदार्थोंकी भिन्नताके नियामक नहीं है। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि। किन्तु जो असाधारण गुण है वही पदार्थोंकी भिन्नताके नियामक हैं। इसीसे आचार्योंका कहना है कि पदार्थ अपने स्वरूपसे सत्स्वरूप होकर भी पदार्थन्तरकी अपेक्षासे असत्स्वरूप है अथवा अन्यापोहरूप हैं। इसीसे पदार्थ अमेचक भी है और मेचक भी है।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रै साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

अर्थ—आत्मसम्बन्धी जो मेचक और अमेचककी चिन्ता है उसे छोडो। दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणोंके द्वारा ही आत्मरूप साध्यकी सिद्धि है और कोई भी उपायान्तर आत्माकी सिद्धिमें प्रयोजक नहीं है।

इसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणकी जबतक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्ररूप परिणति रहती है तबतक आत्मा इस संसारमें भ्रमण करता है और नाना प्रकारके दुःखोंका पात्र होता है। ऐसे दुःख, जिनका निरूपण करना अशक्य है। किन्तु विचारसे

प्रत्येकको उन दुःखोंकी अप्रशस्तताका ज्ञान हो सकता है। इन दुःखोंसे बचनेका उपाय आचार्योंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही को बतलाया है और जितने भी व्यापार हैं वे इसी रत्नत्रयकी प्राप्तिके अर्थ हैं। यदि इस रत्नत्रयीका लाभ नहीं हुआ तो व्रत, तपश्चरण आदिका जितना प्रयास है सब जल विलोवनेके सदृश है। अतः जिन्हें इन संसार-सम्बन्धी यातनाओंसे भय है उन्हें सब प्रकारके पुरुषार्थसे इस रत्नत्रयी-कण्ठिकाको अपने हृदयका हार बनाना चाहिये ॥१६॥

आगे दृष्टान्त द्वारा कहते है कि मोक्षको सिद्धि आत्माकी उपासनासे ही हो सकती है—

जह णाम को वि पुरिसो रायाण जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्ख-कामेण ॥१८॥

(जुयल)

अर्थ—जैसे धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर उसकी श्रद्धा करता है, तदनन्तर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है, ऐसे ही मोक्षकी कामना रखनेवाले पुरुषको जीवरूपी राजाको जानना चाहिये, तदन्तर उसकी श्रद्धा करना चाहिये और तत्पश्चात् उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिये।

विशेषार्थ—लोकमे ऐसा देखा जाता है कि जिसे धनकी आकांक्षा होती है वह पुरुष जिसके यहाँसे धनका लाभ होगा उस पुरुषको जानता है, उसकी श्रद्धा करता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है। न तो जाननेसे ही धन मिलता है और न केवल श्रद्धा ही धनके लाभमें निमित्त है किन्तु श्रद्धान, ज्ञान और अनुकूल प्रवृत्ति ये तीनों ही धनके लाभमें कारण हैं। इसी तरह जिन्हें मोक्षकी कामना है उन्हे पहले ही जीव नामक पदार्थको जानना चाहिये, उसकी श्रद्धा करनी चाहिये और फिर उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये, यही उपाय मोक्षलाभका है, साध्यकी सिद्धिका यही उपाय है, अन्य उपाय नहीं है। जैसे वह्निके सत्त्वमें ही धूम हो सकता है अन्यथा—वह्निके अभावमे धूम नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा नियम है कि कारणके सद्भावमे ही कार्य हो सकता है, कारणके अभावमे कार्य नहीं हो सकता। ऐसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके सद्भावमें ही मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं, यही दिखाते है—

जैसे आत्माका अनुभूयमान अनेक भावोंका संकर होनेपर भी परमभेदज्ञानकी कुशलताद्वारा 'यह मैं हूँ' ऐसी अनुभूतिरूप जब ज्ञान होता है तब उस आत्मज्ञानके साथ 'ऐसा ही है' ऐसा श्रद्धान होता है, उससमय अन्य समस्त भावोंसे रहित होकर अपने आपमे निःशङ्कभावसे स्थित रहा जा सकता है, इसलिये उसीमें लीनतारूप चर्या होती है। इन तीनोंकी जब एकता होती है तब साध्यसिद्धि होती है और जब आबाल-गोपाल सभीको

सभी काल स्वयं ही जिसका अनुभव हो रहा है ऐसे अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्माके विषयमें अनादिबन्धके वशसे परपदार्थोंके साथ एकपनके अध्यवसायसे विमुग्ध पुरुषको 'यह मैं हूँ' ऐसी अनुभूतिरूप आत्मज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञानके अभावमे जिस प्रकार विना जाने हुए गधेके सींगकी श्रद्धा नहीं होती उसी प्रकार आत्माकी श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धाके अभावमे अन्य समस्त भावोंका भेद न होनेसे निःशङ्क आत्मामे स्थित नहीं रहा जा सकता इसलिये आत्मामें चर्या भी नहीं होती। इस प्रकार श्रद्धान, ज्ञान और चर्याके अभावमें आत्माकी सिद्धि होना असम्भव है, क्योंकि आत्माके मोक्षका साधन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं। जब उनका अभाव है तब मोक्ष होना कैसे संभव हो सकता है ?

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा दरशाते है—

मालिनीछन्द

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अर्थ—जो तीन रूपताको प्राप्त होकर भी एक रूपतासे च्युत नहीं है, जो सदा उदय रूप है, स्वच्छ है तथा अनन्त अविनाशी चैतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसी इस आत्म-ज्योतिका हम सदाकाल अनुभव करते है क्योंकि अन्य प्रकारसे साध्य-सिद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ—यद्यपि भेददृष्टिसे आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोके द्वारा त्रित्वको प्राप्त हो रहा है—तीन रूप अनुभवमें आ रहा है तथापि अभेददृष्टिसे वह एक रूप ही है। यह आत्मा यद्यपि अनादिकालीन उपाधिसे मलिन दिख रहा है तो भी स्वभावसे मलिन नहीं है, उपाधिके पृथक् होनेपर स्वच्छ ही है ऐसे अनन्त चैतन्यलक्षणसे शोभित आत्माके अनुभवसे ही मोक्षरूपी साध्यकी सिद्धि होती है।

यहाँ शङ्काकारका कहना है कि जब आत्माका ज्ञानके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तब आत्मा ज्ञानकी उपासना तो नित्य करता ही है, फिर उसे ज्ञानकी उपासनाका उपदेश किस लिये दिया जाता है ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि ज्ञानका तादाम्य होनेपर भी यह आत्मा क्षण भरके लिये भी ज्ञानकी उपासना नहीं करता है। जैसे हरिणके अण्डकोषमे कस्तूरी होनेपर भी वह उसके लिये भटकता फिरता है। ऐसे ही हमारी आत्मामें ज्ञानका तादात्म्य होनेपर भी हम एक क्षण मात्र भी उसकी उपासना नहीं करते—उसकी ओर लक्ष्य नहीं देते और मात्र निमित्तकारणोंकी उपासनाकर कालको पूर्ण कर देते हैं। आत्माका ज्ञानकी ओर लक्ष्य तो तब जाता है जब वह काललब्धिके मिलनेपर स्वयंबुद्ध हो जावे या कोई उसे

उपदेश देकर प्रबुद्ध करे। तब क्या कारणके पहले आत्मा अज्ञानी है ? हाँ, नियमसे अज्ञानी है क्योंकि वह निरन्तर अप्रतिबुद्ध है।

आचार्य आगे यह आत्मा अप्रतिबुद्ध कब तक रहता है, यह कहते हैं—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

अर्थ—जब तक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म और शरीरादिक नोकर्ममें 'यह मैं हूँ' और 'ये कर्म नोकर्म मेरे हैं' ऐसी बुद्धि रहती है तब तक निश्चयसे यह जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी रहता है।

विशेषार्थ—जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि भावोंमें तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत पुद्गलस्कन्धोंमें 'यह घट है' और 'घटमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिभाव तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत यह पुद्गल स्कन्ध हैं' इस प्रकार अभेदबुद्धि होती है अर्थात स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि भाव तथा पृथुबुध्नोदरादिके आकार परिणत पुद्गल स्कन्ध घटसे भिन्न नहीं हैं और इनसे भिन्न नहीं घट है, ऐसी अभेदरूप बुद्धि होती है। वैसे ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म, जो कि आत्माका तिरस्कार करने वाले हैं और पुद्गलके परिणाम हैं इनमे 'मैं आत्मा हूँ' अथवा 'आत्मामें ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, मोहादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म हैं', इस प्रकारकी अभेदानुभूति जब तक रहती है तब तक अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है। अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी सत्ता मानना यही तो मिथ्याज्ञान है।

आत्मा तो ज्ञाता-द्रष्टा है, उसमे मोहादिद्रव्यकर्मके उदयसे वैभाविकशक्तिके कारण रागादिक होते हैं, जो कि विकृतभाव हैं, आत्माके निजके भाव नहीं हैं, निमित्तसे उत्पन्न होते हैं तथा विनाशी हैं, उन्हें आत्माके निज भाव मान लेना मिथ्याज्ञानका ही कार्य है। जब ये रागादिक निज भाव नहीं है तब उनमें निमित्तभूत जो मोहादिक कर्म हैं वे आत्माके कैसे हो सकते हैं ? उनसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, क्योंकि मोहादिककर्म पुद्गलद्रव्यके पर्याय हैं। और नोकर्मरूप शरीरसे तो आत्मा भिन्न ही है, इन्हें आत्मा मानना स्पष्ट मिथ्याज्ञान है। ये सब भाव आत्माको नानाप्रकारके दुःखोंका पात्र बना रहे है। इस प्रकार जब तक परमें आत्मानुभूति है तब तक यह जीव अज्ञानी ही है।

अब आचार्य दृष्टान्त द्वारा इसके पृथक् होनेकी पद्धति समझाते है जिससे यह प्रतिबुद्ध बन सकता है। जैसे दर्पण रूपी पदार्थ है उसमें पुद्गलोंका ऐसा परिणमन है कि वह स्व और परका अवभास कराता है, इसीसे कहते हैं कि दर्पणमें ऐसी स्वच्छता है जो स्वपरके अवभासन करानेमें समर्थ है। जब दर्पणमें अग्निका प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उसमें अग्नि

झलकती है, इसका यह अर्थ नहीं कि दर्पणमें अग्निका प्रवेश हो गया। अन्यथा दर्पणमें उष्णता और ज्वालाका भी सद्भाव होना चाहिये, सो तो है नहीं। तब दर्पणकी स्वच्छताका ही विकार है जो अग्निके सदृश प्रतीत होता है। उष्णता और ज्वाला अग्निमें ही है। उसी प्रकार नीरूप आत्मामें स्वपरका अवभासन कराने वाली ज्ञातृता है और पुद्गलद्रव्यमें कर्म-नोकर्म हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञाता द्रव्य है। उसके अन्दर एक ज्ञानशक्ति ऐसी है जिसके द्वारा वह स्वरूप और पररूपको जानता है। जिस समय आत्माका ज्ञान पदार्थोंके जाननेमे उपयोग लगाता है उस समय ज्ञानकी ऐसी स्वच्छता रहती है कि ज्ञेय उसमे भासमान होने लगता है। यद्यपि जो ज्ञेय भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन है, ज्ञेयका नहीं, परन्तु ज्ञेयके सदृश है, अतः उसे ज्ञेयाकार कहते हैं, कुछ वह ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं है, ज्ञान तो जैसा है वैसा ही है। यह आकार-व्यवहार भी केवल रूपगुणकी मुख्यतासे होता है। जब रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान होता है तब कौन-सा आकार होता है? अनादिकालसे आत्मामें मोहादिभावोंका उदय होनेसे हमारी ऐसी विपरीत बुद्धि हो रही है कि यह ज्ञेय आत्मामें प्रविष्ट हो गये। जैसे जिस समय हम दर्पणमे मुख देखते हैं तब ऐसा भान होता है कि दर्पणमें मुख है इत्यादि।

जब अपने आप या परके निमित्तसे भेदविज्ञानमूलक अनुभूतिकी उत्पत्ति होती है तब यह बोध होता है कि यह कर्म और नोकर्म पुद्गलके हैं, हमारी आत्मामे ज्ञातृता है—जाननेकी शक्ति है। इसलिये दर्पणमें अग्निके सदृश वे आत्मामें भासमान होते हैं—कुछ आत्माके नहीं हैं। जब ऐसी अनुभूति होती है तभी आत्मा प्रतिबोधको प्राप्त हो जाता है—प्रबुद्ध कहलाने लगता है। जब तक आत्मा यह जानता है कि मैं कर्म और नोकर्ममें हूँ तथा कर्म और नोकर्म मुझमे है तब तक यह अज्ञानीशब्दसे कहा जाता है। जैसे कोई सीपको चांदी मान लेवे तो उसे लोकमे मिथ्याज्ञानी कहते हैं और जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि यह चाँदी नही है, सीप है, उसी समय उसका अज्ञान हट जानेसे वह ज्ञानी हो जाता है—इसी तरह जिस समय कर्म-नोकर्ममे आत्मा नहीं है, ऐसा ज्ञान होने लगता है उसी समय मिथ्याज्ञानके अभावसे आत्मा ज्ञानी हो जाता है। अतः हमे प्रयास करना चाहिये, जिससे कर्म नोकर्ममे अहबुद्धि न हो।

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा दर्शाते है—

मालिनीछन्द

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्तत स्युस्त एव ॥२१॥

अर्थ—जो पुरुष स्वयमेव अथवा अन्यके उपदेशसे किसी प्रकार भेदविज्ञानमूलक निश्चल

आत्मानुभूतिको प्राप्त कर लेते हैं वे पुरुष अपने आत्मामे अनन्तपदार्थोंके प्रतिबिम्बित होने-पर भी दर्पणके समान निर्विकार ही रहते है।

यहाँ दर्पणका उल्लेख केवल 'उसमें प्रतिभासित होते हैं' इस अशको लेकर ही है, अन्यथा वह तो जड़ है, उसमें मोहका सद्भाव ही नहीं है। किन्तु आत्मा अनादिकालसे मोही हो रहा है। परपदार्थमें जो मोह है उसका हेतु अनादिसे आत्मामें लगा हुआ मिथ्या-भाव है।

आगे अज्ञानी आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, यही दिखाते है—

> अहमेद एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एद ।
> अण्ण ज परदव्व सच्चित्ताचित्तमिस्स वा ॥२०॥
> आसि मम पुव्वमेद एदस्स अहपि आसि पुव्व हि ।
> होहिदि पुणो वि मज्झ एयस्स अह पि होस्सामि ॥२१॥
> एय तु असभूद आद-वियप्पं करेदि समूढो ।
> भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥
> (त्रिकलम्)

अर्थ—'मैं यह हूँ' अर्थात् मैं परद्रव्यरूप हूँ, 'यह मैं हूँ' अर्थात् परद्रव्य मुझरूप है, **'मैं इसका हूँ'** अर्थात् परद्रव्य मेरा स्वामी है, 'यह मेरा है' अर्थात् मै परद्रव्यका स्वामी हूँ, **'यह पहले मेरा था'**, 'मै भी पहले इसका था', 'यह फिर भी मेरा होगा' और 'मैं फिर इसका **होऊँगा'** इन मिथ्या आत्म-विकल्पोंको अज्ञानी जीव करता है और ज्ञानी जीव यथार्थ वस्तु-स्वरूपको जानता हुआ उन विकल्पोंको नहीं करता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें यह देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि भ्रान्त रहती है वे हो परवस्तुको अपना माननेकी चेष्टा करते हैं और जो विवेकी हैं वे कदापि परवस्तुको नहीं अपनाते। यही दृष्टान्त द्वारा बताते हैं—

जैसे अग्नि और ईंधनको एक स्थानमे देख कोई पुरुष यह कल्पना करता है कि जो अग्नि है सो ईंधन है अथवा ईंधन है सो अग्नि है, अथवा अग्निका ईंधन है या ईंधनका अग्नि है, अथवा अतीतकालमे भी अग्निका ईंधन था अथवा ईंधनका अग्नि था। जैसा अतीतकालमें विकल्प करता है वैसा ही भविष्यकालमे भी यह विकल्प करता है कि अग्निका ईंधन होगा, ईंधनका अग्नि होगा, इस प्रकार ईंधनमे असद्भूत अग्निकी सत्ता और अग्निमें असद्भूत ईंधनकी सत्ता माननेवाला अज्ञानी है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवोंके ज्ञानमें नहीं देखा जाता है। इसी तरह आत्मा और परको एक समझनेवाला अज्ञानी जीव भी कल्पना करता है कि मैं यह हूँ, और यह जो परपदार्थ है सो मुझरूप है, अथवा मेरे यह

पदार्थ है अथवा मैं इन परपदार्थोंका हूँ यह तो वर्तमानकालका विकल्प है। इसी तरह अतीतकाल सम्बन्धी भी विकल्प करता है। अर्थात् अतीतकालमें मेरे यह परपदार्थ थे और मैं इन परपदार्थोंका था। इसी तरह आगामी कालका भी विकल्प करता है अर्थात् मेरे यह सब पदार्थ होंगे अथवा मै इन सब पदार्थोंका होऊँगा, इस तरह परद्रव्यमे आत्माको माननेवाला और आत्मामे परद्रव्यको माननेवाला अज्ञानी है।

अब यहाँ वस्तुस्वरूपका विचार करते हैं—अग्नि जो है वह ईंधन नहीं है क्योकि अग्निपर्याय अन्य है और ईंधनपर्याय अन्य है। अग्नि, अग्नि ही है और ईंधन, ईंधन ही है। इनका परस्परमे घट-पटकी तरह भेद है। इसी तरह अग्निका ईंधन नहीं है और ईंधनका अग्नि नहीं है। अग्निका ही अग्नि है और ईंधनका ही ईंधन है। इसी तरह अतीतकालमे भी अग्निका ईंधन नहीं था और ईंधन अग्निका नहीं था, अग्निका ही अग्नि था और ईंधनका ही ईंधन था। इसी प्रकार जो आनेवाला भविष्यकाल है उसमे भी अग्निका ही अग्नि होगा तथा ईंधनका ही ईंधन होगा। इस तरह जिस प्रकार किसी ज्ञानी जीवके अग्निमे अग्नि और ईंधनमे ईंधनका सद्भूत विकल्प होता है और उसके कारण वह प्रतिबुद्ध—ज्ञानी कहलाता है। इसी प्रकार किसी ज्ञानी जीवके मै यह नही हूँ, यह परवस्तु मुझरूप नही है, ये परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इन परपदार्थोंका नहीं हूँ, अतीतकालमे ये परपदार्थ मेरे नहीं थे, मै इन परपदार्थोंका नहीं था और आगामी कालमे भी ये परपदार्थ मेरे नहीं होंगे तथा मै इन परपदार्थोंका नहीं होऊँगा, इस प्रकारके सद्भूत विकल्प होते हैं तथा इनके कारण आत्माको आत्मा और परको पर जानता हुआ वह प्रतिबुद्ध—सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही ससारके बन्धनोंसे छूटनेका पात्र होता है। परद्रव्यमे आत्माकी कल्पना करना ही तो मिथ्याज्ञानीका लक्षण है। जैसे रज्जुमे सर्पका माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उस मिथ्याज्ञानजन्य दुःखोंका भोक्ता है। इसी प्रकार शरीरमे आत्मा माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उसका फल जो अनन्त ससार है उसका यह भोक्ता होता है। परमे आत्मबुद्धि करानेवाला मोहकर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव स्वरूपको भूलकर परको आत्मरूप और आत्माका पररूप मानने लगता है तथा चारित्रमोहके उदयसे परको आत्माका और आत्माको परका मानने लगता है। ये अहंकार और ममकार दोनों ही विकारीभाव हैं। इनके रहते हुए जीव अज्ञानी कहलाता है और इनके निकल जानेपर ज्ञानी कहा जाता है

श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा उन विकारीभावोंके जनक मोहको दूर करनेका उपदेश देते है—

मालिनीछन्द

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

अर्थ—हे जगत् ! हे संसारके प्राणियो ! आजन्मसे व्याप्त जो मोह है उसे अब तो त्यागो और मोक्षमार्गके रसिकजनोंको रोचक तथा उदयको प्राप्त जो ज्ञान है उसका रसास्वाद करनेमे उद्यत होओ। इस लोकमे किसी प्रकार किसी कालमे आत्मा अनात्माके साथ एक होकर तादात्म्यभावको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—परमार्थदृष्टिसे आत्मा परद्रव्यके साथ किसी क्षेत्र व किसी कालमें एकपनको प्राप्त नहीं होता है, इससे आचार्य महाराजका कहना है कि तुम्हारा इन परपदार्थोंके साथ जो एकपनका मोह है, उसे त्यागो और अपना जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसका अनुभव करो। मोह मिथ्या है क्योंकि नश्वर है। इसी मोहके निमित्तसे समस्त कर्मोंका बन्ध होता है और उसीके उदयमें यह जीव कर्मजन्यपर्यायोंको अपनी सम्पत्ति मानता है। मोहका अभाव होनेपर यह जीव कर्मोदयसे जायमान किसी भी पर्यायका स्वामी नहीं बनता, उनसे सतत उदासीन रहता है। यही कारण है कि षट्खण्डका अधिपति इस उदयजन्य विभूतिका स्वामी नहीं बनता। उदयाधीन इनका भोग करता हुआ भी अन्तमें सबका त्यागकर दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन कर निज पदका लाभ लेता है।

आगे उसी अप्रतिबुद्ध जीवको समझानेके लिए आचार्य उपाय कहते है—

अण्णाण-मोहिद-मदी मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व ।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहु-भाव-संजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हु-णाण-दिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्च ।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो ज भणसि मज्झमिण ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वुत्तु जे मज्झमिण पुग्गल दव्वं ॥२५॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित है तथा जो रागद्वेषादि बहुत भावोसे सहित है, ऐसा जीव कहता है कि यह शरीरादि बद्ध और धनधान्यादिक अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है, परन्तु सर्वज्ञके ज्ञानमे देखा गया और निरन्तर उपयोग लक्षणसे युक्त जो जीव है वह पुद्गल द्रव्य कैसे हो सकता है जिसे तू कहता है कि यह मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवपनको प्राप्त हो जावे तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है (परन्तु ऐसा नहीं है)।

विशेषार्थ—संसारमे जितने द्रव्य हैं सब स्वकीय-स्वकीय चतुष्टय द्वारा निरन्तर परिणमन कर रहे हैं। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ तादात्म्य नहीं होता, किन्तु एक क्षेत्रावगाह होनेसे भ्रमवश ऐसा दिखाई देता है कि एक है। अन्यकी कथा तो दूर रहो, पुद्गलद्रव्य जितनी संख्या द्वारा भगवान्के ज्ञानमें आया है उनमें एक परमाणु भी अन्य परमाणुके साथ तादात्म्यसे नहीं मिलता, फिर जीव और पुद्गलका मिलना तो दूर ही है।

ऐसा देखा जाता है कि स्फटिकमणि अति स्वच्छ है, परन्तु जब उसके साथ रक्त, हरित, पीत आदि नाना रंगविशिष्ट जपापुष्प, कदली, काञ्चन आदि पदार्थोंका सयोग हो जाता है तब उन पदार्थोंके संयोगरूप उपाधिसे स्फटिकमणिकी जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके स्वाभाविक स्वच्छ भावके तिरोहित होनेसे स्फटिकमणि लाल, हरा, पीले रङ्गका दिखता है। इसी तरह आत्मद्रव्य स्वभावसे ज्ञायक है, स्वच्छ है, परन्तु अनादिकालीन मोहकर्मके अवान्तर भेद—मोह, राग, द्वेषके उदय होनेपर मोह, राग, द्वेषरूप उपाधिके द्वारा उसकी जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके तिरोहित होनेसे विवेक-ज्योतिके अस्तगत होनेपर महान् अज्ञानके द्वारा विमोहित हृदयवाला जीव भेदको न कर यह जो औपाधिक मोह-राग-द्वेष भाव है उन्हें स्वीकृत करता हुआ ऐसा मानता है कि यह जो पुद्गलद्रव्य है वह मेरा है, ऐसा ही वह निरन्तर अनुभव करता है।

जिस व्यक्तिने यह नहीं जाना है कि स्फटिकमणिमे जपापुष्पादिक परद्रव्यके सम्बन्धसे यह रक्त, हरित, पीत रङ्ग भासमान हो रहे है वह मनुष्य स्फटिकको ही लाल, हरा और पीला मानता है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं। जब कामला रोग हो जाता है तब शङ्ख पीला भासमान होता है और जब दूरत्वादि दोषसे रसरीमे सर्पकी भ्रान्ति हो जाती है तब रसरीमे सर्पज्ञान असभव नही।

यद्यपि स्फटिकमणि स्वभावसे न तो लाल है, न पीला है, न हरा है, यह सब प्रतीति औपाधिकी है, स्वभावसे तो वह स्वच्छ ही है। इसी तरह आत्मद्रव्यमे जब मोहादि कर्मोंका विपाककाल आता है तब मोह-राग-द्वेषकी उपाधिसे वह मोही है, रागी है, द्वेषी है ऐसा प्रतीत होने लगता है। यह कथन द्रव्यदृष्टिसे है। यदि वर्तमानपर्यायकी दृष्टिसे देखा जावे तो उस कालमें आत्मा रागी भी है, मोही भी है और द्वेषी भी है, क्योंकि वैसा अनुभवमें आता है। प्रवचनसारमें भी कुन्दकुन्द स्वामीने स्वयं कहा है—

> परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं ।
> तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥
> जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
> सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो ॥

अर्थ—द्रव्य जिस कालमें जिसरूप परिणमन करता है उस कालमें वह तन्मय हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इसलिये धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म है, ऐसा मानना चाहिये। जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभरूप परिणमन करता है उस समय वह शुभ तथा अशुभ कहा जाता है और जिस समय शुद्धरूप परिणमता है उस समय शुद्ध होता है।

जिस कालमें आत्माके साथ औपाधिक भावोंका सम्बन्ध होता है उस कालमें आत्माके जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण है वे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन करनेसे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्रशब्दोंसे कहे जाते हैं और आत्माके अनन्त संसारके कारण

होते हैं। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब सब स्वांग विलय जाता है। जब तक भेदज्ञानका उदय नहीं हुआ तभीतक जीव इस पुद्गलद्रव्यको निज ही अनुभव करता है। इसी अज्ञानी जीवको आचार्य प्रतिबोधन कराते है।

रे आत्मघाती! हाथीकी तरह जो तुम्हारा ज्ञेयमिश्रित ज्ञानके भक्षण करनेका स्वभाव है उसे तुम त्यागो। हाथीका ऐसा स्वभाव होता है कि वह सुन्दर भोजन और घासादि पदार्थोंको एकमेक कर खाता है। इसी तरह यह आत्मा अनादि कालसे मोहके वशीभूत होकर परपदार्थोंके साथ ज्ञानका स्वाद लेता है। वास्तवमें परपदार्थ ज्ञानमे नहीं आता है परन्तु अज्ञानी जीवकी दशा ऐसी ही हो रही है कि वह ज्ञानमे ज्ञेयको संपृक्त कर ही उसका अनुभव करता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योकि जिसने सशय, विपर्यय और अनध्यवसायको दूर हटा दिया है ऐसे सर्वज्ञ भगवान्‌के सर्वदर्शी ज्ञानने जीवको नित्योपयोगरूप लक्षण वाला कहा है। वह यदि जडात्मक पुद्गलद्रव्यरूप हो जाता तो 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव ठीक होता। सो तो है नहीं। यदि किसी प्रकार पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे और जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे तो लवणके उदकको तरह 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव यथार्थ हो जावे, सो तो किसी क्षेत्र और कालमे ऐसा होना ही असंभव है। अर्थात् यह कभी नहीं हो सकता कि जीवद्रव्य पुद्गलरूप हो जावे और पुद्गल द्रव्य जीवरूप हो जावे। जैसे खारापन लक्षणसे युक्त लवण उदकरूप हो जाता है—पानी बन जाता है और तरलरूप लक्षणसे युक्त उदक लवण बन जाता है क्योकि खारापन और तरलपन इन दोनोंके एक साथ रहनेमे कोई विरोध नहीं है। सांभर झीलका जो जल है वह लवणरूप हो जाता है और वही लवण वर्षाका निमित्त पाकर जलरूप हो जाता है। परन्तु नित्योपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गलद्रव्यरूप नहीं होता और निरन्तर अनुपयोग लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य कभी जीवद्रव्यरूप नहीं होता, क्योंकि उपयोग और अनुपयोगका प्रकाश और अन्धकारके समान एक साथ रहनेमें विरोध है। इसलिये जीवका पुद्गलरूप और पुद्गलका जीवरूप परिणमन नहीं हो सकता, अतएव पुद्गलद्रव्य मेरा है, यह अनुभव सर्वथा असभव है। जब ऐसा है तब हे चेतन! जो चैतन्यद्रव्य है वही मेरा है, ऐसा अनुभव करना तुम्हें योग्य है।

अनादिकालसे मोहके द्वारा निजात्मद्रव्यका ज्ञान न होनेसे परको अपना माननेका जीवका अभ्यास बन रहा है। इसी अभ्यासके बलसे शरीरको अपना मानता है तथा शरीरके सम्बन्धी जो-जो है उन्हे अपने मानकर निरन्तर उनके रखनेकी चेष्टामे तन्मय रहता है। आचार्य समझाते हैं—भाई! देख, श्रीसर्वज्ञ भवगवान्‌ने जीवद्रव्यको ज्ञानस्वरूप कहा है और पुद्गलद्रव्यको जड़ कहा है। ये दोनों पूर्व-पश्चिमदिशाकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं अतः यह जो तेरा परपदार्थको अपना माननेका अज्ञान है उसे छोड़ और अपना जो चेतनस्वरूप है उसका अनुभव कर, इसीमें तेरा कल्याण है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा शरीरसे एकत्वभावके छोड़नेका उपदेश देते हैं—

मालिनीछन्द

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभवभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू किसी प्रकार महान् कष्टसे मरणपर्यन्तका भी कष्ट उठाना पड़े तो उठाकर तत्त्वोका कौतूहली होता हुआ शरीरका एक मुहूर्त पर्यन्त पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर, जिससे पृथक् विलसते हुए अपने आपका अवलोकन कर तू शीघ्र ही शरीरके साथ एकपनके मोहको छोड़ सके ।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे शरीरको अपना मानता आ रहा है । यदि दैव-योगसे इसका आसन्न सस्कार रह जावे तो परसे भिन्न आत्माको जानकर सम्यग्दृष्टि बनता है । तदनन्तर चारित्रमोहके क्षयोपशमसे मुनिव्रत अङ्गीकार कर श्रेणीके संमुख होता क्रम-क्रमसे चारित्रमोहकी प्रकृतियोंका क्षय करता हुआ दशम गुणस्थानमे सूक्ष्म लोभका भी अन्त करता है तथा क्षीणमोह दशाको प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्तमे ज्ञानावरणादि कर्मोंका निर्मूलन कर केवलज्ञानका पात्र हो जाता है । पश्चात् आयुके अवसानमे मोक्षका पात्र होता है ।

आगे अप्रतिबुद्ध जीव फिर कहता है कि शरीर ही आत्मा है क्योंकि शरीरसे भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, यही दिखाते हैं—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय-सथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

अर्थ—यदि शरीर जीव नहीं है तो तीर्थंकर आचार्योंकी यह जो स्तुति है वह सब मिथ्या हो जावे, इससे शरीर ही आत्मा है ।

विशेषार्थ—शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है, इस पक्षका प्रतिपादन करता हुआ अप्रति-बुद्ध—अज्ञानी जीव कहता है कि यदि पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर जीव नहीं है तो तीर्थंकर भगवान्‌की आचार्योंने जो यह स्तुति की है वह असंगत हो जावेगी ॥२६॥

स्तुतिमें आचार्योंने कहा है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोऽमृत
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरय ॥२४॥

अर्थ—जो कान्तिके द्वारा मानो दशों दिशाओंको स्नपन करा रहे हैं, जो अपने तेजके द्वारा उत्कट तेजस्वी सूर्य आदिके भी तेजको रोक देते हैं, जो अपने सुन्दर रूपके द्वारा निखिल प्राणियोंके मनको अपहृत कर लेते है, जो दिव्यध्वनिके द्वारा कानोंमें साक्षात् अमृत वर्षा करते हुए सुख उपजाते हैं तथा जो एक हजार आठ लक्षणोंके धारक हैं वे तीर्थंकर आचार्य वन्दना करने योग्य हैं।

भावार्थ—इस स्तुतिमे जिन कान्ति, तेज, रूप, दिव्यध्वनि तथा अष्टोत्तर सहस्र लक्षणोंकी महिमा गाई गई है वे सब शरीरके ही अङ्ग हैं। अतः शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है, ऐसा अप्रतिबुद्ध शिष्यने अपना पूर्वपक्ष रखा है ॥२४॥

आगे आचार्य महाराज इस पूर्वपक्षका उत्तर देते हैं—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥२७॥

अर्थ—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं परन्तु निश्चयनयका कहना है कि जीव और शरीर कभी एक नहीं हो सकते।

विशेषार्थ—लोकमे उपचार अथवा प्रयोजन देखकर व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़केको तेजः स्वभाव देखकर उसको लोक कहने लगता है—'माणवकोऽग्निः'—यह बच्चा अग्नि है। यहाँ क्या बालक अग्नि है? नही, किन्तु अग्निके सदृश तेजस्वी देखकर यह व्यवहार होता है। अथवा यह भी व्यवहार होता है—'चन्द्रमुखी भार्या', ता क्या सचमुच ही भार्या चन्द्रमुखी है? नहीं, किन्तु आह्लादकारित्व धर्मकी समानता देख यह व्यवहार जैसे होता है वैसे ही शरीरके साथ आत्माका एक क्षेत्रावगाह होनेसे शरीरको आत्मा कहनेका व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रतिदिन मन्दिरमे मूर्तिके दर्शन करते समय हम यह व्यवहार करते है कि इस मूर्तिसे तो वीतरागता टपक रही है। यद्यपि वीतरागता आत्माकी परिणतिका नाम है सो वह तो हममे उत्पन्न हो रही है। पर मूर्ति उसका निमित्त है, अतः उसका मूर्तिमें उपचार करते हैं। इसी प्रकार शरीरमे आत्माका व्यवहार है। व्यवहारनयका कहना है कि जीव और शरीर एक हैं। परन्तु निश्चयनयका कहना है कि ये दोनों एकार्थ नही है, भिन्न-भिन्न हैं।

जैसे इस लोकमें चाँदी और सोनेको गलानेसे एक पिण्ड हो जाता है और उसमें एकत्वका व्यवहार होने लगता है वैसे ही आत्मा और शरीर इन दोनोंके एक क्षेत्रमें स्थित होनेसे दोनोंकी जो अवस्थाएँ हैं यद्यपि वे भिन्न-भिन्न हैं तथापि उनमे एकपनका व्यवहार होने लगता है। निश्चयसे ये दोनों एक नहीं है क्योंकि आत्मा उपयोगस्वभाव वाला है और शरीर अनुपयोगस्वभाव वाला है। इन दोनोंमें पीत-पाण्डुरत्वस्वभाववाले सुवर्ण और चाँदीकी तरह अत्यन्त भिन्नपन होनेसे एकार्थपन नहीं है, नानापन ही है, यह नयविभाग

कहता है। अतः व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवन द्वारा आत्माका स्तवन उपपन्न होता है। शरीरको ही आत्मा माननेवाले अप्रतिबुद्ध शिष्यसे आचार्य कहते हैं—भाई! तू इस नय विभागसे अनभिज्ञ है, नयविभागको समझ, तो तेरी शरीर और आत्मामें एकत्वबुद्धि दूर हो जावेगी ॥२७॥

यही बात आचार्य अगली गाथामें दिखाते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

अर्थ—जीवसे भिन्न इस पुद्गलमय शरीरकी स्तुति कर मुनि मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुत किये गये हैं अर्थात् मैंने केवली भगवान्‌की स्तुति की है, वन्दना की है।

विशेषार्थ—जैसे रजत और सुवर्ण पृथक्-पृथक् पुद्गल हैं, रजतमें पाण्डुरपन (श्वेतपन) रहता है और सुवर्णमें पीलापन। दोनों ही अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं परन्तु जब दोनों गलकर एक पिण्ड हो जाते हैं तब ऐसा व्यवहार होता है कि सुवर्ण पाण्डुर रङ्गवाला है, वास्तवमें सुवर्ण पाण्डुर रङ्गवाला नहीं है, केवल चाँदीके साथ सम्बन्ध होनेसे ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह शरीरके धर्म शुक्ललोहितादि हैं, उनके स्तवन करनेसे परमार्थतया शुक्ललोहितादि गुणोंसे रहित तीर्थंकर केवली भगवान्‌का स्तवन नहीं होता, किन्तु अनन्तज्ञानादि गुणोंके द्वारा ही उनका स्तवन होता है। अतः निश्चयनयका कहना है कि शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन अनुपपन्न ही है।

अब यहाँ यदि कोई यह आशङ्का करे कि जो शरीरकी स्तुति की, वह व्यर्थ है ? सो नहीं, उसका यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, निश्चयकी दृष्टिसे असत्यार्थ है। छद्मस्थ अल्पज्ञानीको आत्माका साक्षात् बोध नहीं होता, अतः शरीरकी सौम्यता देख वे आत्माके वीतराग भावोंका अनुमान करते हैं। जैसे हमे क्षुधारोग नहीं दिखता परन्तु जब उदर खाली हो जाता है तब हमे भोजन विषयक इच्छा होती है और भोजन करनेके अनन्तर वह इच्छा शान्त हो जाती है, अतः हमे क्षुधा-निवृत्तिका अनुमान होता है। ऐसे ही शरीरकी सौम्य आकृतिसे शान्त भावोंका और विषम आकृतिसे क्रोधादि भावोंका अनुमान होता है। अतः नीचली अवस्थामें व्यवहारनय परमार्थका ज्ञायक होनेसे कार्यकारी है। वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार होनेके अनन्तर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे कोई मनुष्य समुद्रके उस पार जानेके लिये नौकापर आरूढ हुआ, उसका जबतक वह तीरपर नहीं पहुँचा है तबतक नौकापर आरूढ होना कार्यकारी है, अभीष्ट स्थान पर पहुँचनेसे उसकी आवश्यकता नहीं रहती, अतः निश्चयनयसे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन नहीं हो सकता ॥२८॥

यही दिखाते हैं—

त णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि ॥२९॥

अर्थ—वह शरीरका स्तवन निश्चयसे ठीक नहीं है क्योकि जो शरीरके गुण है वे केवली भगवान्के गुण नहीं हैं। जो केवली भगवान्के गुणोंका स्तवन करता है वही पुरुष परमार्थसे केवली प्रभुका स्तवन करता है।

विशेषार्थ—जैसे चॉदीका जो पाण्डुरपन गुण है वह सुवर्णमें नहीं है अतः चॉदीके पाण्डुरपन गुणके कथनसे सुवर्णका कथन नहीं हो सकता। सुवर्णका जो गुण है उसीके कथनसे सुवर्णका कथन हो सकता है अर्थात् सुवर्ण पीत रङ्गवाला है ऐसा कथन ही सुवर्णका जतानेवाला है। ऐसे ही शरीरके गुण शुक्ललोहितादिके कथनसे तीर्थंकर केवली भगवान्का कथन नहीं हो सकता, क्योंकि यह गुण तीर्थंकर भगवान्के नहीं हैं, उनके गुण तो सर्वज्ञता तथा वीतरागता आदि हैं, उन्हींके स्तवनसे निश्चयसे तीर्थंकर केवलीका स्तवन होता है ॥२९॥

अब यहॉपर आशङ्का होती है कि शरीरके स्तवन करनेसे शरीरके अधिष्ठाता जो तीर्थंकर भगवान् है उनकी स्तुति क्यो नहीं होती ? उसीका उत्तर देते है—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार नगरका वर्णन करनेपर राजाका वर्णन किया हुआ नही होता, उसी प्रकार शरीरके गुणोंका स्तवन करनेसे केवली भगवानके गुणोका स्तवन नहीं होता है।

विशेषार्थ—नगर अन्य वस्तु है और राजा अन्य है, नगरके जो विशेषण है वे सब राजामे नहीं पाये जाते हैं। नगरका वर्णन इस प्रकार है—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

अर्थ—जिसने अपने प्राकारसे आकाशको कवलित कर लिया है और बाग, बगीचोके समूहसे जिसने पृथिवीतलको व्याप्त कर रखा है ऐसा यह नगर परिखाके चक्रसे ऐसा जान पड़ता है मानो पातालको ही पी रहा हो।

इस प्रकार नगरका वर्णन होनेपर भी नगरके अधिष्ठाता राजाका वर्णन नहीं होता क्योंकि उसमे प्राकार, उद्यानराजी और परिखावलयका अभाव है।

अब तीर्थंकरके शरीरका स्तवन देखिये—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

अर्थ—जो नित्य है अर्थात् जिसमे कभी ह्रास नहीं होता, जिसमे समस्त अङ्ग निर्विकार भावसे अच्छी तरह स्थित हैं, जिसका स्वाभाविक सौन्दर्य अपूर्व है तथा क्षोभरहित समुद्रके समान जान पड़ता है ऐसा जिनेन्द्र भगवानका उत्कृष्ट रूप जसवत है ॥२६॥

इस प्रकार शरीरका स्तवन करनेपर भी उसके अधिष्ठाता तीर्थंकर भगवानका स्तवन नहीं होता, क्योंकि उनकी आत्मामे लावण्य आदि शरीरके गुणोंका अभाव है ॥३०॥

तब निश्चयमे स्तुतिका क्या स्वरूप है ? यही दिखाते हैं—उसमे सर्वप्रथम ज्ञेय-ज्ञायकके सकरदोषका परिहार करते हुए निश्चयस्तुतिको बतलाते हैं—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आद ।
त खलु जिदिंदिय ते भणति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

अर्थ—जो इन्द्रियोको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक (असाधारण) आत्माको जानता है निश्चयनयमे स्थित साधु उसे जितेन्द्रिय कहते है ।

विशेषार्थ—आत्मा यद्यपि अनादि अनन्त चैतन्य स्वरूप अमूर्त्तित्व आदि गुणोंका पिण्ड है तथापि अनादिकालसे ही उसके साथ पौद्गलिक मूर्त्त कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है । यहाँ यह तर्क नहीं करना चाहिये कि अमूर्त आत्माके साथ मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध कैसे हो गया ? क्योंकि जिस प्रकार अमूर्त ज्ञानमे रूपादि मूर्त पदार्थ भासमान होते है उसी प्रकार अमूर्त आत्माका मूर्त कर्मोंके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध होनमे कोई बाधा नहीं है । यहाँ कोई फिर यह शङ्का करे कि अमूर्त ज्ञानमे रूपादिक भासमान ही तो होते है कुछ रूपादिकका उसमे प्रवेश तो नहीं हुआ । जैसे दर्पणमे मयूरका प्रतिबिम्ब दिखता है किन्तु दर्पणमे मयूर नही चला गया ? इस शङ्काका उत्तर यह है कि इसी तरह आत्माका मूर्तिक पुद्गल कर्मोंके साथ तादात्म्य नहीं हो जाता किन्तु मात्र एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध रहता है । और इसका कारण भी विभावनामकी शक्ति है जो कि जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योमे है । अतः मूर्तिकके साथ अमूर्तिक आत्माका बन्ध माननेमें कोई आपत्ति नहीं । दूसरी बात यह है कि निश्चयसे आत्माके साथ मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध है ही कहाँ ? क्योंकि निश्चय नय तो कहता है कि आत्मा अबद्धस्पृष्ट है उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? हां, व्यवहारनयसे आत्माका कर्मोंके साथ निमित्तनैमित्तिक अथवा एक-क्षेत्रावगाहरूप बन्ध भी स्वीकृत किया जाता है सो व्यवहारनयसे आत्मा भी मूर्तिक कहा गया है । अतः मूर्तिकका मूर्तिकके साथ सम्बन्ध होनेमे क्या बाधा है ।

ऐसा होनेसे जिस प्रकार आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध अनादि कालसे है उसी प्रकार नोकर्मरूप शरीरका भी सम्बन्ध अनादिसे है। उसी शरीरकी अवयवभूत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—एक द्रव्येन्द्रिय, जो कि पुद्गलकी रचनाविशेष हैं, और दूसरी भावेन्द्रिय, जो कि ज्ञानविशेषरूप हैं। इन्द्रियोंके विषय रूपादिक हैं। इन तीनोंको अर्थात् द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन इन्द्रियोंके विषय रूपादिक पदार्थोंको जो मुनि विजित कर लेता है अर्थात् इनसे भिन्न अपने आत्माका जो अनुभव करता है वह ही जितेन्द्रिय है।

उनके जीतनेका प्रकार इस रीतिसे है—ये जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं सो अनादि बन्धपर्यायकी आधीनता द्वारा समस्त स्व और परके विभागको नष्ट करने वाली हैं अर्थात् अनादि कालसे आत्माके साथ जो पुद्गलका सम्बन्ध हो रहा है उसके वशसे इनमे आत्मा और परका विभाग ज्ञान नहीं हो पाता है तथा ये शरीरपरिणामको प्राप्त करने वाली हैं अर्थात् शरीरके साथ एकमेक हो रही हैं। निर्मल भेदज्ञानके अभ्यासकी कुशलतासे जायमान तथा अन्तरङ्गमें देदीप्यमान अति सूक्ष्य चित्स्वभावके आलम्बनके बलसे इन द्रव्येन्द्रियोसे भिन्न जो निज आत्माको जानना है यही उनका जीतना है।

यद्यपि विषय अखण्ड है और आत्माका स्वरूप भी अखण्ड है परन्तु कर्ममलीमस आत्मा इन्हें युगपत् स्वतन्त्र रूपसे नही जान सकता है। अतः भावेन्द्रियोके द्वारा खण्डशः पदार्थोंको जानता है अर्थात् भावेन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिविशिष्ट विषयको खण्डशः आकर्षण करने वाली हैं। जैसे पुद्गल तो स्पर्श रस गन्ध वर्ण वाला है परन्तु उसे चक्षुरिन्द्रिय केवल रूपमुखसे ग्रहण करती है, घ्राणेन्द्रिय गन्धमुखसे ग्रहण करती है, रसनेन्द्रिय रसमुखसे ग्रहण करती है और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्शमुखसे ग्रहण करती है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूपके समुदायरूप पुद्गलको समग्र रूपसे एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति भावेन्द्रियोम नहीं है। इन भावेन्द्रियोंसे प्रतीयमान अखण्ड एक चैतन्य शक्तिके द्वारा अपने आत्माका जो जानना है वही इन भावेन्द्रियाका जीतना है।

इसी प्रकार भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमे आने वाले जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण हैं वे ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्ध प्रत्यासत्तिके वशसे ऐसे प्रतीत होते है मानों ये ज्ञान ही हैं अर्थात् ये स्पर्शादि ज्ञानमे आनेसे ज्ञानके समान भासमान होते हैं ज्ञानस्वरूप नहीं है क्योंकि ज्ञान भिन्न पदार्थ है और ज्ञेय भिन्न पदार्थ हैं। उन्हे चेतनाशक्तिके स्वय अनुभवमे आने वाले असगपनसे आत्मासे पृथक् अनुभव करना चाहिये अर्थात् चेतनाशक्तिका जो विकास है उसमें चेतनाका ही परिणमन भासमान हो रहा है अपनेमें प्रतिफलित ज्ञेयोंसे चेतना सदा असंग—निलिप्त ही रहती है। ऐसी चेतनाशक्तिकी महिमासे स्पर्शादिसे भिन्न अपने आत्मस्वरूपका जो अवबोध है यही उनका जीतना है।

जब आत्मा इन द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा भावेन्द्रियोंके विषयभूत रूपादिकोंसे अपने आपको भिन्न जान लेता है तब इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके विषयभूत रूपादिक पदार्थोंमे जो

ज्ञेयज्ञायक संकर दोष आता था वह स्वयं दूर हो जाता है तथा उसके दूर होनेसे आत्मा अपने टङ्कोत्कीर्ण एकपनमें स्वयं स्थित हो जाता है। जैसे टाँकीके द्वारा पत्थरमे उत्कीर्ण आकार स्थित रहता है ऐसे ही आत्मा भी अपने एकपनमे स्थित हो जाता है।

इस प्रकार जो समस्त विश्वको जानकर भी उसके ऊपर तैर रहा है, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होनेसे जो अन्तरङ्गमे निरन्तर प्रकाशमान रहता है, अनपायी—अनश्वर है, स्वतः सिद्ध है और परमार्थ सत् है ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभावके द्वारा जो आत्माको अन्य समस्त द्रव्योंसे पृथक् जानता है वह जितेन्द्रिय जिन है यह एक निश्चय स्तुति है ॥३१॥

अब भाव्यभावक संकरदोषका परिहार करते हुए दूसरी निश्चय स्तुति कहते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक अपने आत्माको जानता है उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले 'जितमोह' कहते है।

विशेषार्थ—आत्माके साथ मोहकर्म सन्ततिरूपसे अनादिसे है, जब उसका उदय काल आता है तब आत्मामे मोह, राग, द्वेषभावरूप परिणति होती है। दर्शनमोहके उदयमें मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयमे रागादिक होते है और आत्मा उन्हीं परिणामोंके अनुकूल उस कालमे अपनी प्रवृत्ति करता है। इस तरह फल देनेमे समर्थ होनेसे मोह भावक है और तदनुरूप परिणति करनेसे आत्मा भाव्य है। जब जीवको तत्त्वविचारके द्वारा अपने स्वरूपका अवबोध होता है तब वह बलपूर्वक मोहको तिरस्कृत कर अपने आत्माको उससे पृथक् कर लेता है। उसी समय जो भाव्यभावक संकरदोष था उसका अभाव हो जाता है। उसका अभाव होनेपर आत्मा टङ्कोत्कीर्ण रूपसे अपने एकत्वमे स्थित हो जाता है।

इस प्रकार एकत्व स्वभावमें स्थित आत्माको जो समस्त विश्वके ऊपर तैरनेवाले, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होनेसे अन्तरङ्गमे निरन्तर प्रकाशमान, अनपायी, स्वतः सिद्ध और परमार्थ सत् भगवान ज्ञानस्वभावके द्वारा द्रव्यान्तरके स्वभावसे होनेवाले समस्त अन्यभावोंसे परमार्थतया भिन्न अनुभव करता है वही निश्चय कर जितमोह जिन है यह द्वितीय निश्चय स्तुति है।

इस प्रकार जो आत्मा मोहके उदयसे आत्मामे होनेवाले रागादिक भावोंको भेद-ज्ञानके बलसे औपाधिक जान उनसे अपने आत्माको पृथक् करनेका अभ्यास करता है तथा इसीके लिए श्रेणी चढ़नेकी चेष्टा करता है वह दशम गुणस्थानके अन्तमें मोहका क्षयकर क्षीणमोह हो जाता है।

यहाँ गाथामें जिस प्रकार मोहको लेकर व्याख्या की गयी है उसी प्रकार मोहपदको

बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन सोलहकी व्याख्या करना चाहिये ॥३२॥

आगे भाव्यभावकभावका अभाव होनेपर आत्माकी जो अवस्था होती है उसका वर्णन करते हुए तृतीय निश्चयस्तुति कहते हैं—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

अर्थ—मोहको जीतनेवाले उस साधुका मोह जब क्षीण हो जाता है अर्थात् सत्तासे नष्ट हो जाता है तब निश्चयके जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ पर निश्चयसे पूर्वप्रक्रियाके द्वारा जो आत्मा, अपने आत्माके मोहको तिरस्कृतकर प्रकट हुए ज्ञानस्वभावसे युक्त आत्माका अनुभव करता हुआ जितमोह होता है वही स्वभावभावकी भावनाकी कुशलताके बलसे जब मोहकी सन्ततिका इस तरह अत्यन्त नाश करता है कि जिस तरह वह फिर उत्पन्न न हो सके तब उसका मोह क्षीण हो चुकता है अर्थात् सत्तासे पृथक् हो जाता है और वह भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे एकत्व भावमे स्थित होता हुआ टङ्कोत्कीर्ण परमात्म अवस्थाको प्राप्त होकर क्षीणमोह जिन कहलाने लगता है। इस प्रकार तृतीय निश्चयस्तुति जानना चाहिये।

इसी प्रकार मोहपदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोंकी व्याख्या करना चाहिये ?

पहले सामान्यरूपसे उद्यम था अर्थात् मोहादिप्रकृतियोंके उपशम करनेका प्रयास था। और अब एकदम नाश कर क्षीणमोह होनेका लक्ष्य है। इसी तरह और भी जान लेना चाहिये। व्यवहारनयसे शरीर और आत्मामें एकपन कहा जाता है। निश्चयसे आत्मा और शरीर एक नहीं है, अतः शरीरका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन नही हो सकता, किन्तु निश्चय से आत्माका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन हो सकता है। अतः आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ है। इस विवेचनसे, जो यह शङ्का की गयी थी कि शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन होता है उसका निरास हो जाता है ॥३३॥

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया—
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे—
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

अर्थ—शरीर और आत्मामें एकपन व्यवहारसे है, निश्चयसे नहीं, अतः शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति व्यवहारसे है, निश्चयसे नहीं। निश्चयसे तो आत्माकी स्तुति आत्माकी स्तुतिसे ही हो सकती है। इस तरह तीर्थंकरकी स्तुति विषयक प्रश्नका जो उत्तर दिया था उसके बलसे आत्मा और शरीरमें एकपन सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥२७॥

अब आत्मा और शरीरकी एकताके नष्ट होने पर ही ज्ञान ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकताया
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्ट प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अर्थ—इस तरह तत्त्वके अभ्यासी मुनियोंके द्वारा नयविभागकी योजनासे जब आत्मा और शरीरकी एकताका बिलकुल निराकरण कर दिया गया तब स्वरस के वेगसे खिंचकर एक स्वरूप प्रकट हुआ किसका ज्ञान, ज्ञानमे अवतीर्ण नहीं होता ? अर्थात् किसका ज्ञान ज्ञानमे प्रतिष्ठित नहीं होता ?

ज्ञान के साथ अनादि कालसे मोहजन्य विकारोका मिश्रितपना चला आ रहा है उसीके प्रभावसे यह जीव पदार्थोंको जानकर उनमे इष्टानिष्टका विकल्प करता है, इस विकल्पके कारण उसका ज्ञान ज्ञानमें प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु जब मोह नष्ट हो जाता है तब उसके उदयमें जायमान विकल्प कहा रहेंगे ? इस तरह विकल्पके अभावमे ज्ञान ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

यहाँ निश्चय और व्यवहारनयके कथन द्वारा आत्मा और शरीरका भेद दिखाया गया है। जो पुरुष इस भेदको जानता है उसीने स्वरसको शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उसीका बोध वास्तविक बोध है ॥२८॥

इस तरह यह जीव अनादि मोहसंतानके कारण संजात आत्मा और शरीरके एकत्व-सस्कारसे यद्यपि अप्रतिबुद्ध रहता है तो भी दृढ प्रयासके कारण इसके तत्त्वज्ञानरूपी ज्योति प्रकट हो जाने पर उस नेत्रविकारीके समान जिसके कि नेत्रका फूला दूर हो गया है, शीघ्र ही प्रतिबुद्ध हो जाता है और साक्षात् द्रष्टा अपने आपको अपने आप ही जानकर, उसीकी श्रद्धा कर उसीका आचरण करना चाहता है अर्थात् उसीमे लीन होना चाहता है, ऐसा जीव आचार्य महाराजसे पूछता है कि हे भगवन् ! स्वात्माराम अर्थात् अपने आपमें ही लीन रहने वाले पुरुषको अन्यद्रव्योंका प्रत्याख्यान करना पड़ता है, सो वह प्रत्याख्यान क्या वस्तु है ? इस प्रश्नके उत्तरमे आचार्य आगे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

अर्थ—जिस कारण सब भाव पर है ऐसा जानकर साधु उनका त्याग करता है इस कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा नियमसे जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिस कारणसे यह भगवान ज्ञाता आत्मद्रव्य, अन्य पर द्रव्यके स्वभावसे होने वाले सम्पूर्ण भावोको परत्वरूपसे जानकर त्यागता है क्योकि वे सम्पूर्ण पर भाव अपने स्वभावसे व्याप्त नहीं हैं । इसलिये जो पहले जानता है वही पश्चात् उन्हे त्यागता है, क्योंकि जो ही आत्मा जानने वाला है वही आत्मा त्याग करने वाला है, अन्य त्याग करने वाला नहीं है, इस प्रकार आत्मामे निश्चय करके प्रत्याख्यानके समय प्रत्याख्येय पदार्थ—त्यागने योग्य पदार्थ रूप उपाधिसे प्रवृत्तिमे आया जो (व्यवहारसे) कर्तापनेका व्यपदेश है उसके होने पर भी परमार्थसे अव्यपदेश्य ज्ञानस्वभावसे च्युत न होनेके कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

भावार्थ—वास्तवमें ज्ञान ज्ञेयको जानता है, न तो उसे ग्रहण करता है और न उसे त्यागता है, त्याग ग्रहणपूर्वक होता है, किन्तु अनादि कालसे एक ऐसी मोहकी उपाधि इस आत्मद्रव्यसे लगी हुई है कि जिसके सम्बन्धसे यह परद्रव्यको अपना मानता है और जब तक मानता है तभी तक अनन्त ससारकी यातनाओंको सहता हुआ चतुर्गतिका पात्र होता है । जब काललब्धि आदि निमित्त मिलते हैं तब विभ्रमके मूल मिथ्यात्वके जानेपर अपनेको जानता है । उस कालमे परके ग्रहणका विकल्प ही नहीं होता, ज्ञानका परिणमन जानने मात्र रह जाता है । उसमे रागादि द्वारा जो इष्टानिष्ट कल्पनाओका उदय होता था वह स्वयमेव शान्त हो जाता है । उस समय ज्ञाता ज्ञाता ही रह जाता है, त्याग और ग्रहणका विकल्प कराने वाला जो था वह सत्तामे ही नही रहा, विकल्प कहाँसे हो ? अतः आचार्योंका कहना है कि परमार्थसे अपने स्वरूपसे च्युत न होने वाले ज्ञानका ही नाम प्रत्याख्यान है ॥ ३४ ॥

अब ज्ञाताके प्रत्याख्यानमे कौन-सा दृष्टान्त है यही दिखाते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥३५॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष यह परद्रव्य है ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त पर भावोंको 'ये पर है' ऐसा जान कर छोड़ देता है ।

विशेषार्थ—उक्त अर्थको आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते है । जैसे, कोई मनुष्य धोबीसे पराया वस्त्र लाकर तथा अपना समझ उस वस्त्रको ओढ़ कर सो गया, क्योंकि उसे

यह ज्ञान नहीं था कि यह पराया वस्त्र है। अब जिसका वस्त्र था वह धोबीसे स्वकीय वस्त्र माँगने लगा। धोबीने कहा—आपका वस्त्र अमुकके घर भूलसे चला गया। इस बातको सुनकर वह शीघ्र ही जिसने अज्ञानसे अपना मानकर व्यवहारमे लिया था उसके घर आया और बलपूर्वक वस्त्रके अञ्चलको पकड़कर ओढ़ने वालेको उघाड़ दिया और कहा कि भाई! यह वस्त्र भूलसे आप बदल लाये हो, अतः शीघ्र ही हमारा वस्त्र हमको सौंप दो। इस प्रकारका वाक्य श्रवणकर उसने सम्यक् रीतिसे परीक्षाकर यह निश्चयकर लिया कि यथार्थमें यह पराया है, तब शीघ्र ही उस वस्त्रको लौटा दिया। ऐसे ही ज्ञाता भी सम्भ्रान्तिसे परकीय भावोको ग्रहणकर तथा उन्हे आत्मीय जानकर आत्मामे उन भावोंका अध्यासकर सो जाता है। अज्ञानके वशीभूत होकर उन्हें परकीय नहीं जानता। अतएव बेसुध सोते हुए की तरह कालयापन करता है। जब भाग्योदयसे श्री निर्ग्रन्थ गुरुका समागम होता है तब वे गुरु समझाते हैं—भाई! तुम तो ज्ञान-दर्शनके पिण्ड हो, एक हो, यह जो भाव हैं वे परनिमित्तक है, वास्तवमे तुम्हारे नहीं है, विकारजन्य है तथा विकारी है, ऐसा शीघ्र ही प्रतिबोध कराते है, निश्चयकर आत्मा एक है, इस प्रकार बार-बार आगमवाक्योको श्रवण करता हुआ आत्मा सम्पूर्ण चिन्होंसे उन भावोंकी परीक्षा कर यह निश्चय कर लेता है कि ये जो औपाधिक भाव हैं वे पर हैं, क्योंकि परनिमित्तसे जायमान हैं। इस प्रकार जानकर शीघ्र ही सम्पूर्ण विभाव भावोंको त्याग देता है। जब तक अज्ञानसे यह आत्मा पर वस्तुको अपनी जानता है तभी तक उसे अपनी मानता है और उसे ग्रहण किये रहता है। जिस समय यह ज्ञान हो जाता है कि यह तो परकीय वस्तु है तब त्यागनेमें विलम्ब नहीं करता है।

इस तरह यह आत्मा अनादि मोहके वशीभूत होकर अज्ञानी हो रहा है और उसी अज्ञानसे परनिमित्तसे जायमान रागादिक विभावोको स्वकीय मान रहा है। जब श्रीगुरुके निमित्तसे मोहका अभाव होनेपर स्वकीय स्वरूपका ज्ञानी हो जाता है तब झटिति उन पर भावोको त्याग देता है॥ ३५॥

यही बात अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टि।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥२९॥

अर्थ—अनवम—जिनसे अवम—बुरे दूसरे नहीं ऐसे—परभावोंके त्यागके लिए दिये दृष्टान्तपर दृष्टि अत्यन्त वेगसे जब तक प्रवृत्तिको प्राप्त नहीं होती तब तक अन्य समस्त भावोंसे रहित यह अनुभूति शीघ्र ही स्वयं प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—आचार्य महाराजने परपदार्थोंके त्यागका जो दृष्टान्त दिया है उस पर दृष्टि शीघ्र ही जब तक स्थिर हो उससे पहले ही समस्त परभावोंसे रहित स्वानुभूति तत्काल प्रकट हो जाती है अर्थात् परको पर जानते ही उसके त्यागमें विलम्ब नहीं लगता। यहाँ परभाव के त्यागका जो दृष्टान्त है उसका यह आशय है कि जब आत्माने जान लिया कि ये परभाव है तब उनमें जो ममत्वभाव था उसका एकदम अभाव हो जाता है। यदि किसी सम्यक्त्वीके चारित्रमोहका उदय हो तो वह उनमें उदासीन हो जाता है—आसक्त नहीं रहता। परको पर जाननेसे ही चक्रवर्ती ९६००० स्त्रियों और षटखण्ड भरत क्षेत्रका आधिपत्य होते हुए भी उस विभवसे जलमे कमलपत्रकी तरह अलिप्त रहते हैं, कर्दममे पड़ा हुआ सुवर्ण कर्दमके लेपसे रहित ही रहता है। बालकका दुग्धादि द्वारा पोषण करती हुई भी धाय अन्तरङ्गसे उसे अपना नहीं समझती और माता दुग्धादि द्वारा पोषण न करती हुई भी अपना समझती है। इससे यह सिद्धान्त आया कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर परपदार्थमे ममत्वभावका अभाव हो जाता है ॥ २९ ॥

आगे अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान किस प्रकार होता है, यह आशङ्काकर उसका समाधान करते हैं। भेदज्ञानके दो रूप हैं—एक तो अपने रागादिकसे भिन्न आत्माको जानना और दूसरा ज्ञेय पदार्थोंसे भिन्न आत्माको जानना। इनमेसे पहले भावक मोहके द्वारा हुए जो भाव्य भाव, उनसे भिन्न होनेका प्रकार दिखाते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
त मोह-णिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति ।।३६।।

अर्थ—मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ ऐसा जो जानता है, आगमके ज्ञाता उसे मोहसे निर्ममत्व जानते हैं।

विशेषार्थ—मोह चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, कोई भी मेरा नहीं है, मैं अकेला केवल उपयोगस्वरूप हूँ, ऐसा जो जानता है समयके जानने वाले उसे मोहसे निर्मम कहते है। अर्थात् जो आत्मा ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानादि उपयोगरूप है, जो ये रागादिक औपाधिक भाव होते हैं वे मेरे लक्षण—स्वरूप नहीं हैं, नैमित्तिक विभाव भाव हैं, निमित्तका अभाव होने पर इनका विलय देखनेमें आता है, उस आत्माको आत्मा और परके जानने वाले तत्त्वज्ञानी जीव मोहसे निर्ममता वाला कहते हैं।

मैं सत्यार्थ रूपसे ऐसा जानता हूँ कि यह जो मोह है वह मेरा कुछ भी नहीं है। जब तक मोहकर्म सत्तामें रहता है तब तक तो आत्मा कुछ भी विकार भाव करनेको समर्थ नहीं होता, किन्तु जब उसका विपाक काल आता है तब आत्मामें भाव्यभाव—रागादिक होते हैं और उन भावोंके उत्पन्न होनेमें इसकी विपाक अवस्था निमित्तभूत है। इसीसे फलदानकी समर्थतासे जब यह उदयमे आता है तब आत्मामे जो रागादिक उत्पन्न होते है वह इसीके

द्वारा होते हैं। अतः उन भावोका उत्पादक यह मोहनीय पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म ही है, यही भावक कहलाता है। आत्मा टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला है। अतः परमार्थसे विचार किया जावे तो यह भाव आत्माका स्वभावजन्य नहीं है। इसीलिये श्रीगुरुका कहना है कि पुद्गलद्रव्यात्मक मोहकर्म जिसका उत्पादक है ऐसा मोह मेरा कुछ भी नहीं है क्योंकि परमार्थसे परभावके द्वारा पर नहीं हो सकता है। ज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है—जिसकी प्रतापरूप संपदा स्वय ही विश्वके समस्त पदार्थोंके प्रकाश करनेमे चतुर है तथा निरन्तर विकासरूप है, ऐसे चैतन्यशक्तिरूप स्वभावके द्वारा भगवान् आत्माका ही अवबोध होता है। मैं एक चैतन्यस्वभाव वाला हूँ परन्तु समस्त द्रव्योंका जो परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह हो रहा है उसकी अनिवार्यता—निवारण किये जानेकी असमर्थता—से परस्परमज्जित अवस्था भी हो रही है अर्थात् आत्मा और रागादिक विकारी भाव परस्पर मिलकर एक हो रहे है। परन्तु जिस प्रकार दही और खांड परस्पर मिलकर यद्यपि एकरूप प्रतीत होते है तथापि विवेकी जनोंको दही और खांडका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है उसी प्रकार आत्मा और रागादिककी मज्जितावस्थामे भी भेदज्ञानी पुरुषोंको आत्मा तथा रागादिकका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है। अतः मैं मोहके प्रति निर्मम ही हूँ। जीवका चैतन्यगुणके द्वारा भिन्न ही अनुभव होता है और मोहात्मक रागादिकोंका आकुलतात्मक अनुभव भिन्न रूपसे होता है। अतः आत्मा सदा अपने एकत्वसे तन्मय स्थितिको धारण करता हुआ स्थित है तथा मोह उससे भिन्न पृथक् ही पदार्थ है।

वास्तवमे मोहकर्म पुद्गलात्मक है। इसका जब विपाककाल आता है तब आत्माके उपयोग सम्बन्धी स्वच्छताकी विकाररूप परिणति हो जाती है और उसी परिणतिमें ये ये रागादिक कलुषभाव अवतीर्ण होते हैं। मिथ्यात्वके निमित्तसे यह आत्मा उन्हें अपने मानने लगता है। फलस्वरूप कभी अपनेको क्रोधी, कभी मानी, कभी मायावी और कभी लोभी बनाता है। इन्हींके द्वारा अनर्थपरम्पराका पात्र होता है। परन्तु जब भेदज्ञानका अवलम्बन करता है तब इन्हें विकृत भाव जान इनसे भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करता हुआ अनर्थपरम्पराका समूल उन्मूलन कर देता है। इस तरह भावक और भाव्यका विवेक प्रकट होता है॥ ३६॥

अब श्री अमृतचन्द्रस्वामी इसी भावको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

सर्वत स्वरसनिर्भरभाव चेतये स्वयमह स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अर्थ—जो सब ओरसे स्वरसके भारसे भरा हुआ है ऐसे एक आत्मस्वरूपका ही मैं इस लोकमे स्वय अनुभव करता हूँ, कोई भी मोह मेरा नहीं है, नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यरूप तेजका भाण्डार हूँ।

भावार्थ—मैं शुद्ध चेतनाकी निधि हूँ, मोहसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, यह तो एक औपाधिक भाव है जो निमित्तवश मेरी स्वच्छतामे प्रतिभासमान होता था, कुछ मेरा स्वरूप नहीं था। जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ और निर्विकार है, किन्तु जपापुष्पादिके संयोगसे उसकी स्वच्छतामें लालिमा आदि अनेक रङ्ग प्रतिभासमान होते हैं वे यद्यपि स्फाटिकमणिमे वर्तमानरूपसे भासमान हो रहे हैं किन्तु तत्त्वदृष्टिसे स्फटिकके अभेदरूप नहीं हो गये हैं क्योकि जपापुष्पादिके वियोगमे स्फटिकमणि स्वच्छ ही रहता है। इसी प्रकार आत्माके स्वच्छ उपयोगमे यह रागादिक, मोहकर्मके विपाकसे प्रतिभासमान होते हैं और उस समय अज्ञानी जीव उन्हें अपने स्वरूप मान लेता है। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब उपयोगकी स्वच्छतामे वे परमार्थसे आत्माके नहीं हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवोंके अनुभव होने लगता है। इस तरह भावक-भाव्यभावका अवबोधकर मोह पदके स्थानमे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शनको रख कर सोलह पदोका पृथक्-पृथक् व्याख्यान करना चाहिये ॥३०॥

अब जिस प्रकार भावक-भाव्यभावसे आत्माको भिन्न किया उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक-भावसे भी भिन्न जानना चाहिये, यह समझाने लिये गाथा कहते हैं—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
त धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

अर्थ—जो ऐसा जानता है कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ उसे आगमके ज्ञाता मुनीश्वर धर्मनिर्ममत्व कहते हैं ॥

विशेषार्थ—यह जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा मेरेसे भिन्न जीवद्रव्य और पुद्गल हैं वे सब पदार्थ स्वरससे उत्पन्न, अनिवार्य प्रसारसे युक्त तथा समस्त पदार्थोंको ग्रसित करने वाली प्रचण्ड चैतन्य शक्तिके द्वारा ग्रासीभूत होनेसे यद्यपि अत्यन्त अन्तर्निमग्न-के समान आत्मामे प्रकाशमान हो रहे है तो भी मै टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला हूँ, और ये सब पदार्थ मुझसे भिन्नस्वभाव वाले है तथा परमार्थसे बाह्यरूपताको छोडनेमे असमर्थ है। अर्थात् अपना बाह्य रूप छोडकर चेतनरूप परिणमन त्रिकालमे नही कर सकते, इसलिये मेरे नहीं है। जैसे स्वच्छताके कारण संमुखागत पदार्थ दर्पणमे प्रतिबिम्बित-से जान पडते हैं, परमार्थसे दर्पण भिन्न है और पदार्थ भिन्न है, दर्पणकी स्वच्छता उन बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे यद्यपि उन पदार्थोंके आकार परिणमनको प्राप्त हो जाती है तथापि उन पदार्थोंके साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। जो दर्पणमे भासमान हो रहे है वे सब दर्पणकी स्वच्छताके विकार हैं। इसी तरह आत्मामें ऐसी निर्मलता है कि यदि प्रतिबन्धक कारण न हों तो ज्ञेय पदार्थ उसमे प्रतिभासमान होते है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बाह्य ज्ञेय ज्ञानके अभ्यन्तरमे चले जाते हैं, जो ज्ञानमे भासमान हो रहे हैं वह ज्ञानका ही परिणमन है। अतः ये जो धर्म, अधर्म, अकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव है वे आत्माके नहीं हैं

ऐसा वहाँ समझना चाहिये। चैतन्यस्वभावके कारण नित्य ही उपयुक्त रहने वाला यह भगवान् आत्मा ही परमार्थसे निराकुल एक आत्मस्वरूपका वेदन करता हुआ यह जानता है कि मैं निश्चयसे एक हूँ, इसलिये सवेद्य-सवेदक—ज्ञेय-ज्ञायकभावसे उत्पन्न परस्परमें संकलन—समिश्रणके होनेपर भी आत्मा तथा पर पदार्थोंका स्वभाव स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् अनुभवमे आता है। अतः मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीवरूप विजातीय-सजातीय द्रव्योंके प्रति निर्मम हूँ। पदार्थोकी ऐसी ही व्यवस्था है कि वे सदाकाल आत्माके साथ एकपनको प्राप्त होकर भी अपने स्वरूपसे भिन्न ही रहते है। इस तरह ज्ञेयभावसे आत्माको भिन्न जानना चाहिये ॥३७॥

यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा दरशाते है—

मालिनीछन्द

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्मारामे एव प्रवृत्त ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य समस्त भावोके साथ भेद होनेपर इस जीवका यह उपयोग स्वय एक आत्माको धारण करता हुआ जिनका यथार्थ स्वरूप प्रकट है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणति कर आत्मारूप उपवनमे ही प्रवृत्त होता है—उसी एकमे रम जाता है।

भावार्थ—जब तक आत्मामे मोहजन्य रागादि परिणामोका उदय रहता है और यह आत्मा उन्हे निज समझता है तब तक परपदार्थोंमे इष्ट कल्पनाकर किसी पदार्थमे आसक्त होकर तन्मय हो जाता है और किसी पदार्थमे अनिष्ट कल्पनाकर उसमे अनासक्त हो उसके नाशका उद्योग करता है। परन्तु जब भेदज्ञानका उदय होता है तब सब ओरसे उपयोग अपने आप परसे पृथक् होकर अपने स्वरूपमे स्वयमेव रमण करने लगता है ॥३१॥

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप परिणत हुए आत्माके स्वकीय स्वरूपका संचेतन किस तरह होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथनका उपसहार करते है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसण-णाण-मइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्त पि ॥३८॥

अर्थ—निश्चयसे मै एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है।

विशेषार्थ—संसारमे जितने पदार्थ है वे सब अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावचतुष्टय-

कर अपने-अपने अस्तित्वमें लीन हैं। अन्य पदार्थोंके साथ परस्परावगाह लक्षण सम्बन्ध होनेपर भी एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ तादात्म्य नहीं होता। निश्चयसे यह आत्मा अनादिकालसे मोहके द्वारा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो रहा है और इसी अप्रतिबुद्धताके कारण अपने और परके भेदसे अनभिज्ञ है। इसकी ऐसी दशा देख संसारसे विरक्त परमदयालु श्रीगुरुने इसे निरन्तर समझाया, उससे किसी तरह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। तब जैसे कोई मनुष्य सुवर्णको अपने हाथमे होते हुए भी अन्यत्र अन्वेषण करता है और न मिलनेसे दुखी होता है। उसकी यह अवस्था देख किसी मनुष्यने कहा—क्या खोजते हो? वह कहता है—सुवर्ण खो गया है। तब उसने कहा—तुम्हारे हाथमे ही तो है। यह सुन वह एकदम आनन्दको प्राप्त हो गया। ऐसे ही आत्मा है तो आत्मामे ही, परन्तु अज्ञानी उसे शरीरादि पर-पदार्थोंमे खोजकर दुःखका पात्र होता है। अब श्रीगुरुके उपदेशसे परमेश्वर आत्माको जानकर तथा श्रद्धाकर और उसीमे चर्याकर समीचीन आत्मामे ही आत्माका रमण करता हुआ एकदम आनन्दपुञ्जका आस्वाद लेकर ऐसा तृप्त हो जाता है कि अनन्त संसारकी यातनाएँ एकदम विलीन हो जाती है। वही मै एक आत्मा हूँ। यद्यपि आत्मामे क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान व्यावहारिकभावोंके द्वारा नानापनका व्यवहार होता है तथापि चैतन्यमात्र आकार-के द्वारा मुझमे कोई भेद नहीं है, अतएव मैं एक हूँ। नारकादिक जीवके विशेष तथा अजीव-रूप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये जो व्यवहारसे नव तत्त्व है उनसे मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावके द्वारा अत्यन्त भिन्न होनेसे शुद्ध हूँ। मै चेतना-मात्र हूँ और सामान्यविशेषोपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शनोपयोगके साथ जो तन्मयता है उसका कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, अतः ज्ञान-दर्शनमय हूँ। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इनका संवेदन करनेवाला हूँ। अर्थात् मेरे ज्ञानमे ये प्रतिभासमान होते हैं, मै इनका जाननेवाला हूँ परन्तु इनरूप नहीं परिणमता। अतः परमार्थसे सर्वदा अरूपी हूँ। इस प्रकार इनसे अपने स्वरूपको भिन्न जानता हुआ इन्हें जानता भर हूँ। यद्यपि बाह्य पदार्थ अपनी विचित्र स्वरूप-सम्पदाके द्वारा मेरे ज्ञानमे स्फुरित होते हैं—झलकते है तो भी परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है जो भावकपनसे या ज्ञेयपनसे मुझमे फिर मोह उत्पन्न कर सके। जब आत्मामे भावक-भाव्यभाव और ज्ञेय-ज्ञायकभाव मोहके उत्पन्न करनेमे समर्थ नहीं होते है तब यह स्वरससे ही, फिर उत्पन्न न हो सके, इस तरह मोहका समूल उन्मूलन करता है और उस समय इसके महान् ज्ञानका उद्योत अर्थात् संपूर्ण ज्ञानका प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

आत्माकी महिमाका गान करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु ॥१२॥

अर्थ—विभ्रमरूपी परदाको शक्तिपूर्वक दूरकर यह भगवान् ज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है सो लोकपर्यन्त छलकते हुए इसके शान्त रसमे ये समस्त प्राणी एक साथ अतिशय-रूपसे निमग्न हों।

भावार्थ—इस जीवका भेदज्ञानरूपी सागर मिथ्यादर्शनरूपी परदाके भीतर छिपा है। इसीसे ससारके समस्त प्राणी बाह्य पदार्थोंमे अहंकार-ममकार करते हुए निरन्तर अशान्त रहते है। अतः उस मिथ्यादर्शनरूपी परदाको अत्यन्त दूरकर यह भगवान भेदविज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है सो इसके शान्त रसमे—आल्हाददायक परिणतिमे ससारके समस्त प्राणी एकसाथ अच्छी तरह अवगाहन करे। ससारके अन्य समुद्रोका रस अर्थात् जल तो क्षाररूप होनेसे अवगाहनके योग्य नही होता, परन्तु इस भेदविज्ञानरूपी सागरका रस अर्थात जल अत्यन्त शान्त है, आह्लाददायक है और लोकान्त तक छलक रहा है। अतः अवगाहनके योग्य है। यहाँ आचार्य महाराजने यह कामना प्रकट की है कि ससारके सब प्राणी विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्वको नष्टकर भेदज्ञानी होते हुए शान्तिका अनुभव करे, क्योकि विना भेदज्ञानके परसे ममत्व नही हट सकता और परमे ममत्वके हटे विना शान्तिका अनुभवन नही हो सकता।

आत्मख्याति-टीकाके रचयिता श्री अमृतचन्द्र स्वामीने इस समयसारका वर्णन एक नाटकके रूपमे प्रकट किया है। नाटकके प्रारम्भमे एक पूर्वरङ्ग[1] नामका प्रकरण होता है, जिसमे नट रङ्गभूमि सम्बन्धी विघ्नोकी शान्तिके लिये स्तवन आदि करते हैं। यहाँ पूर्वरङ्ग नामक प्रकरणको समाप्त करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने भेदज्ञानका स्तवन किया है॥ ३२॥

अब आगे जीव और अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं। सो उन दोनोमे भेदको दिखलाने वाला जो ज्ञान है उसकी प्रशसामे कलश काव्य लिखते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

जीवाजीव-विवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वसाद्विशुद्ध स्फुटम्।
आत्मारामममन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदित
धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञान मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अर्थ—जो जीव और अजीवके भेदको दिखलानेवाली विशाल दृष्टिसे सभासदोंको

१ यन्नाट्यवस्तुन पूर्व रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवा प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्ग स उच्यते ॥ —साहित्यदर्पण परिच्छेद ६।
सभापति सभासभ्या गायका वादका अपि।
नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यान् रञ्जनात् ॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेय पूर्व यत्स प्रकल्पते।
तस्मादय पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ॥ —भावप्रकाशिका।

भिन्न द्रव्यकी प्रतीति कराता है, जो अनादि संसारसे बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश करनेसे शुद्ध है, विकासरूप है, आत्मामें ही रमण करता है, अनन्त तेजःस्वरूप है, प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदित है, धीर है, उदात्त है, आकुलतासे रहित है और मनका आह्लादित करनेवाला है ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान मनको आनन्दरूप करता हुआ विकासरूप उदित होता है। अनादिकालसे आत्मा इसके बिना दुःखमय जीवन बिता रहा था और हीन मनुष्यके सदृश धनके अभावमें परम दुःखी था। पश्चात् धनके प्राप्त होनेसे जैसे रङ्क मनुष्य सानन्द होता है ऐसे ही सम्यग्ज्ञानके प्राप्त होनेपर आत्मा आह्लादभावको प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान जीव और अजीवका स्वरूप दिखाकर सभासदोंको यथार्थ प्रतीति कराता है, अनादिकालसे लगे हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनके बन्धनकी विधिको ध्वस्त करनेके कारण विशुद्ध है, पुष्पकी कलीके समान विकासको प्राप्त है, उसके रमणका स्थान आत्मा ही है अर्थात् पहले मोहके निमित्तसे परपदार्थमें जाता था, अब मोहका अभाव होनेसे स्वीय आत्मामें ही विश्रान्त हो गया, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंको जाननेवाला होकर भी आत्मतत्त्वमें ही रमण करता है, अनन्त प्रकाशमय है, प्रत्यक्ष तेजकर नित्य ही उदयरूप है, धीर है, उदात्त है अर्थात् मोहके सम्बन्धसे होनेवाले विकारी भावोंसे पहले विकृत था, पर अब मोहका अभाव होनेसे शुद्ध दर्पणकी तरह हो गया, केवल ज्ञेयोंके बिम्ब पड़नेसे ज्ञेयाकारका व्यवहार होता है। तात्विकदृष्टिसे ज्ञानका परिणमन ज्ञानरूप ही है, आत्माके स्वरूपको नहीं जानकर पहले नाना प्रकारकी आकुलताओंसे युक्त था, अब यथार्थ प्रतीति होनेसे निराकुल हो गया ॥३३॥

आगे जीव और अजीवके एकरूप होकर प्रवेश करनेसे जीवका यथार्थ स्वरूप समझनेमें जो विभ्रम होता है उसे दिखाते हैं—

अप्पाणमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तण-मंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोयेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

(पञ्चकम्)

अर्थ—आत्माको नहीं जानते हुए तथा परको आत्मा कहते हुए कितने ही ऐसे मूढ हैं जो अध्यवसानरूप भावको जीव मान लेते हैं। कितने ही ऐसे मूढ हैं जो कर्मको ही जीव मानते हैं। कितने ही ऐसे मूढ है जो अध्यवसानभावोंमे तीव्र मन्द अनुभागको जीव मान लेते हैं। बहुतसे ऐसे अज्ञानी जीव हैं जो नोकर्म—शरीरको ही जीव मान कर संतोष कर लेते हैं। कोई ऐसे हैं जो कर्मके उदयको ही जीव मानते है। कितने ही ऐसे हैं जो तीव्र और मन्दपनरूप गुणोंके द्वारा भेदरूपको प्राप्त कर्मोंका अनुभाग ही जीव है ऐसा मानते हैं। बहुत वादी ऐसे हैं जो जीव और कर्मकी मिली हुई अवस्थाको जीव मानते है। और कितने ही ऐसे है जो कर्मोंके सयोगसे होनेवाली परिणतिको जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य भी बहुत प्रकारसे दुष्टबुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीव परको आत्मा मानते है। परन्तु वे परमार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चयनयके जाननेवालोंने कहा है।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस संसारमे जिन्होंने उस आत्मद्रव्यका असाधारण लक्षण नहीं जाना है वे नपुसकपनसे अत्यन्त मूढ होते हुए पारमार्थिक आत्माको नहीं जानकर परको आत्मा कहते है। परमार्थरूपसे जबतक वस्तुका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तभी तक मिथ्याज्ञानसे पदार्थके स्वरूपमे नाना प्रकारकी कल्पनाएँ हुआ करती हैं। जैसे—मानसरोवरका एक हंस दैवयोगसे एक कूपपर पहुँच गया। कूपका मण्डूक आगन्तुक हसको देखकर पूछता है—महाशय! कहाँसे आपका शुभागमन हुआ? हस कहता है—हिमालय मध्यस्थित मानसरोवरसे आया हूँ। तब वह मेण्डक पूछता है—कितना बड़ा मानसरोवर है? हसने उत्तर दिया—बहुत भारी है। मेण्डकने एक पांव पसार दिया, क्या इतना बडा है? हसने कहा—नहीं भाई, बहुत भारी है। तब दूसरा पाँव फैला दिया, क्या इतना बडा है? हसने कहा—नहीं, वह बहुत विस्तारसे है। तब मेण्डकने सर्वाङ्ग फैला दिया, क्या इतना विपुल है? हसने कहा—भाई उसका विस्तार क्षत्र बहुत विस्तृत है। तब मेण्डक समस्त कूपमे भ्रमण कर कहने लगा, यदि अधिकसे अधिक होगा ता इतना होगा, यदि इससे भी विपुल है तो केवल कहनेकी बात है, है नहीं। इसी तरह आत्माके आभ्यन्तर स्वरूपसे जो अपरिचित है तथा शरीरादिकको ही जिन्होंने आत्मा मान रखा है वे उसका स्वरूप जाननेमे असमर्थ है। अतः जो कुछ अपनी कल्पनामे आ गया उसे ही जीव मान लेते है। उन्हीं मिथ्यावादियोंके थोड़ेसे भेदोंका आचार्य विवेचन करते है—

कितने ही वादी ऐसे है जिनका कहना है कि नैसर्गिक राग-द्वेषसे कलुषित जो अध्यवसान भाव है वे ही तो जीव है क्योंकि रागद्वेषात्मक अध्यवसान भावसे भिन्न अगारके कृष्णपनकी तरह जीवकी उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् जैसे अगारसे भिन्न कृष्णपन नहीं देखा जाता, ऐसे ही रागद्वेषरूप कलुषित अध्यवसानभावसे भिन्न आत्माकी उपलब्धि नहीं होती है।

कितने ही वादी ऐसे हैं जिनका कहना है कि अनादि अनन्त अथवा पूर्वापरीभूत अवयवोंमे एक संसरणरूप क्रियासे क्रीडा करता हुआ जो कर्म है वही जीव है क्योंकि इस कर्मसे भिन्न जीव अनुभवमें नहीं आता।

बहुतसे वादियोंका कहना है कि तीव्र और मन्द अनुभागसे जिनमे भेद है अर्थात् जिनमे कभी तो तीव्र रागादिक होते हैं और कभी मन्द रागादिक होते है। जब इनकी तीव्रता होती है तब यह हिंसादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है और जब इनकी मन्दता होती है तब दया आदि कार्योंमे प्रवृत्ति करता है। इस तरह तीव्र, मन्द अनुभागसे भेदको प्राप्त तथा दुःख-दायक रागरससे पूरित अध्यवसान भावोकी जो सतति है वही जीव है क्योंकि इनसे भिन्न जीवकी उपलब्धि नहीं देखी जाती। यदि इनसे भिन्न जीवकी उपलब्धि आपके अनुभवमे आती है तो स्पष्टरीतिसे कहो, ससारमें रागादिक परिणामोंके सिवाय अन्य कुछ नहीं देखा जाता। अतः इन्हींको जीव मानना उचित है, ऐसा बहुतसे ऊपरी दृष्टिवाले लोगोका प्रलाप है।

नवीन और पुरानी अवस्थाके भेदसे प्रवृत्तिमें आ रहा जो शरीर है वही जीव है, क्योंकि उससे अतिरिक्त जीव देखनेमे नहीं आता। किसीने कहा भी है—

> न जन्मन प्राक् न च पञ्चताया
> परो विभिन्नेऽवयवे न चान्त ।
> विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्
> भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥ —(धर्मशर्माभ्युदयमे पूर्वपक्ष)।

अर्थात् इस संसारमे जन्मसे पहले और मरनेके बाद तथा हाथ, पैर आदि अवयवके कट जानेपर, भीतर प्रवेश करता अथवा भीतरसे बाहर निकलता हुआ कोई जीव शरीरसे भिन्न दिखाई नहीं देता है।

इस तरह नया और जीर्ण शरीर ही जीव है, ऐसा कितने ही वादी कहते है।

संसार पुण्य और पापके विपाकसे ही पूरितावस्थ हो रहा है। अत कर्मविपाक ही जीव है क्योंकि शुभ और अशुभ भावोको छोड़कर भिन्नरूपसे किसी जीवतत्त्वकी उपलब्धि नही होती, ऐसा बहुतसे वादियोका मन्तव्य है।

कितने ही वादियोका यह मत है कि साता और असाताके भेदसे युक्त कर्मोका अनुभाग ही ससारमे देखनेमे आता है। जब साता कर्मका अनुभाग आता है तब सुख और जब असाता कर्मका अनुभाग आता है तब दुःख होता है। अतः सुख और दुःखको छोडकर अन्य जीवकी सत्ता अनुभवमे नहीं आती है।

कोई कहते है कि जिस प्रकार मज्जितावस्थामे दही और खांड मिलकर एक भासमान होते हैं उसी प्रकार आत्मा और कर्म इन दोनोंको मिली अवस्थाको ही जीवशब्दसे व्यवहृत करते है, क्योंकि इन सब कर्मोंको छोडकर अन्य कोई जीव नही है, यदि होता तो अनुभव-में आता।

अर्थक्रियामें समर्थ जो कर्मसयोग है वही जीव है। जिस प्रकार आठ काठोका संयोग

ही खट्वा है उसी प्रकार आठ कर्मोंका संयोग ही जीव है. इनसे अतिरिक्त कोई भिन्न जीव नहीं है, ऐसा बहुतसे बादियोंका मत है।

इसी प्रकार और भी अनेक वादी परको आत्मा शब्दसे व्यवहृत करते हैं। परन्तु वे सब विपरीतबुद्धि वाले हैं, अतएव परमार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चयके जाननेवाले कहते हैं। ॥३९।४०।४१।४२।४३॥

ये सब मिथ्यावादी क्यों है ? इसीका आगे आचार्य उत्तर देते हैं—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

अर्थ—ये पूर्वमें कहे हुए अध्यवसान आदि सब भाव पुद्गलद्रव्यके परिणामसे निष्पन्न हुए हैं ऐसा श्रीकेवली जिनेन्द्रने कहा है, तब वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं ?

विशेषार्थ—क्योंकि अध्यवसानादिक जितने भाव हैं इन सबको सर्वज्ञ भगवान्ने पुद्गलद्रव्यमय कहा है। अतः ये सब भाव चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्यसे भिन्न चैतन्यस्वभाव-वाला जो जीवद्रव्य है उसरूप नहीं हो सकते। इस तरह आगम, युक्ति और स्वानुभवसे बाधित पक्ष होनेके कारण अध्यवसानादिक भावोंको जीव माननेवाले जो वादी हैं वे परमार्थ-वादी नहीं हैं।

'अध्यवसानादयो भावा न जीवाः' यही इसमें आगम है, क्योंकि यह वचन परम्परा-से चला आया है तथा इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। परम्परासे भी जो वाक्य चला आवे, किन्तु प्रत्यक्षादिक प्रमाणसे बाधित हो तो वह प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकता। यह जो अध्यवसानादिक भाव हैं वे उपयोगकी तरह स्थायी नहीं हैं किन्तु मोहादि पौद्गलिक कर्मप्रकृतिके विपाकसे आत्मामें एक विभावपरिणति होती है उसीरूप होनेसे नैमित्तिक है, अस्थायी है, अतः आत्मा नहीं है।

स्वानुभवगर्भा युक्ति भी इसमें है, यही दिखाते हैं—निश्चयसे नैसर्गिक रागद्वेषसे कलुषित जो अध्यवसान भाव है वे जीव नहीं हैं क्योंकि जैसे कालिमासे भिन्न सुवर्ण है ऐसे ही अध्यवसान भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भी भेदज्ञानियोंके अनुभवमें प्रत्यक्ष आ रहा है। अनाद्यनन्त पर्यायोंमे परिभ्रमण करानेरूप क्रियासे क्रीडा करनेवाला जो कर्म है वह जीव नहीं है क्योंकि कर्मसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाले जीवका अनुभव भेद-ज्ञानियोंको स्वयं हो रहा है। निश्चय कर तीव्र-मन्दरूपसे विद्यमान दुःखदायक जो रागरसकी सतान है वह भी जीव नहीं है क्योंकि रागादिकसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाले जीवका अनुभव भेदज्ञानियोंको होता है। इसमें सदेहको स्थान नहीं है क्योंकि सब प्रमाणो-से अनुभव प्रमाणकी बलवत्ता आबालगोपाल विदित है। इसी तरह यह जो कहा था कि नई पुरानी अवस्थावाला जो शरीर है वही जीव है सो निश्चयसे विचार करनेपर असगत ठहरता है क्योंकि शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीवतत्त्व ज्ञानियोंके ज्ञानमें आ रहा है। पुण्य-पापरूपसे समस्त संसारपर आक्रमण करनेवाला कर्मका विपाक ही जीव है,

यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुभ-अशुभ भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियोंके प्रत्यक्षज्ञानमे आ रहा है। साता और असातारूपसे व्याप्त तीव्र तथा मन्दत्व गुणसे भेदको प्राप्त हुआ जो कर्मोंका अनुभाग है वही जीव है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सुख और दुःखसे भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव स्वसंवेदनप्रत्यक्षके द्वारा तत्त्वज्ञानियोंके अनुभवमे आ रहा है। किन्हीं महानुभावोंका कहना है कि मज्जितावस्थामे जैसे दो पदार्थोंकी एक विजातीय अवस्था भासमान होती है ऐसे ही आत्मा और कर्म इन दोनोंकी जो मज्जितावस्था अर्थात् मिश्र दशा है वही जीव है, सो इनका यह कहना प्रमाणसे बाधित है क्योकि चैतन्यस्वभावके द्वारा जीवका भिन्नरूपसे अनुभव होता है। इसी तरह किन्हीं वादियोंका यह कहना कि जिस तरह आठ काठके सयोगका नाम खाट है उसी तरह आठ कर्मोंका सयोग ही जीव है, ठीक नहीं है क्योकि जिस प्रकार आठ काठके सयोगसे निर्मित खाटपर शयन करनेवाले पुरुषका खाटसे पृथक् अनुभव होता है उसी तरह आठ कर्मोंसे भिन्न चैतन्य स्वभाववाले जीवका अनुभव पृथक् होता है।

इस प्रकरणमें पुद्गलसे भिन्न आत्माका अपलाप करनेवाले वादियोको साम्यभावसे समझाना चाहिये, क्योंकि विवाद करनेसे पक्ष पुष्टिकी प्रबलता हानेसे समझना तो दूर रहा, प्रत्युत दोष हो जाता है। जब सब जीव चेतनागुणवाले हैं और सभी जीव ससार सम्बन्धी दुःखसे भीरु हैं तब उन्हें वह मार्गप्रदर्शन करना उचित है जिससे उन्हें शान्ति मिले। जिसे कामला रोग है वह जीव शङ्खको पीला कहता है। अब आप ही बताइये, कामला रोगी यदि शङ्खको पीला कहता है तो उस अवस्थामें उसका वैसा कहना क्या मिथ्या है ? यद्यपि विषयकी अपेक्षा वह ज्ञान मिथ्या है परन्तु अन्तर्ज्ञेयाकारकी अपेक्षा भी क्या मिथ्या है ? अतः उसका कामला रोग जावे ऐसा उपाय करना योग्य है। केवल उसे मिथ्याज्ञानी कहनेसे न आपको लाभ है और न उसे। उसका रोग तो दूर करनेका प्रयास न किया जावे और उस अवस्थामे यह कहा जावे कि तुम्हारा ज्ञान मिथ्या है तो वह कदापि सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मिथ्यात्व दशामे यह जीव यदि शरीरादिकको आत्मा माने तो उस दशामे उसे बुरा भला कहना उसके मिथ्यात्वको पुष्ट करना है। अतः जहाँ तक बने उसे साम्यभावसे पदार्थप्रणालीकी अवगति कराकर समीचीन मार्गमे लानेका प्रयत्न करना तत्त्वज्ञानियोंका कर्त्तव्य है। उससे उपेक्षा कर जीवकी अवहेलना करना क्या श्रेयोमार्गके पथिकोंको उचित है ? सभव है, आपके सुमधुर सत्य उपदेशसे वह मिथ्यात्वसे च्युत होकर सम्यग्दर्शनका पात्र हो जावे। श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—'इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धि प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः' अर्थात् इस प्रकरणमे पुद्गलसे भिन्न आत्माकी उपलब्धिके प्रति विवाद करनेवाले पुरुषको शान्तिसे ही इस प्रकार समझाना चाहिये। किस तरह समझाना चाहिये ? यह कलश द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्य षण्मासमेकम्।

हृदयसरसि पुंस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धि ॥२४॥

अर्थ—रुको, व्यर्थके विभिन्न कोलाहलसे क्या साध्य है ? तूँ स्वयं ही निश्चल होकर छह माह तक एक आत्मतत्त्वका अवलोकन कर—उसीका अभ्यासकर। फिर देख कि पुद्गलसे भिन्न तेजवाले आत्मतत्त्वकी हृदयरूपी सरोवरमें उपलब्धि होती है या अनुपलब्धि।

भावार्थ—अकार्य कोलाहलसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती, अतः व्यर्थके वितण्डावादसे विरक्त होओ तथा अपने आप निश्चलवृत्तिको स्वीकारकर छह मास पर्यन्त हृदयरूपी सरोवरमें पुद्गलसे भिन्न तेजवाले चैतन्यपुरुषका अवलोकन करो, नियमसे उसकी प्राप्ति होगी, अनुपलब्धिकी आशङ्का मत करो।

पुरुषार्थ ही आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें कारण है। आज तक हम उस तत्त्वको कठिन-कठिन सुनकर वञ्चित रहे। बतलाओ तो सही, जिसके द्वारा संसार चल रहा है और जिसके प्रभावसे ही ससारमें नाना मतोकी सृष्टि हुई। जिसके द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी कल्पना हुई और जिसके द्वारा ही इन कल्पनाजालोंको असत् ठहराया गया उसीके जाननेमे हमें नाना प्रकारकी कठिनाई बताई जावे, यह सब हमारी दुर्बलता है। जो इन सब कल्पनाओंका स्रष्टा है वही आत्मदेव है, उसके आभ्यन्तरमें जो विकृत भाव हो रहे हैं उन्हे त्यागकर हमें अपने चैतन्यमात्र स्वरूपकी रक्षा करना चाहिये। शुद्ध स्वरूपके उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना आवश्यक नही। आवश्यक यह है कि उसमें जो विकार आ गया है उसे त्याग देना चाहिये। जैसे जब वस्त्रमे स्नेहका सम्बन्ध हो जाता है तब उस वस्त्रकी धूलि आदिके सम्बन्धसे मलिनावस्था हो जाती है। उस समय जो बुद्धिमान् मनुष्य है वे उस वस्त्रमे परपदार्थके सम्बन्धसे जो स्निग्धता आ गई थी उसे हटाते हैं। उसके हटनेसे वस्त्रकी स्वच्छताका विकास स्वयमेव हो जाता है। इसी तरह आत्मामें परपदार्थके ससर्गसे जो राग-द्वेष-मोहरूप मलिन परिणति हो रही है तथा जिसके द्वारा यह आत्मा अनन्त ससारके दुःखोंका पात्र बन रहा है, सर्वप्रथम उसी मलिन परिणतिको त्यागना चाहिये। उसके जाते ही देखोगे कि आत्मा स्वय शान्तिका पिण्ड है, शान्ति कहींसे आती नहीं है, दुग्धमें मक्खन क्या कहींसे आता है ? उसके फोक भागको निकाल दो, वह वस्तु तो उसमे स्वयं विद्यमान है। व्यर्थ दुःखी होनेसे कोई तत्त्व निकलने वाला नहीं है।

यहाँ आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये छह माह तक अभ्यास करनेकी जो बात कही गई है वह उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है। वैसे अन्तर्मुहूर्तके अभ्याससे भी उसका विकास हो जाता है। यह आत्मा अनादि कालसे परपदार्थोंके सहवाससे स्वकीय तत्त्वकी ओर लक्ष्य नहीं देता, यही उसके आत्मतत्त्वकी अनुपलब्धिका कारण है। अतः स्वकीय तत्त्वकी ओर लक्ष्य देनेका प्रयास करना चाहिये ॥४४॥

आगे शिष्यका प्रश्न है कि ये अध्यवसानादि भाव भी तो चेतनानुयायी प्रतिभासमान होते हैं, अतः इन्हे पुद्गल कैसे माना जावे ? इसका उत्तर देते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अर्थ—आठों प्रकारके कर्म सभी पुद्‌गलमय है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उदयमे आते हुए जिन कर्मोंका फल दुःख है ऐसा कहा जाता है ॥

विशेषार्थ—अध्यवसानादिक भावोंका जनक जो आठ प्रकारका कर्म है वह सबका सब पुद्‌गलमय है, ऐसा सकलज्ञ—सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवका कथन है। जब इस कर्मके विपाकका काल आता है तब उससे जो फल प्राप्त होता है वह अनाकुलतालक्षण सुखरूप आत्मस्वभावसे विलक्षण होनेके कारण दुःख कहा जाता है। अर्थात् ये कर्म जब विपाककालमे अपना रस देते है तब आत्मा दुःखी हो जाता है। अकुलतारूप लक्षणसे युक्त यह अध्यवसानादिक भाव भी इसी दुःखमे गर्भित है। इसलिये इनमे चेतनाके अन्वयका विभ्रम होनेपर भी ये आत्माके स्वभाव नही है किन्तु पुद्‌गलस्वभाव है। परमार्थसे आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है परन्तु अनादि कालसे इसके कर्मोका सम्बन्ध चल रहा है। उन कर्मोका उदय होनेपर नाना प्रकारके आकुलतामय परिणाम द्वारा दुःखी हो जाता है। इसीसे ये जो अध्यवसानादिक भाव है वे सब दुःखमय है। यद्यपि इनमे चेतनपनका विभ्रम होता है तो भी तत्त्वदृष्टिसे ये चेतन नही है, कर्मजन्य हैं। अतएव निमित्तकी मुख्यतासे पुद्‌गल हैं ॥४५॥

अब यहाँ पर यह आशङ्का होती है, यदि ये अध्यवसानादिक भाव पुद्‌गलके है तो सर्वज्ञके आगममे इन्हे जीव-भाव कैसे कहा ? इसके उत्तरमे आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा ॥४६॥

अर्थ—ये अध्यवसानादिक सब भाव जीव है ऐसा जिनेन्द्र भगवानने जो उपदेश कहा है वह व्यवहारनयका मत है अर्थात् श्री जिनेन्द्रदेवने अध्यवसानादिक सम्पूर्ण भावोको व्यवहारनयसे जीवके है, ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—ये सम्पूर्ण अध्यवसानादिक भाव जीव है, यह जो समस्त पदार्थोंके जानने वाले सर्वज्ञ भगवानने कहा है वह व्यवहारनयका मत है। यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोंको समझानेके लिये म्लेच्छ भाषाका अङ्गीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवोंको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त अपरमार्थ होने पर भी व्यवहारनयका दिखलाना न्यायसगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नहीं है। अतः उसके आलम्बनसे पदार्थका प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहारके बिना परमार्थनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामे जिस प्रकार भस्मका निःशङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रस-स्थावरजीवोका निःशङ्क उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होगी और हिंसाके न होनेसे बन्धका अभाव हो जायगा,

बन्धके अभावसे संसारका अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्धको प्राप्त होता है उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष, मोहसे छूट जावे, यह जो आचार्योंने मोक्षका उपाय बताया है वह व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि परमार्थसे जीव राग, द्वेष, मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्षके उपाय स्वीकार करना असगत होगा और इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायगा[1]।

भावार्थ—परमार्थनयका यदि सर्वथा यह आशय लिया जाय कि जीव शरीर और रागादिकसे सर्वथा भिन्न है तो जैसे पुद्गलके घातसे हिंसा नहीं होती उसी तरह एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा असंज्ञी-संज्ञी जीवके घातसे भी हिंसा नहीं होगी और हिंसाके अभावमें बन्ध भी नहीं होगा। इसी तरह रागादि तो जीवके सर्वथा हैं ही नहीं, यह माना जाय तो रागादिकके निवारणके लिये व्रत, तपश्चरण आदिका जो उपदेश है वह सर्वथा विफल होगा। मोक्षके कारणोंका अभाव होनेसे मोक्षका भी अभाव हो जायगा, अतः व्यवहारनयसे आत्माका ही शरीर है और अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक आत्माके ही चारित्रगुणके विकार हैं। द्रव्यप्राण—पञ्च इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये यथासम्भव एकेन्द्रियादि जीवोंके जानना चाहिये। अर्थात् एकेन्द्रियके चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल और वचन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं, त्रीन्द्रिय जीवके उक्त छह तथा घ्राणेन्द्रिय इस तरह सात प्राण होते हैं, चतुरिन्द्रिय जीवके उक्त सात तथा चक्षुरिन्द्रिय इस तरह आठ प्राण होते हैं, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके श्रवणेन्द्रिय और होनेसे नव प्राण होते हैं और संज्ञी पञ्चेन्द्रियके मनोबल अधिक होनेसे दश प्राण होते हैं। व्यवहारमें इन प्राणोंके सयोगसे जीव संसारमें जीता है और इनका वियोग होनेसे मरण अवस्थाको प्राप्त होता है। निश्चयसे सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध ये प्राण जीवके हैं।

---

१ व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिमिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव, तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभाव । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव ॥ ४६ ॥ —अमृताख्याति ।

यद्यप्यय व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यव-हारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा नि शङ्कोपमर्दन कुर्वन्ति जना । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येक दूषण, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तो जीव-स्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठान कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीय च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय ॥ ४६ ॥ —तात्पर्यवृत्ति ।

अब विचार करो, जब ये दश प्राण पुद्गलसे जायमान होनेके कारण पुद्गलके ही हैं तब इनके घातसे आत्माका घात कैसे माना जावे ? और आत्माका घात न होनेमे हिंसाका मानना निरर्थक है। पर यह कहना या मानना ठीक नहीं है क्योंकि इनके घातमे सक्लेश परिणाम होते है और वे ही सक्लेश परिणाम हिंसाके कारण हैं। यह प्राण तो अतिसान्निध्य-की वस्तु है, पुत्रादिकोंके वियोगमें जीवोंके आताप परिणाम देखे जाते है अथवा पुत्रादि भी दूर रहो, धनादि पदार्थोंके नष्ट होने पर आत्मा दुःखी होता है। परमार्थसे हिंसाका कारण, हिंसा करने वालेका कषायभाव है। परकी हिंसा हो या न हो, प्रमत्तयोगके सद्भावमे हिंसा होती है। अतएव श्रीगुरुओंने लिखा है—'जीव मरो, चाहे मत मरो, जिनकी अयत्नाचारसे प्रवृत्ति होती है उनके नियमसे हिंसा होती है और जहाँ पर यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति है वहाँ बाह्यमे जीवका घात हो अथवा न हो, हिंसा नहीं होती। जैसे तपोधन यतीन्द्र ईर्यासमिति-पूर्वक गमन कर रहे है, चार हाथ प्रमाण पृथिवीको सावधानतापूर्वक देख कर पैर उठाते हैं उस समय यदि कालका प्रेरा सूक्ष्म जीव उनके पगतलके नीचे दबकर मरणको भी प्राप्त हो जावे तो भी तपोधन यतीन्द्र हिंसाके भागी नहीं, क्योंकि उनके प्रमाद नहीं है ॥ ४६ ॥

अब किस दृष्टान्तसे इस व्यवहारकी प्रवृत्ति हुई ? यही कहते हैं—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो वलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥
(जुगल)

अर्थ—जिस तरह जहाँ पर सेनाका समुदाय निकलता है वहाँ पर व्यवहारसे यह कथन होता है कि यह राजा निकला। निश्चयसे विचार किया जाये तो सेनासमुदायसे राजा भिन्न पदार्थ है परन्तु व्यवहारसे ऐसा कथन होता है कि राजा निकला, परमार्थसे राजा एक है। इसी तरह अध्यवसानादिक तो अन्य भाव हैं उनको परमागममें 'जीव हैं' ऐसा व्यवहार-से निरूपण किया है, निश्चयसे विचार किया जावे तो जीव एक ही है।

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ —प्रवचनसार अ ३, गाथा १७।

२ उच्चालयम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज त जोगमासेज्ज ॥ १ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ २ ॥ —प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ॥

विशेषार्थ—जैसे—'यह राजा पञ्च योजनके विस्तारको व्याप्त कर निकल रहा है' इस कथनमें निश्चयसे परामर्श किया जावे तो एक राजाका पञ्चयोजन क्षेत्रमें विस्तार होना अलीक है, तो भी व्यवहारी मनुष्योंका सेनासमूहमें 'राजा' ऐसा व्यवहार होता है और इसलिए व्यवहारदृष्टिसे वह अलीक भी नहीं है। परमार्थसे यद्यपि राजा एक है और उसका पञ्चयोजन विस्तारमें सद्भाव होना असंभव है तथापि राजा सम्बन्धिनी सेना होनेसे उस स्थलमें यह व्यवहार उपयुक्त ही है। इसी तरह यह जीव सम्पूर्ण रागस्थानोंमें व्याप्त होकर रहता है, यह कथन होता है। परन्तु निश्चयसे विचारा जावे तो एक जीवका समस्त रागादिस्थानोंमें व्याप्त होकर रहना अलीक है क्योंकि परमार्थसे जीव एक ही है। पर्यायदृष्टिसे देखा जावे तो ये अध्यवसानादिक भाव जीवके ही परिणमनविशेष हैं और जबतक जीवके मोहादिक कर्मोंके सम्बन्धसे संसार है तबतक ये सब नियमसे होते रहेंगे। फिर भी द्रव्यदृष्टिसे आत्मा एक ही है क्योंकि सामान्यदृष्टिमें विशेष कथन गौण रहता है॥ ४७, ४८॥

अब शिष्यका यह प्रश्न है कि यदि ये अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण परमार्थ जीवका क्या स्वरूप है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ४९॥

अर्थ—हे भव्य ! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिङ्गग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है ऐसा है किन्तु चेतनागुणवाला है। आत्मामें यह चेतना ही ऐसा विलक्षण गुण है जो अपना और परका प्रतिभास करा रहा है। इसी गुणकी सामर्थ्य है कि वह स्वपरको बोधित करा रहा है। इसके अभावमें सर्वत्र अन्धकार ही है।

विशेषार्थ—वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनके दो अङ्ग हैं ? पररूपापोहन अर्थात् परसे उसकी व्यावृत्ति करना और दूसरा स्वरूपोपादान अर्थात् अपने रूपका ग्रहण करना। यहाँ जीव पदार्थका वर्णन करते हुए आचार्य महाराजने दोनों अङ्गोंको अपनाया है। प्रथम अङ्गमें परकी व्यावृत्ति करते हुए कहा है कि जीव रस रूप गन्ध स्पर्श शब्द लिङ्ग तथा आकारसे रहित है क्योंकि ये सब पुद्गलके धर्म हैं और दूसरे अङ्गमें स्वरूपका ग्रहण करते हुए कहा है कि वह चेतनागुणसे सहित है अर्थात् चेतना जीवका स्वगुण है और रसादिक साथमें लगे हुए पुद्गलके गुण हैं। इन्हीं अङ्गोंका स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

जो आत्मा है वह पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भिन्न है क्योंकि पुद्गल और जीव भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं, यही दिखाते हैं—आत्मा पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है क्योंकि रसगुण उसमें नहीं है, जिसमे रसगुण नहीं वह पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है। और आत्मा स्वयं रसगुणात्मक नहीं, इससे पुद्गलद्रव्यका गुण भी नहीं है। परमार्थसे आत्मा पुद्गलद्रव्यका स्वामी भी नहीं

है। इसीसे द्रव्येन्द्रियके अवष्टम्भसे रसरूप नहीं है तथा भावेन्द्रियके अवलम्बनसे भी रसरूप नहीं है क्योंकि आत्मामें स्वभावसे क्षायोपशमिक भावका अभाव है। आत्माका जो ज्ञान है वह सकल ज्ञेय साधारण है अर्थात् सब ज्ञेयोंको जाननेकी सामर्थ्यसे युक्त है। अतः अकेले रसज्ञानके सद्भावसे भी रसरूप नहीं है। ज्ञेयोंको जानने वाला ज्ञान है परन्तु ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। अतः रसके ज्ञानका आश्रय होनेपर भी स्वयं रसरूप परिणत नहीं है। इस तरह छह प्रकारसे आत्मा रसरूप न होनेसे अरस है। इसी तरह रूप, गन्ध तथा स्पर्शका भी निषेध जानना चाहिये। अर्थात् आत्मा न रूपस्वरूप है, न गन्धरूप है और न स्पर्शरूप है। रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श तो पुद्गलके गुण हैं। सो जिस प्रकार आत्मा इन पुद्गलके गुणोसे रहित है उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके पर्यायरूप भी नहीं है अर्थात् पौद्गलिक पर्यायोंसे रहित है। आत्मा पुद्गलद्रव्यसे अन्य है अतएव शब्दपर्यायरूप नहीं है। तथा पुद्गलद्रव्यकी पर्याय आत्मा नहीं है अतएव शब्दपर्यायरूप नहीं है। द्रव्यइन्द्रियके अवष्टम्भसे भी शब्दपर्यायरूप नहीं है क्योंकि परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामी नहीं है। स्वभावसे क्षायोपशमिक भाव आत्मामें नहीं है अतएव भावेन्द्रियके अवलम्बनसे भी शब्दरूप नहीं है। आत्माका ज्ञान सकलज्ञेय साधारण है अतः केवल शब्दज्ञानरूप न होनेसे भी आत्मा शब्दरूप नही है, इस तरह छह प्रकारसे पुद्गलपर्यायसे भी आत्मा भिन्न है। अब अनिदिष्ट संस्थानको कहते है—

द्रव्यान्तर जो पुद्गल द्रव्य है उसके द्वारा रचित शरीरके सस्थान (आकार विशेष) के द्वारा आत्माके सस्थानका निरूपण होना अशक्य है। जिनके सस्थान नियत नहीं ऐसे अनन्त शरीरोंमें नियत स्वभावसे रहता है अतः शरीरके संस्थानोंसे भी उसके सस्थानका निर्णय नहीं हो सकता है। संस्थाननामकर्मका विपाक पुद्गलोंमे है अतः इससे भी आत्माके संस्थानका निर्णय नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न आकारसे परिणमने वाले जो समस्त पदार्थ हैं वे ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् ज्ञान ज्ञेयोंके निमित्तसे तद्-तद् ज्ञेयोंके आकार परिणमन करता है फिर भी अखिल लोकके संवलनसे शून्य रहता है, केवल अपनी निर्मल अनुभूतिरूप ही रहता है अतएव आत्माका कोई निदिष्ट सस्थान नहीं है। इस तरह चार हेतुओंसे भी आत्मा अनिर्दिष्ट सस्थान हैं। अब अव्यक्त बतानेका उपक्रम करते हैं—

षड्द्रव्यात्मक लोक है। वह ज्ञेय है तथा व्यक्त है, उससे जीव अन्य है अर्थात् लोक व्यक्त है जीव व्यक्त नहीं, इससे अव्यक्त है। कषायका समूह जो भावकभाव वह व्यक्त है उससे जीवनामक पदार्थ भिन्न है, इसलिये भी आत्मा अव्यक्त है। चित्सामान्यमे चैतन्यकी सब व्यक्तियां अन्तर्भूत हो जाती हैं इसलिये भी अव्यक्त है। क्षणिकव्यक्तिमात्रके न होनेसे भी अव्यक्त है। व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों भाव मिश्ररूपसे यद्यपि इसमे भासमान होते हैं तो भी केवल व्यक्त भावका स्पर्श नहीं करता है इस कारण भी अव्यक्त है। निश्चयसे आत्मा स्वयमेव बाह्य और आभ्यन्तर स्पष्ट रूपसे प्रतिभासमान होनेपर भी व्यक्तरूपको स्पर्श नहीं करता, इससे भी अव्यक्त है। इस तरह छह हेतुओंसे आत्माको अव्यक्त कहा।

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान तथा व्यक्त स्वरूपके अभाव होनेपर भी

स्वसवेदन प्रत्यक्षके बलसे अपने आप प्रत्यक्षका विषय होनेसे केवल अनुमानका गोचर भी नहीं, इससे आत्मा अलिङ्गग्रहण कहा जाता है अर्थात् आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्षका विषय है तब उसका लिङ्गके द्वारा अनुमान करना व्यर्थ है ।

इस तरह परापोहन अर्थात् परद्रव्यकी व्यावृत्तिपूर्वक जीवद्रव्यका वर्णन कर अब स्वरूपोपादान अर्थात् स्वकीयगुणग्रहणपूर्वक जीवद्रव्यका वर्णन करते हैं—

वह जीवद्रव्य चेतनागुणसे सदा अन्तरङ्गमे प्रकाशमान है, इससे चेतनागुणवाला है । वह चेतनागुण सम्पूर्ण एकान्तवादियोकी समस्त विप्रतिपत्तियों—विरोधोंका निराकरण करनेवाला है, उसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानियोको सौप दिया है, सम्पूर्ण लोकालोकको ग्रासीभूत कर अर्थात् अपने ज्ञानका विषय बनाकर बहुत भारी तृप्तिके भारसे मन्थर हुएकी तरह वह अपने स्वरूपसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नहीं होता तथा अन्य द्रव्यसे असाधारण है, अर्थात् आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंमे इसका अस्तित्व नहीं, अतः जीवका स्वभावभूत होकर स्वय अनुभवमे आ रहा है, ऐसे चेतनागुणके द्वारा ही आत्माका अस्तित्व है । अरस-अरूपत्व आदि धर्म तो जीवके सिवाय धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यमें भी विद्यमान है, अतः उनके द्वारा पुद्गलद्रव्यसे व्यावृत्ति होनेपर भी अन्य अजीव द्रव्योसे व्यावृत्ति न होनेसे जीवका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । जीवका अस्तित्व तो एक चेतनागुणके द्वारा ही होता है । इस तरह चेतनागुणसे युक्त, निर्मल प्रकाशका धारक, एक टङ्कोत्कीर्ण भगवान् आत्मा ज्योतिःस्वरूप विराजमान है ॥४९॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्त
स्फुटतरमवगाह्य स्व च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्त चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! चैतन्यशक्तिसे रहित समस्त अन्यभावोंका शीघ्र ही परित्याग कर तथा चैतन्यशक्तिरूप निजस्वभावमें अच्छी तरह अवगाहन कर समस्त विश्वके ऊपर विचरण करते हुए अर्थात् सबसे पृथक् अनुभवमें आते हुए परमात्मस्वरूप अविनाशी आत्माका अपनी आत्मामे ही अनुभव करो ।

भावार्थ—हे भव्यलोको ! केवल एक अपने निजात्माका निज आत्मामें अनुभव करो । उसके लिये चिच्छक्तिसे भिन्न जो भी भाव हैं—चाहे वे द्रव्यरूप हों, चाहे गुणरूप हों अथवा चाहे कर्मनिमित्तसे जायमान औदयिक आदि विभावरूप हो—उन सबका शीघ्र ही त्याग करना आवश्यक है तथा चिच्छक्तिमात्र अर्थात् रागादिककी पुटसे रहित मात्र ज्ञायकशक्तिरूप निजस्वरूपमें अच्छी तरह अवगाहन करना—उसीका मनन करना अपेक्षित है । वह

निज आत्मा स्वपरावभासक होनेसे समस्त लोकके ऊपर विचरण करता है अर्थात् उसकी सत्ता सबसे पृथक् अनुभूतिमें आती है, वह परमात्मस्वरूप है अर्थात् पर्यायार्थिकनयसे यद्यपि एकेन्द्रियादि पर्यायोंमें परिभ्रमण करता हुआ रागी, द्वेषी और अज्ञानी हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह परमात्माके समान सर्वज्ञ-वीतराग है तथा अनन्त अविनाशी है ।।३५।।

अनुष्टुप्छन्द

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका अमी ।।३६।।

अर्थ—चैतन्यशक्तिसे व्याप्त है सर्वस्वसार जिसका ऐसा जीव तो इतने मात्र है और इसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सभी पुद्गलमय हैं।

भावार्थ—आत्माका सर्वस्वसार चेतनाशक्तिसे व्याप्त है। इससे शून्य जो भी भाव है वे सब पुद्गलजन्य होनेसे पुद्गलके ही हैं उनमे आत्माका अस्तित्व खोजना शशशृङ्गके तुल्य है। यहाँ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा शरीर तो स्पष्ट ही पुद्गलद्रव्यके परिणमन होनेसे पौद्गलिक हैं परन्तु रागादिक भावकर्मको भी पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण पौद्गलिक कहा है। यह निमित्तकी मुख्यतासे कथन है। उपादानकी मुख्यतासे वे आत्माके ही विकारी भाव हैं ।।३६।।

आगे इसीका विशेष विवरण आचार्य छह गाथाओंमे कहते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि सठाणं ण सहणणं ।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५३।।
णो ठिदिबधट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।५५।।

(षट्कम्)

अर्थ—जीवके न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न संस्थान हैं, न संहनन हैं। जीवके न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय (आस्रव) हैं, न कर्म हैं, न नोकर्म हैं। जीवके न वर्ग है, न वर्गणा हैं, न स्पर्धक हैं, न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान हैं। जीवके न कोई योगस्थान हैं, न बन्धस्थान हैं, न उदयस्थान हैं, न मार्गणास्थान है। जीवके न स्थितिबन्धस्थान हैं, न संक्लेशस्थान हैं, न विशुद्धिस्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं। जीवके न जीवस्थान हैं और न गुणस्थान हैं क्योंकि ये सब पुद्गल-द्रव्यके परिणमन हैं।

विशेषार्थ—जो वस्तु जिसका परिणाम होती है वह उसी रूप होती है, यह नियम है। अतः ये वर्णादिक जब पुद्गलके परिणाम हैं तब पुद्गलके ही होंगे, इन्हें जीव मानना न्याय-पथका अनुसरण नहीं करता।

जो काला, हरा, पीला, लाल, सफेद वर्ण है वह रूपगुणका परिणमनविशेष है। रूप-गुण पुद्गलका गुण है अतः ये सब रूपगुणके पर्यायरूपसे अभिन्न हैं और रूप पुद्गलद्रव्यका गुण है अतः वह पुद्गलका ही है जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यका परिणमनमय होनेसे वह निज अनुभूतिसे भिन्न है। इसलिए आत्माके ज्ञानमे रूप भासमान होता है क्योंकि ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वह ज्ञान नहीं होता, ज्ञेयनिमित्तिक जो ज्ञानका परिणमन होता है उस परिणमनका ज्ञानके साथ तादात्म्य है, उसीका अनुभव ज्ञानमे होता है, किन्तु जो बाह्य ज्ञेय है वह ज्ञानसे अत्यन्त भिन्न है उसका अनुभव ज्ञानमें नहीं होता, परन्तु मोही जीवोंको बाह्य ज्ञेयका ही अनुभव ज्ञान द्वारा होता है। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम है, अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। जो कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, मधुररूप रसका परिणमन हो रहा है वह सब परिणमन जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम है अतः अनुभूतिसे भिन्न है। जो स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन स्पर्श हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं अतः जीवकी अनुभूतिसे भिन्न है। जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्ररूप है वह भी जीवद्रव्य नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम है अतएव अणुभूतिसे भिन्न है। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर हैं ये सब जीव नहीं हैं क्योंकि इनका उत्पाद पुद्गलद्रव्यसे होता है अतएव आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न हैं। जो समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्डक संस्थान है वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और स्फाटिक सहनन हैं वे सब जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणामविशेष है अतः अनुभूतिसे भिन्न हैं।

जो प्रीतिरूप परिणाम है वह राग है। वह भी जीव नहीं है क्योंकि पौद्गलिक मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेसे पुद्गलका परिणाम है, अतएव अनुभूतिसे भिन्न है। अप्रीतिरूप जो भाव है वह द्वेष है। यह भी जीव नहीं है क्योंकि द्वेषरूप मोहप्रकृतिके उदयसे होता है,

अतएव पुद्गल है और अनुभूतिसे भिन्न है। तत्त्वकी अप्रतीतिरूप जो मोह है वह भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जायमान है अतः अनुभूतिसे भिन्न है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप जो प्रत्यय है वे ही कर्मबन्धके निमित्त हैं अतएव इन्हें आस्रव कहते है। ये जो मिथ्यात्व आदि प्रत्यय हैं वे जीव नही है क्योंकि पुद्गल-द्रव्यके परिणामविशेष हैं अतः अनुभूतिसे भिन्न है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप जो आठ कर्म है वे भी जीव नहीं है क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे अनुभूतिसे भिन्न है। तथा छह पर्याप्ति और तीन शरीरके योग्य वस्तुभूत जो नोकर्म है वे जीव नहीं है क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है।

अविभागप्रतिच्छेदोके धारक कर्मपरमाणुओका नाम वर्ग है। वह वर्ग भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यात्मक होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। वर्गोंके समुदायरूप जो वर्गणा है वह भी जीव नही है क्योकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम होनेसे अनुभूतिसे भिन्न है। वर्गणाओका समुदायरूप जो स्पर्द्धक है वह भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यका परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। स्वपरमे एकत्वका अध्यास—मिथ्या आरोप होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणामसे भिन्न जो अध्यात्म स्थान है वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गल-द्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। और भिन्न-भिन्न प्रकृतियोके रसपरिणाम-रूप लक्षणसे युक्त जो अनुभागस्थान हैं वे भी जीव नही हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

काय, वचन और मनोवर्गणाके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमे होने वाले परिस्पन्दको योगस्थान कहते हैं। ये सब योगस्थान जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके परिणामरूप जो बन्धस्थान है वे सब जीव नहीं हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। अपना फल प्रदान करनेमे समर्थ कर्मोंकी अवस्थारूप जो उदयस्थान है वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न है। और गति, इन्द्रिय, काय, योग, वद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सञ्ज्ञित्व और आहारके भेदसे जो चौदह प्रकारके मार्गणास्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

भिन्न-भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियोंका कालान्तरमें स्थित रह सकना जिनका लक्षण है ऐसे स्थितिबन्धस्थान जीव नहीं हैं क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। कषायके उदयकी तीव्रतारूप लक्षणसे युक्त जो संक्लेशस्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। कषाय-के उदयकी मन्दतारूप लक्षणसे सहित जो विशुद्धिस्थान हैं वे सब भी जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। और चारित्रमोहके विपाककी

क्रमसे निवृत्ति होना ही जिनका लक्षण है ऐसे सब संयमलब्धिस्थान जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पचेन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह जीवस्थान होते हैं। इन्हें ही जीवसमास कहते हैं, ये सब जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। तथा मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकारणोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला अपूर्वकरण) अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला अनिवृत्तिकरणपरिणामोसे युक्त बादरसाम्पराय) सूक्ष्म साम्परायोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला सूक्ष्मसाम्पराय), उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये जो चौदह गुणस्थान हैं वे जीव नही हैं, क्योकि पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं। ये सब वर्णादिक जीवके क्यो नहीं है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य महाराजने कहा है क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम है अर्थात् इनमे कितने ही साक्षात् पुद्गलद्रव्यके परिणमन हैं और कितने ही पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जायमान आत्माके विकारीभाव है। जिस प्रकार अग्निके निमित्त-से होनेवाली जलकी उष्णता यथार्थमे अग्निकी कही जाती है उसी प्रकार पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाले रागादिक पुद्गलके कहे जाते है ॥ ५०-५५॥

अब वर्णादिकका पृथक्पन अमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

शालिनीछन्द

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुस ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टा स्युर्दृष्टमेक परं स्यात् ॥ ३७ ॥

अर्थ—वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सभी भाव इस आत्मासे भिन्न हैं, इसलिये परमार्थसे अन्तःकरणमें अवलोकन करनेवाले पुरुषको ये सब भाव नहीं दिखते, केवल एक आत्मतत्त्व ही उसे दिखाई देता है।

भावार्थ—वर्णादिक व रागमोहादिक जितने भी भाव ऊपर कहे गये हैं वे सब जीवके नहीं है क्योंकि जीवसे भिन्न हैं। यही कारण है कि जो अन्तर्दृष्टिसे देखनेवाले हैं अर्थात् परमार्थसे जीवके स्वरूपको देखते हैं वे इन सब भावोंको जीवमे नहीं देखते। जो जीवकी सब अवस्थाओंमें पाये जावे, वही तो जीवके भाव हैं, अतएव जीवकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहनेवाला केवल एक चेतन्यभाव है उसीको परमार्थसे देखते हैं ॥३७॥

अब यहाँपर यह आशङ्का होती है कि ये भाव यदि जीवके नहीं है तो अन्य सिद्धान्त-शास्त्रोंमें ये जीवके क्यों कहे गये हैं ? इसका उत्तर स्वय आचार्य नीचेकी गाथामे देते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

अर्थ—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्तके ये भाव व्यवहारनयसे जीवके है, परन्तु निश्चयनयसे कोई भी जीवके नहीं हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ पर व्यवहारनय पर्यायके आश्रय है, अतएव इसकी दृष्टिमें इस जीवका अनादिकालसे पुद्गलद्रव्यके साथ बन्ध होनेके कारण जिस तरह कुसुम्भरङ्ग सूती वस्त्रका कहा जाता है उसी तरह औपाधिकभावोका अवलम्बनकर उपर्युक्त सब भाव जीवके कहे जाते हैं क्योंकि व्यवहारनय परकीय भावोंको परका कहता है और निश्चयनय केवल द्रव्यके आश्रित होनेसे सम्पूर्ण परभावोंका परमें निषेध करता है । अतः निश्चयनयकी दृष्टिमे ये वर्णादिसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भी भाव है, वे सब जीवके नहीं है । इस तरह वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यन्त तकके भाव व्यवहारनयसे जीवके है, परन्तु निश्चयनयसे जीवके नहीं है ।

परमागममे पदार्थको द्रव्य और पर्यायरूप कहा गया है । इसीको दर्शनशास्त्रमे सामान्य-विशेषात्मक कहा जाता है क्योकि द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है । जो नय द्रव्यकी प्रधानतासे वर्णन करता है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है । इसीको निश्चयनय कहते है । और जो पर्यायकी प्रमुखतासे वर्णन करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है । इसीको व्यवहारनय कहते हैं । पर्याय दो प्रकारकी होती हैं, एक स्वनिमित्तक और दूसरी स्वपरनिमित्तक । कालादि सामान्य निमित्तोंकी विवक्षा न करनेपर धर्म, अधर्म आदि सभी द्रव्योका अनादि-कालसे जो परिणमन चला आ रहा है वह स्वनिमित्तक पर्याय है और पुद्गलद्रव्यके संयोगसे जीवमे जो रागादिकरूप परिणमन होता है वह, तथा जीवके संयोगसे पुद्गलमे जो कर्मादि-रूप परिणमन होता है वह स्वपरनिमित्तक पर्याय है । इनमे स्वनिमित्तक पर्याय तो द्रव्यकी है ही, परन्तु व्यवहारनय परनिमित्तक (विभाव) पर्यायको भी द्रव्यकी है ऐसा वर्णन करता है । जिस प्रकार कुसुम्भरङ्गसे रंगा हुआ वस्त्र लाल दिखता है, यहाँ जो लालिमा है वह वास्तवमे कुसुम्भरङ्गकी है, परन्तु व्यवहारमे वस्त्रको लाल कहा जाता है । अर्थात् लालिमा वस्त्रकी है ऐसा निरूपण किया जाता है । इसी प्रकार रागादिकद्रव्यकर्मके उदयसे आत्मा रागी-द्वेषी देखा जाता है । यहाँ राग और द्वेष, द्रव्यकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण द्रव्यकर्मके हैं परन्तु व्यवहारमें आत्माको रागी-द्वेषी कहा जाता है अर्थात् रागद्वेष आत्माके हैं ऐसा निरूपण किया जाता है । परन्तु जब द्रव्यार्थिकनय अथवा निश्चयनयकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब रागादिक जीवके स्वनिमित्तक परिणमन नहीं हैं इसलिए ये

जीवके नहीं है, ऐसा निरूपण किया जाता है। अतः अन्य शास्त्रोंमें जहाँ रागादिकको जीवका कहा गया है वह व्यवहारनयका कथन जानना चाहिये ॥५६॥

आगे फिर आशङ्का होती है कि ये सब भाव निश्चयसे जीवके क्यों नहीं है? इसीका आचार्य नीचे लिखी गाथासे उत्तर देते हैं—

एएहिं य सबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

अर्थ—इन वर्णादिकके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीके समान जानना चाहिये, क्योंकि जीव उपयोगगुणसे अधिक है। अतः वर्णादिक जीवके नहीं हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि क्षीर और जलका परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध है और उसे ही देखकर लोग क्षीर और जलको एक मानते हैं तो भी क्षीरका कुछ ऐसा विलक्षण स्वाद है कि जो जलमे नही पाया जाता अथवा क्षीरमे क्षीरत्व नामका एक ऐसा असाधारण धर्म है जैसा कि अग्निमे उष्णतागुण होता है। उसी क्षीरत्व नामक असाधारण धर्मके द्वारा क्षीर जलसे भिन्न है। जिस प्रकार अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उस प्रकार क्षीरका जलके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, अतः निश्चयसे क्षीर जल नहीं है। इसी प्रकार वर्णादिमान् जो पुद्गलद्रव्य है उसीका परिणमन शरीर तथा ज्ञानावरणादि कर्म हैं और इन्हींके निमित्तसे रागादिक औपाधिक भाव होते हैं। इन सबके साथ यद्यपि जीवका परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध अनादिकालसे धारावाहीरूपमें चला आ रहा है और इसीको देखकर अज्ञानी लोग शरीरादि परद्रव्य और जीवको एक मान लेते हैं, परन्तु जैसा उष्णगुणके साथ अग्निका तादात्म्य सम्बन्ध हैं वैसा शरीरादिकका जीवके साथ तादात्म्य नहीं है। जीवका स्वलक्षण उपयोगगुण है, उसीके साथ उसका तादात्म्य सम्बन्ध है, यह उपयोगगुण एक जीवद्रव्यमे ही पाया जाता है, अन्य द्रव्योमे नहीं। इसलिए इस असाधारण गुणके कारण जीवद्रव्य सब द्रव्योंसे अतिरिक्त पृथक् अनुभवमे आता है। अतः निश्चयनयसे वर्णादिक पुद्गलके परिणाम हैं, जीवके नहीं ॥५७॥

आगे प्रश्न होता है कि यदि वर्णादिक जीवके नहीं हैं तो यह पुरुष काला है, यह गोरा है, यह मोटा है, यह पतला है इत्यादि व्यवहार विरोधको प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य व्यवहारका अविरोध दिखलाते हैं। अथवा पूर्वोक्त व्यवहारमे जो विरोध आता है उसका लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तके द्वारा परिहार करते हैं—

पंथे मुस्सत पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

गंध-रस-फास-रूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

अर्थ—जिस प्रकार मार्गमें किसी सार्थ—यात्रीसघको लुटता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है परन्तु परमार्थसे कोई मार्ग नहीं लुटता, इसी प्रकार जीवमें कर्म और नोकर्मके वर्णको देखकर 'यह वर्ण जीवका है' ऐसा व्यहारसे जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर तथा संस्थान आदिक जितने हैं वे सब व्यहारसे जीवके हैं ऐसा निश्चयके देखने वाले कहते है।

विशेषार्थ—जैसे मार्गमें जाने वाले वनजारोंके समूहको लुटता देखकर उपचारसे लोग ऐसा कह देते हैं कि यह मार्ग लुटता है। यदि निश्चयसे देखा जावे तो मार्ग आकाशके विशेष प्रदेशोंमें स्थित पृथिवी आदिका परिणमनविशेष है उसे कोई लूटता नहीं। ऐसे ही जीवमें अनादि कालसे कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध है, उस कर्म और नोकर्मके वर्णको देखकर 'यह जीवका वर्ण है' ऐसा भगवान्ने व्यवहारसे कहा है। परन्तु निश्चयसे जीव अमूर्तस्वभाववाला तथा उपयोग गुणसे अधिक है, अतः उसका कोई भी वर्ण नहीं है, यही कहनेमें आता है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, सहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये सब व्यवहारनयसे जीवके है ऐसा अर्हन्त भगवान्ने यद्यपि कहा है तो भी निश्चयनयसे जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाववाला तथा उपयोग गुणसे अधिक है, अतः ये सभी भाव जीवके नहीं है क्योंकि जीवके साथ इनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु सयोग सम्बन्ध है जो कि दो द्रव्योमें ही होता है ॥५८।५९।६०॥

आगे जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध क्यो नहीं है? इसीका उत्तर देते हैं—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

अर्थ—वर्णादिक, संसारस्थ जीवोंके उस संसारमें रहते हुए होते है। संसारसे छूटे हुए जीवोंके वर्णादिक कोई भी नहीं हैं।

विशेषार्थ—जब तक जीवोंके शरीरका सम्बन्ध है तब तक उन जीवोंके वर्णादिका सम्बन्ध कह सकते हैं। परन्तु जो संसारसे मुक्त हो चुके हैं उनके वर्णादिका सम्बन्ध नहीं है। अतः जीवकी वर्णादिके साथ व्याप्ति मानना सर्वथा अयुक्त है। निश्चयसे जो वस्तु सब अवस्थाओंमे उस रूपसे व्याप्त हो और उस स्वरूपकी व्याप्तिसे कभी भी रहित न हो उन दोनोका परस्परमे तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैसे अग्नि सब अवस्थाओंमे उष्णगुणके साथ

व्याप्त होकर रहती है और उष्ण स्वरूपकी व्याप्तिसे कभी भी शून्य नहीं होती, इसलिये अग्नि का उष्णगुणके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसे ही पुद्गलद्रव्य सब अवस्थाओंमें वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त रहता है, किसी भी अवस्थामे वर्णादि रहित नहीं होता, अतः पुद्गलद्रव्यका वर्णादिगुणोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यद्यपि जीवकी ससार अवस्थामे वर्णादिकोंके साथ व्याप्ति है और संसार अवस्थामे वर्णादिकको व्याप्तिकी कभी शून्यता भी नहीं है तो भी जीवकी सब अवस्थाएँ ऐसी नहीं है जो वर्णादिककी व्याप्तिकी अपेक्षा करती हो, क्योकि मोक्ष जीवकी एक ऐसी अवस्था है जिसमे वर्णादिकका सम्बन्ध नही है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी तरह नहीं है ॥६१॥

आगे, यदि जोवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेका दुराग्रह है तो उसमे यह दोष आवेगा यह कहते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

अर्थ—यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक सब भाव जीव है तो तेरे मतमें जीव और अजीवमे कोई विशेषता नहीं रह जावेगी।

विशेषार्थ—पुद्गलके जो वर्ण, रस आदि गुण हैं उनमे क्रमसे अनेक परिणतियोका अविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जैसे आमका वर्ण अपक्व अवस्थामे हरा रहता है और पक्व अवस्थामे पीला हो जाता है, अपक्व अवस्थामें उसका रस आम्ल रहता है और पक्व अवस्थामे मधुर हो जाता है। इस प्रकार वर्णादिक प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई अपनी उन उन परिणतियोसे पुद्गलद्रव्यका अनुगमन करते हुए जिस तरह पुद्गल-द्रव्यका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते है उसी तरह वर्णादिक भाव, अपनी प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई उन-उन परिणतियोंसे जीवका अनुगमन करते हुए जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमे शेष द्रव्योंसे असाधारण वर्णादिमत्त्व जो पुद्गलद्रव्यका लक्षण था उसे जीवद्रव्यने स्वीकृत कर लिया, अतः जीव और पुद्गलमे अविशेषताका प्रसङ्ग आ जावेगा। अर्थात् दोनों एक समान हो जावेगे, इस स्थितिमे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न जीवका अस्तित्व समाप्त हो जानेसे जीवका अभाव हो जायगा। अतः जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेमें मूलोच्छेद दोष आता है ॥६२॥

आगे संसार अवस्थामे यदि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माना जावे तो क्या आपत्ति है ? इसका भी गुरु उत्तर देते हैं—

अह ससारत्थाण जीवाण तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा ससारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥

एव पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुपगदो वि य जीवत्त पुग्गलो पत्तो ॥६४॥
(जुगल)

अर्थ—यदि तेरे मतमें संसारस्थ जीवोंका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा माना जावे तो संसारस्थ जीव रूपीपनेको प्राप्त हो जावेगे ऐसा मानने पर पुद्गलद्रव्य ही जीव सिद्ध हुआ और पुद्गलके समान लक्षण होनेसे हे मूढमते! निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल-द्रव्य ही जीवपनको प्राप्त हुआ।

विशेषार्थ—संसारावस्थामे जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा जिसका आग्रह है उसके मतमें उस समय वह ससारी जीव अवश्य ही रूपीपनको प्राप्त होता है। और अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाने वाला रूपीपन किसी द्रव्यका लक्षण है तब उस रूपीपनसे लक्ष्यमाण जो कुछ होता है वह जीव होता है। रूपीपनसे लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही होता है इस प्रकार स्वयमेव पुद्गलद्रव्य ही जीव होता है अन्य कोई नही। ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामें भी नित्य स्वीय लक्षणसे लक्षित जो द्रव्य है वह अपनी समस्त अवस्थाओंमे अनपायी तथा अनादिनिधन है अतः पुद्गलद्रव्य ही स्वय जीव हुआ अन्य कोई नही, वही पुद्गलद्रव्य मोक्षको प्राप्त हुआ और ऐसा होनेसे पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव ठहरता है, इस तरह ससारस्थ जीवोंका भी वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा माननेपर जीवका अभाव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि चाहे जीव ससारस्थ हो और चाहे ससारातीत, किसीका भी वर्णादिके साथ तादात्म्य नहीं है किन्तु ससारस्थ जीवोंका वर्णादिके साथ क्षीर-नीरके समान परस्परावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है ॥६३।६४॥

आगे आचार्य इसीका विशेष वर्णन करते हैं—

एक्क च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पच इंदिया जीवा ।
वादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥६६॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त जीव ये सब नामकर्मकी प्रकृतियाँ है। करणभूत इन प्रकृतियोंके द्वारा ही जीवस्थान रचे गये हैं। अतः पुद्गलमयी उन प्रकृतियोंके द्वारा रचे गये जीवस्थान जीवके कैसे कहे जा सकते हैं?

विशेषार्थ—निश्चय नयसे कर्म और करणमे अभिन्नता है। जो जिसके द्वारा रचा जाता है वह वही होता है। जैसे सुवर्णके द्वारा रचा गया सुवर्णपत्र सुवर्ण ही होता है अन्य

नहीं। जब ऐसी वस्तुकी सीमा है तब बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी और संज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त नामक नामकर्मकी पुद्गलमय प्रकृतियोंसे रचे गये जीवस्थान पुद्गल ही होंगे, जीव नहीं। नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलात्मकता आगमसिद्ध है तथा इस अनुमानसे भी सिद्ध हैं—'नामकर्मकी प्रकृतियाँ पुद्गलात्मक हैं क्योंकि उनका दिखाई देने वाला शरीरादि मूर्तिक कार्य पुद्गलात्मक है'। इसी प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शरीर, सस्थान और संहनन भी पुद्गलात्मक नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा रचे जानेसे पुद्गलसे अभिन्न ही हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वर्णादिक जीव नहीं हैं ॥६५-६६॥

इसी बातको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

उपजातिछन्द

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोश
पश्यन्ति रुक्म न कथचनासिम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस ससारमे जो वस्तु जिसके द्वारा रची जाती है वह उसी रूप होती है, अन्य रूप किसी तरह नहीं होती। जैसे सुवर्णसे बनी हुई तलवारकी म्यानको लोग सुवर्णकी देखते हैं, तलवारको सुवर्णकी किसी तरह नहीं देखते।

भावार्थ—तलवारकी म्यान सुवर्णकी बनी है और तलवार लोहेकी, तो संसारमे लोग म्यानको सुवर्णकी और तलवारकी लोहेकी ही देखते हैं क्योंकि ऐसा नियम है कि जो वस्तु जिससे बनती है वह उसी रूप होती है। यहाँ प्रकृतमे वर्णादिक पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंसे रचे गये है इसलिये वे पुद्गलके ही हैं। चैतन्यका पुञ्ज जीव पुद्गमय प्रकृतियोंसे नहीं रचा गया है इसलिये वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है ॥३८॥

पूर्व कलशमे वस्तूत्पत्तिकी सीमा बनाकर उससे प्रकृत अर्थको सिद्ध करते हुए दूसरा कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विद पुद्गल एव नात्मा
तोऽन्य ॥ ३९ ॥

अर्थ—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्तकी यह सभी सामग्री एक पुद्गलद्रव्यकी रचना है, ऐसा आप जाने। अतएव यह सब पुद्गल ही है, जीव नहीं है क्योंकि विज्ञानघन जीव उनसे भिन्न है।

भावार्थ—यहाँ वर्णादि परपदार्थोंसे शुद्ध आत्मतत्त्वको पृथक् सिद्ध करनेके लिये आचार्यने कहा है कि यह वर्णादि सामग्री पुद्‌गलकी है, विज्ञानघन जीव इससे भिन्न पदार्थ है, अतः दोनोको भिन्न-भिन्न समझकर भेदविज्ञानको पुष्ट करो ॥३९॥

आगे इससे अन्य जितना भी है वह सब व्यवहार है, ऐसा कहते हैं—

पज्जत्ता पज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

अर्थ—जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर ये जो शरीरकी जीवसञ्ज्ञाएँ सूत्रमे कही गई हैं वे व्यवहारसे कही गई है ।

विशेषार्थ—बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी, सञ्ज्ञीके भेदसे दो प्रकारके पञ्चेन्द्रिय, इन सातके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो-दो भेद होते है, अतः सब मिलाकर चौदह जीवस्थान होते है । ये जीवस्थान शरीरकी सञ्ज्ञाएँ हैं परन्तु सूत्र—आगममे इन्हें जीवकी सञ्ज्ञाएँ कहा है, सो यह परकी प्रसिद्धिसे घीके घड़ेके समान व्यवहार है । परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनार्थ है । यहाँ अप्रयोजनार्थका अर्थ सर्वथा प्रयोजन नहीं, ऐसा नही है किन्तु अनुदरा कन्याके समान ईषद् अर्थमें 'नञ्'का प्रयोग होनेसे कुछ प्रयोजनसे सहित, ऐसा है, यही दिखाते हैं—जैसे किसीकी प्रसिद्धिमे आजन्मसे घीका घडा ही आ रहा है उससे अतिरिक्त मिट्टीके घड़ाको वह नहीं जानता, उसके प्रबोधके लिए ऐसा कहा जाता कि जो यह घीका घड़ा है वह मिट्टीका बना हुआ है, घृतमय नहीं है, इस प्रकार उसके जाननेके लिये जैसे 'घृतकुम्भ' यह व्यवहार होता है, ऐसे ही इस अज्ञानी जीवको, जिसके ज्ञानमे अनादि संसारसे अशुद्ध जीव ही आ रहा है तथा जो शुद्ध जीवसे अनभिज्ञ है, उसके समझानेके लिये यह कहा जाता है कि यह जो वर्णादिमान् जीव है वह ज्ञानात्मक है वर्णादिमान् नहीं है, इस प्रकार उसकी प्रसिद्धिके लिए जीवमें वर्णादिमान् यह व्यवहार चला आ रहा है ॥६७॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामें कहते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अर्थ—जिस प्रकार 'घृतकुम्भ' ऐसा कहनेपर भी कुम्भ घृतमय नहीं हो जाता उसी प्रकार वर्णादिमान् जीव है ऐसा कहनेपर भी जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता ।

भावार्थ—जिस प्रकार घीके सयोगसे मिट्टीके घड़ेको व्यवहारमे घीका घडा कहा जाता है उसी प्रकार बादर, सूक्ष्म आदि शरीरके सयोगसे जीवको बादर, सूक्ष्म आदि कहा जाता है। वास्तवमें जैसे घड़ा मिट्टीका ही है, घीका नहीं, ऐसे ही जीव ज्ञानघन ही है, बादर, सूक्ष्मादि

रूप नहीं। अतः शास्त्रमें जहाँ बादर, सूक्ष्म आदिके शरीरको जीव कहा है वहाँ व्यवहारनयसे कहा है तथा अज्ञानी जीवोंके प्रबोधनार्थ वह व्यवहारनय ईषत् प्रयोजनभूत है ॥४९॥

आगे जिस प्रकार जीवस्थान जीव नहीं हैं उसी प्रकार गुणस्थान भी जीव नहीं हैं, यह दिखाते हैं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

अर्थ—जो ये गुणस्थान मोहकर्मके उदयसे वर्णन किये गये है वे जीव कैसे हो सकते हैं क्योंकि ये नित्य अचेतन कहे गये है।

विशेषार्थ—ये जो मिथ्यात्वादि चतुर्दश गुणस्थान है वे सब पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे होनेके कारण अचेतन है तथा कार्य कारणके अनुरूप ही होते है। जैसे 'यवधान्यसे यव ही उत्पन्न होते है' इस न्यायसे ये गुणस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नही है। जब इन गुणस्थानोका कारण जो मोहकर्म है वह पुद्गलात्मक है तब यह गुणस्थान भी निर्विवाद पुद्गलात्मक ही है। गुणस्थान अचेतन है, इसमें आगम ही प्रमाण है तथा चैतन्य स्वभावसे व्याप्त आत्मासे ये गुणस्थान भिन्न है, ऐसी भेदज्ञानियोंको उपलब्धि हो रही है उसमे भी इनका अचेतनपन सिद्ध होता है। स्वय अचेतन होने तथा पौद्गलिक मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण गुणस्थान पुद्गलमय है। इसी तरह राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और सयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गलकर्म पूर्वक होनेसे नित्य ही अचेतन है। अतएव पुद्गल है, जीव नहीं, ऐसा स्वयमेव सिद्ध हुआ। इसीलिये रागादिक भाव जीव नही है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके गुणो—भावोका जो क्रमशः विकास होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप नहीं हैं किन्तु परके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण अशुद्ध परिणतिरूप है। निश्चयनय स्वमे स्वके निमित्तसे जो परिणति होती है उसे ही ग्रहण करता है, अतः उसकी दृष्टिमे परके निमित्तसे आत्मामे होने वाली परिणतिरूप जो गुणस्थान है वे नहीं आते। निश्चयनयकी दृष्टिमे पौद्गलिक तथा अचेतन मोहकर्मके उदयसे होने वाले गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन कहे जाते है। यहाँ अचेतनका यह अर्थ नहीं कि घट-पटादिके समान सर्वथा जड है किन्तु चेतन जो आत्मद्रव्य, उसकी स्वकीय परिणति नहीं है, यह अर्थ ग्राह्य है। कुन्दकुन्दस्वामीने निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो नय ही स्वीकृत किये है। इनमे द्रव्यकी निज परिणतिको विषय करने वाला निश्चयनय है और परपरिणति तथा परके निमित्तसे होने वाली निजकी परिणतिको विषय करने वाला व्यवहारनय है। ग्रन्थान्तरोंमे निश्चयनयके शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय

ऐसे दो भेद बतलाये है। निजमे निजके निमित्तसे होने वाली परिणतिको विषय करने वाला शुद्ध निश्चय नय है और परके निमित्तसे जायमान निजकी परिणतिको विषय करने वाला अशुद्ध निश्चय नय है। इस कथनमे गुणस्थान तथा रागादिक भाव अशुद्ध निश्चय नयसे आत्माके हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाता है ॥६८॥

अब यहाँ यह शङ्का स्वयमेव होती है कि यदि ये गुणस्थानादि सब भाव जीव नहीं हैं तो फिर जीव क्या है ? इस शङ्काका उत्तर अमृतचन्द्र स्वामी कलशामे देते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो स्वसंवेद्य है, अनादि है, अनन्त है, अचल है अर्थात जिसका कभी विनाश नहीं होता, प्रकट है और चैतन्यस्वरूप है, ऐसा जीवनामक पदार्थ स्वयं अतिशयकर प्रदीपवत् प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—यह जीवतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे अनादि अनन्त है अर्थात कभी नया उत्पन्न नहीं हुआ है और न कभी सत्ताका उच्छेदकर अन्तको भी प्राप्त होगा। अचल है अर्थात् चैतन्य स्वभावसे कभी चलायमान नहीं होता। मै सुखी हूँ, मै दुःखी हूँ, मै ज्ञानी हूँ इत्यादि रूपसे इसकी प्रतीति सबको होती है, अतः स्वसंवेद्य है। सबके अनुभवमे आता है, अतः स्फुट है तथा ज्ञान-दर्शनका पुञ्ज होनेसे चैतन्यरूप है। ऐसा यह जीव स्वयं ही अतिशयरूपसे प्रकाशमान हो रहा है, इसके जाननेके लिये पदार्थान्तरके माहात्म्यकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

चैतन्य ही जीवका निर्दोष लक्षण है, यह कलशामे दरशाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—यदि जगत् अमूर्तत्वगुणकी उपासना कर जीवतत्त्वका अवलोकन करता है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है क्योंकि जीवसे भिन्न जो अजीव है वह भी वर्णादिसे रहित और वर्णादिसे सहित इस तरह दो प्रकारका है। इसलिये विवेचन करने वाले आचार्योंने चैतन्यको ही जीवका लक्षण बताया है। उसे ही स्वीकृत करना चाहिये, क्योंकि यह चैतन्य समुचित है अर्थात् असंभव दोषसे रहित है, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषसे वर्जित

है, व्यक्त है अर्थात् प्रकटरूपसे अनुभवमें आता है, जीवतत्त्वको प्रकट करने वाला है और अचल—अविनाशी है।

भावार्थ—अमूर्तिकपन जीवका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि अजीव पदार्थ दो प्रकारके हैं—एक तो मूर्तिक, जैसे पुद्गल और एक अमूर्तिक, जैसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इसलिये अमूर्तिकपनकी उपासना कर जगत्के जीव जीवतत्त्वका अवलोकन नहीं कर सकते, क्योंकि अमूर्तिकपन आकाशादिमें भी रहता है। ऐसा विचारकर विवेचक जीवोंने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषोंसे रहित व्यक्तरूपसे जीवका लक्षण चैतन्य ही स्वीकृत किया है। लक्षण वही हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषोसे रहित है। यदि जीवका लक्षण रागादिक माना जावे तो इसमे अव्याप्ति दोष आवेगा, क्योंकि लक्षणका फल लक्ष्यको अलक्ष्यसे पृथक् कराना है। जैसे प्रकृतमे यदि जीवका लक्षण रागादि माना जावे तो इस प्रकारकी अनुमिति होगी कि 'जीव अजीवादि पञ्चपदार्थोंसे भिन्न है क्योंकि रागादिमान् है'। यहाँ पर जीव पक्ष है, अजीवादि भिन्नपन साध्य है, रागादिमत्त्व हेतु है। हेतुको अपने पक्षमात्रमे रहना चाहिये, सो जब जीवका मोहनीयादि कर्मोका अभाव होनेपर वीतराग दशा हो जाती है तब यह रागादिमत्त्व हेतु उस जीवमे नही रहता, अतः भागासिद्ध दोष होनेसे जीवकी अजीवसे भिन्न सिद्ध करने वाली अनुमितिमे साधक नहीं होता।

इसी प्रकार यदि जीवका लक्षण अमूर्त्तत्व माना जावे तो ऐसी अनुमिति होगी कि 'जीव: अजीवाद् भिन्नः अमूर्तत्वात्' अर्थात् जीव अजीवसे भिन्न है क्योंकि अमूर्तिक है। यहाँ जीव पक्ष है, अजीवसे भिन्नपन साध्य है, और अमूर्त्तत्व हेतु है। यह हेतु पक्षसे भिन्न जो विपक्ष आकाशादिक है उनमे भी पाया जाता है अतः व्यभिचारी हुआ, क्योकि जो हेतु पक्षमे भी रहे और विपक्षमे भी रहे वह व्यभिचारी होता है, और व्यभिचारी होनेसे स्वकीय साध्यमे गमक नही हो सकता, यह अतिव्याप्ति दोष है।

इसी तरह यदि जीवका लक्षण जडत्व माना जावे तो असभव दोष होगा, क्योकि यहाँपर अनुमानका ऐसा आकार होगा कि 'जीव अजीवसे भिन्न है क्योकि जडत्वसे सहित है।' यहाँपर जीव पक्ष है, अजीव-भिन्नता साध्य है, और जडत्व हेतु है। यह जडत्व हेतु पक्षमें सर्वथा ही नहीं रहता, इससे स्वरूपासिद्ध है।

इत्यादि अनेक दोषोसे रहित जीवका वास्तविक लक्षण चैतन्य है। वह जीवकी सब अवस्थाओमे रहता है। अतः वही अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव दोषोसे रहित है॥ ४२॥

इस तरह ज्ञानीके जीव और अजीवका भिन्न-भिन्न ज्ञान होनेपर भी अज्ञानीका मोह पुनः पुनः अतिशय नृत्य करता है, इसपर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्न
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षणसे अजीव जीवसे भिन्न है ऐसा ज्ञानीजन स्वयं उल्लसित होनेवाले अजीवतत्त्वका अनुभव करते है। परन्तु अज्ञानी जीवका निर्मर्यादित-रूपसे वृद्धिको प्राप्त हुआ यह मोह क्यों बार-बार अतिशयरूप नृत्य कर रहा है, यह आश्चर्य और खेदकी बात है।

भावार्थ—जीव और अजीव दोनो ही अपने-अपने लक्षणोसे भिन्न-भिन्न है, ऐसा ज्ञानी जीव स्वय अनुभव करते है। परन्तु अज्ञानी जीवका मोह अर्थात् मिथ्यात्व इतना अधिक विस्तारको प्राप्त हुआ है कि वह उसे स्पष्ट सिद्ध जीव और अजीवका भेदज्ञान नहीं होने देता। इसीलिये वह शरीरादि अजीव पदार्थोमे जीव बुद्धि कर चतुर्गतिमे भ्रमण करता है ॥४३॥

आचार्य कहते हैं कि अज्ञानीका वह मोह भले ही नृत्य करो, परन्तु ज्ञानीको ऐसा भेदज्ञान होता ही है—

वसन्ततिलकाछन्द

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव ॥४४॥

अर्थ—यह जो अनादिकालसे बहुत बडा अविवेकका नाट्य हो रहा है उसमे वर्णादि-मान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य नही, क्योकि यह जीव, रागादिक पुद्गलके विकारोसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्तिसे सयुक्त है अर्थात् वीतरागविज्ञान इसका स्वरूप है।

भावार्थ—अनादि कालसे इस जीवका पुद्गलके साथ परस्परावगाहरूप सम्बन्ध हो रहा है, इसलिये अज्ञानी जीवोंको इसमे एकत्वका भ्रम उत्पन्न हो रहा है। उसी भ्रमको दूर करनेके लिये आचार्यने दोनोंके भिन्न-भिन्न लक्षण बताते हुए कहा है कि जीव तो रागादिक पुद्गलके विकारोसे रहित शुद्ध चैतन्यधातुका पिण्ड है और पुद्गल वर्णादिमान् है। इस अविवेक अर्थात् अभेदज्ञान मूलक नाट्यमे सारी भूमिका पुद्गलकी ही है। वही राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म और नोकर्म आदिका रूप रखकर अपने नाना स्वाग दिखला रहा है, जीव तो सब अवस्थाओमे एक चैतन्यका ही पिण्ड रहता है ॥४४॥

इस तरह भेदज्ञानकी प्रवृत्तिसे ही ज्ञायक आत्मदेव प्रकट होता है, यह कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटन नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटन नैव यावत्प्रयात ।
विश्व व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्य स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानरूप करोतकी क्रियासे विदारणका अभिनयकर अर्थात् पृथक् पृथक् होकर जब तक जीव और अजीव स्पष्ट रूपसे विघटनको प्राप्त नहीं होते तब तक अतिशयरूपसे विकसित तथा प्रकट चैतन्यमात्रकी शक्तिसे समस्त विश्वको व्याप्तकर यह ज्ञाताद्रव्य आत्मा अपने आप बडे चावसे अत्यधिक प्रकाशमान होने लगता है।

भावार्थ—इस ससारमें अनादिकालसे जीवकी पुद्गलके साथ संयोगी दशा चली आ रही है। जब तक भेदज्ञान नही होता तब तक यह जीव शरीरादि दृश्यमान पदार्थोंको आत्मा मानता रहता है, 'ज्ञायक आत्मद्रव्य इन शरीरादिकसे भिन्न द्रव्य है' ऐसी अनुभूति इस जीवको नही होती, परन्तु जब भेदज्ञानरूप करोत इसके हाथ लगती है तब यह उसके चलानेके अभ्याससे जीव और पुद्गलरूप अजीवको अलग-अलग समझने लगता है। अब उसकी प्रतीतिमे आता है कि अहो, चैतन्यस्वभावको लिये हुए ज्ञायक आत्मद्रव्य तो इन शरीरादिकसे भिन्न पदार्थ है। अभी तो उसने जीव और अजीवको केवल श्रद्धाके द्वारा अलग अलग समझा था, पर जब चारित्ररूप पुरुषार्थके द्वारा वह जीव और अजीवको अर्थात् जीव और रागादिक विकारी परिणतिको वास्तवमे अलग-अलग कर देता है—वीतराग दशाको प्राप्त कर लेता है तब अन्तर्मुहूर्तमे ही अपनी चेतन्यशक्तिके द्वारा समस्त विश्वको व्याप्तकर अर्थात् केवलज्ञानका विषय बनाकर यह ज्ञायक आत्मद्रव्य स्वय ही प्रकाशमान हो उठता है। यहाँ कार्यकी शीघ्रता बतलानेके लिये आचार्यने कहा है कि जीव और अजीव जब तक विघटनको प्राप्त नहीं हो पाते कि उसके पहले ही ज्ञायक आत्मद्रव्य प्रकट प्रकाशमान होने लगता है। वास्तवमे क्रम यह है कि पहले जीव और अजीवका भेदज्ञान होता है, तदनन्तर आत्मद्रव्य भासमान होता है ॥४५॥

इस तरह जीव और अजीव पृथक् होकर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गये ॥६८॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयप्राभृतके
जीवा-जीवाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ

●

२. कर्तृकर्माधिकार

अनन्तर जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका स्वांग रखकर रङ्गभूमिमे प्रवेश करते हैं।

उनके यथार्थ स्वरूपको जानने वाली ज्ञान-ज्योति है। अतः प्रारम्भमे श्रीअमृतचन्द्र स्वामी उसी ज्ञान-ज्योतिकी महिमाका गान करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

'एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी'
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

अर्थ—'इस ससारमे मैं जो एक चेतनात्मक आत्मा हूँ सो कर्ता हूँ और ये क्रोधादिक मेरे कर्म है' अज्ञानी जीवोकी इस कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिका सब ओरसे शमन करती हुई ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है। वह ज्ञानज्योति परम उदात्त है, अत्यन्त धीर है, निरुपधि है अर्थात् परकृत उपाधिसे रहित है, पृथक्-पृथक् द्रव्योको अवभासित करने वाली है और समस्त विश्वका साक्षात् करने वाली है ॥४६॥

आगे कहते हैं कि आत्मा और आस्रव इन दोनोके अन्तरको नही समझना ही बन्धका कारण है

जाव ण वेदि विसेसतरं तु आदासवाण दोह्नं पि।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोधादिसु वट्टतस्स तस्स कम्मस्स सचओ होदि।
जीवस्सेव बधो भणिदो खलु सव्वदरसीहि ॥७०॥

अर्थ—जब तक जीव, आत्मा और आस्रव इन दोनोके विशेष अन्तरको नहीं जानता है तब तक अज्ञानी हुआ वह क्रोधादिकमे प्रवृत्ति करता है और क्रोधादिकमे प्रवृत्ति करने वाले उस जीवके कर्मका संचय होता है। इस प्रकार जीवके कर्मोंका बन्ध सर्वज्ञदेवने निश्चय से कहा है।

विशेषार्थ—जीव जब तक आत्मा और आस्रवके भिन्न-भिन्न स्वरूपको नही जानता तब तक वह अज्ञानी है और क्रोधादिक आस्रवोमे प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार क्रोधादिक

आस्रवोमे प्रवृत्ति करते हुए जीवके कर्मका संचय होता है। इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञद्वारा निश्चयसे इस जीवके बन्ध कहा गया है।

जिस प्रकार यह आत्मा तादात्म्य सम्बन्धसे आत्मा और ज्ञानमे विशेष न होनेसे भेदको नही देखता हुआ निःशङ्कभावसे आत्मीय ज्ञान जानकर ज्ञानमे प्रवृत्ति करता है, उस ज्ञानक्रियामे प्रवर्तमान आत्माके ज्ञानक्रियाके साथ स्वभावभूतपन अर्थात् ज्ञानक्रियाका उपादानकारण आत्मा ही है, अतएव उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता, इसीलिये आत्मा उसको जानता है। इसी प्रकार सयोग सम्बन्धके द्वारा निमित्तसे जायमान जो क्रोधादिक है उनके साथ यद्यपि आत्माका ज्ञानकी तरह सम्बन्ध नहीं है फिर भी अपने अज्ञानसे यह अज्ञानी जीव आत्मा और क्रोधादिक आस्रवोमे भेदको नहीं देखता है। इसीसे निःशङ्क होकर ज्ञानके सदृश क्रोधादिकमे आत्मीय बुद्धिसे प्रवृत्ति करता है और जब क्रोधादिकमे प्रवृत्त होता है तब यद्यपि यह क्रोधादिक क्रिया परभावभूत होनेसे प्रतिषेध करने योग्य है किन्तु अज्ञानी उनसे स्वभावभूतपनका अध्यास कर क्रोध भी करता है, राग भी करता है, और मोह भी करता है। सो यहाँ यह आत्मा अपने आप अज्ञानस्वरूप होकर स्वकीय ज्ञानभवनमात्र जो उदासीन भाव है उसको त्यागकर कर्ता हो जाता है और अन्तरङ्गमे ज्ञानके भवनमात्रसे भिन्न जिन क्रोधादिकको करता है वे इसके कर्म है। इस प्रकार यह अनादि तथा अज्ञानसे जायमान कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति है। इस तरह इस आत्माकी अपने ही अज्ञानसे कर्ता-कर्मरूपसे क्रोधादिकमे प्रवृत्ति होती है और जब इसकी उनमे प्रवृत्ति होती है तब इसके क्रोधादिक प्रवृत्तिरूप परिणामोके निमित्तसे स्वयमेव परिणमनशील पुद्गलकर्मका सचय हो जाता है, एव जीव और पुद्गलका एकक्षेत्रावगाह लक्षण सम्बन्धरूप बन्ध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। यहाँपर इतरेतराश्रय दोष नही है क्योकि बीज-वृक्षकी तरह इनकी सतान, जब तक ससारका नाश नही होता तब तक, बराबर अखण्ड प्रवाहसे चली जाती है ॥६९-७०॥

अब प्रश्न यह है कि इस अनादिकालीन कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इसी प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णाद होदि विसेसतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

अर्थ—जब इस जीवके द्वारा आत्मा और आस्रवोका विशेष अन्तर जान लिया जाता है तब इसके बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ—इस जगत्मे जो पदार्थ है वे सब अपने-अपने स्वभावमें तल्लीन है क्योकि जो अपना भवन है अर्थात् अपनी परिणति है वही तो अपना निज भाव है। इस कारण ज्ञानका जो होना है वही तो निश्चयसे आत्माका स्वभाव है। अर्थात् जो ज्ञान है वही आत्मा है, क्योकि जैसे उष्ण गुणसे भिन्न अग्नि नहीं, वैसे ज्ञानगुणसे भिन्न आत्मा भी नहीं है।

इसमे जो ज्ञानका होना है निश्चयसे वही आत्मा है, और क्रोधादिकोंका जो होना है वह क्रोधादिक है। जो ज्ञानका होना है वह क्रोधादिकका होना नहीं है, क्योंकि ज्ञानके होनेमे ज्ञान ही होता हुआ प्रत्ययमे आता है, क्रोधादिकका होना प्रत्ययमे नहीं आता, और जो क्रोधादिकका होना है वह ज्ञानका होना नही है, क्योकि क्रोधादिकके होनेमे क्रोधादिक ही होते हुए प्रत्ययमे आते है—ज्ञानका होना प्रत्ययमे नही आता। इस तरह आत्मा और क्रोधादिकोंके निश्चयसे एकवस्तुपन नही है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवका विशेष (भेदज्ञान) होनेपर जब यह आत्मा उन दोनोके भेदको जान लेता है तब इसकी अनादिकालीन अज्ञानजन्य कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है और उसके निवृत्त होनेपर अज्ञाननिमित्तक पुद्गलद्रव्यकर्मका सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है। जब ऐसी वस्तुस्थिति हो जाती है तब ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है ॥७१॥

आगे प्रश्न होता है कि ज्ञानमात्रसे बन्धका निरोध किस तरह होता है? इसका उत्तर देते हैं—

णादूण आसवाण असुचित्त च विवरीयभाव च ।
दुक्खस्स कारण ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥७२॥

अर्थ—आस्रवोका अशुचिपन और विपरीतपन तथा ये दुःखके कारण है ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है अर्थात् आस्रवोको अपवित्र, विपरीत और दुःखका कारण जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ—जैसे जलमे शेवाल हो जानेसे जल मलिन हो जाता। ऐसे ही ये आस्रव भाव आत्माको कलुषित बना देते है अतः अशुचिरूप है। परन्तु भगवान आत्मा नित्य ही अतिनिर्मल चिन्मात्रपनसे उपलब्ध होनेके कारण अत्यन्त पवित्र है। ये आस्रव जड है तथा परके द्वारा जाने जाते हैं इसलिये आत्मासे अन्य स्वभाव है और भगवान आत्मा नित्य ही विज्ञानघनस्वभाव है। अतएव स्वय चेतक होनेसे अन्य स्वभावरूप नही होता किन्तु निरन्तर ज्ञानस्वभावात्मक है। ये आस्रव आकुलताके उत्पादक है अतः दुःखके कारण है और भगवान आत्मा नित्य ही अनाकुल स्वभाववाला होनेसे दुःखका कारण नही है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवके विशेषके देखनेसे जिस कालमे यह आत्मा आस्रव और आत्माके भेदको जानता है, उसी कालमे क्रोधादिक आस्रवोसे पृथक् हो जाता है, क्योकि क्रोधादिक आस्रवसे निवृत्त हुए बिना पारमार्थिक भेदज्ञानकी सिद्धि होना असभव है। इसीसे क्रोधादिक आस्रवोसे निवृत्त होनेपर ही सम्यग्ज्ञानका होना अविनाभावी है। इस सम्यग्ज्ञानसे ही अज्ञानजन्य पौद्गलिककर्मका बन्ध रुक जाता है।

यहाँपर किसीकी आशङ्का है कि जो यह आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान है, वह क्या ज्ञानस्वरूप है? या अज्ञानस्वरूप है? यदि अज्ञानस्वरूप है तो आस्रवके साथ होने

वाले अभेदज्ञानसे इसमें कुछ विशेष नहीं हुआ। अर्थात् अन्तर नहीं आया और यदि ज्ञान-स्वरूप है तो क्या आस्रवोंमें प्रवृत्त है या आस्रवोंसे निवृत्त है? यदि आस्रवोंमे प्रवृत्त है तो आस्रवोंके साथ अभेदज्ञान होनेसे कोई भी विशेष नहीं हुआ। यदि आस्रवोंसे निवृत्त है तब ज्ञानसे ही बन्ध-निरोध सिद्ध क्यों न हुआ? इस अवस्थामे क्रियानयवादीका जो यह पक्ष था कि क्रियासे ही आस्रवकी निवृत्ति हुई, ज्ञानमे क्या रखा है? उसका निषेध हो गया क्योंकि जब तक सम्यग्ज्ञान न हो जावे तब तक केवल ऊपरी क्रियाकाण्डसे कुछ होने वाला नहीं है। अब ज्ञानसे ही सिद्धि मानने वालोंका कहना है कि आत्मा और आस्रवका जो भेदज्ञान है वह सिद्धिका कारण है। इसपर आचार्य महाराजका कहना है कि आत्मा और आस्रवका जो भेदज्ञान है यदि वह आस्रवसे निवृत्ति नहीं करता तो वह ज्ञान ही नहीं है। इससे जो ज्ञानसे ही सिद्धि मानने वाले हैं उनका निराकरण हो गया। अर्थात् जिस ज्ञानके होनेपर आस्रवादिकी निवृत्ति नहीं होती है वह ज्ञान सिद्धिका जनक नहीं है। तथा जिस चारित्रकी प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञानपूर्वक नहीं वह चारित्र भी संसार-लतिकाके छेदनेमे समर्थ नहीं होता, अतः सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो आचरण है वही मोक्षमार्गमे सहायी है। ऐसा जानकर मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रियाके द्वारा सिद्धि होनेके पक्षयानको त्यागो, क्योंकि दोनोंका सहयोग ही सिद्धिका प्रयोजक है—मोक्षका साधक है ॥७२॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं—

मालिनीछन्द

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

अर्थ—जो परपरिणतिको छोड़ रहा है, भेदवादका खण्डन कर रहा है, स्वयं अखण्ड-रूप है तथा अतिशय तेजःपूर्ण है ऐसा यह उत्कृष्ट ज्ञान उदित हुआ है। इसके उदित होनेपर कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्तिको अवकाश कैसे मिल सकता है और पौद्गलिक कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है।

भावार्थ—मोहके निमित्तसे ज्ञानकी परपदार्थोंमे परिणति होती थी अथवा ज्ञानमे रागादि विकारी भावोंकी परिणति होती थी सो जब परपरिणतिका कारण जो मोह था वही निकल गया तब ज्ञान उस परपरिणतिको छोडकर अपने स्वभावमें ही परिणति करने लगा। क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें नाना भेदोंकी आपत्ति होती है परन्तु अब क्षयोपशमका अभाव हो गया है। अतः भेदवादोंको खण्डकर ज्ञान एक अखण्ड प्रतिभासरूप रह गया। ऐसा अतिशय तेजस्वी उत्कृष्ट ज्ञान जब प्रकट हो जाता है तब कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्ति स्वयं हट जाती है। और कर्तृ-कर्मकी प्रवृत्तिके हटनेपर पौद्गलिक कर्मबन्ध स्वयं समाप्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

आगे वह कौनसी विधि है जिसके द्वारा आस्रवसे आत्माकी निवृत्ति हो जाती है ? इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दसण-समग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खय णेमि ॥७३॥

अर्थ—मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूँ तथा उसीमें स्थित और उसीमें तल्लीन होता हुआ इन सब क्रोधादिक भावोंको क्षयको प्राप्त कराता हूँ ॥

विशेषार्थ—वास्तवमे तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो इस ससारमे यावत् पदार्थ है वे सब अपने-अपने स्वरूपमे समवस्थित भिन्न भिन्न ही है, मै द्रव्यदृष्टिसे एक हूँ (स्वानुभव) प्रत्यक्षका विषय हूँ, किसीके द्वारा मुझमे कदापि किसी प्रकारकी बाधा नही आती, इससे अक्षुण्ण हूँ तथा अनन्त चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप हूँ, नित्य ही विज्ञानघनस्वभाव वाला होनेसे एक हूँ, समस्त जो षट्कारकचक्रकी प्रक्रिया है वह भेददृष्टिमे है, अभेददृष्टिमे इसका अस्तित्व नही। अत मै स्वकीय निर्मल अनुभूतिमात्रके सद्भावसे सर्वदैव शुद्ध हूँ, पुद्गल जिनका स्वामी है ऐसे क्रोधादिक नानाप्रकारके भावोंका मै स्वामी नही हूँ अतः तद्रूप परिणमनके अभावमे निर्ममत्व हूँ आत्मपदार्थ चिन्मात्र तेज वाला है तथा वस्तु-स्वभावके कारण सामान्यविशेषरूप भावसे परिपूर्ण है, अतः मै ज्ञानदर्शनसे समग्र हूँ, गगनादिकके सदृश मै भी पारमार्थिक विशेष पदार्थ हूँ, इसीसे मै अब इसी आत्मामे सम्पूर्ण परद्रव्योंकी प्रवृत्तिसे निवृत्तिकर निश्चलरूपसे अवस्थित होता हूँ, परद्रव्योंके निमित्तसे जायमान रागादिकभावरूप चञ्चल कल्लोलमालाओंका निरोधकर इसी निजस्वरूपका अनुभव करता हूँ, स्वकीय अज्ञानसे आत्मामे जो अनेकविध विकारभाव उत्पन्न होते थे उन सबका नाश करता हूँ, ऐसा जब इस जीवको आत्मामे निश्चय हो जाता है तब वह, जिसने चिरकालसे पकड़े हुए जहाजको छोड दिया ऐसे समुद्रके आवर्तके समान, शीघ्र ही समस्त विकल्पोंको उगल देता है तथा अचलित और अमल आत्मस्वभावका अवलम्बन करता हुआ विज्ञानघनस्वरूप होकर निश्चित ही आस्रवोंसे निवृत्त हो जाता है।

यहाँ कोई यह आशङ्का करे कि आत्मज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही कालमे किस प्रकार होती है ? तो उसका उत्तर यह है कि जब इस जीवको आत्मा और आस्रवका यथार्थ सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब आस्रवकी निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है। मिथ्यादर्शनके अभावसे आत्मामे जहाँ सम्यग्दर्शन होता है वहाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमे बँधने वाली मिथ्यात्वप्रकृति, हुण्डकसंस्थान, नपुसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिका सहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु ये सोलह प्रकृतियां आस्रवरूप नहीं रहतीं अर्थात् इनका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही होता है। इसी प्रकार क्रमसे गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार जैसे-जैसे ज्ञान और चरित्रकी वृद्धि होती

जाती है वैसे-वैसे इन सबका अभाव होता जाता है। यह ग्रन्थ ज्ञानगुणकी विशेषताका वर्णन करता है। अतः आचार्योंका कहना है कि ज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति समकालीन है ॥ ७३ ॥

यही दिखाते हैं—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

अर्थ—जीवके साथ लगे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं, और दुःखरूप फलसे युक्त हैं ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ—ये आस्रव, लाख और वृक्षके समान वध्यघातकस्वभावसे आत्माके साथ निबद्ध हो रहे हैं अर्थात् जिस प्रकार पीपल आदि वृक्षोंका लाखके सम्बन्धसे घात होता है उसी प्रकार आत्माके साथ आस्रवोंका सम्बन्ध होनेसे उसके ज्ञानदर्शनादि गुणोंका घात होता है। यहाँ घातका अर्थ ज्ञानादिक गुणोंमें नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होकर आत्मीय स्वस्थ अवस्थाका प्रलय हो जाता है। इस तरह ये आस्रव विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, अविरुद्ध स्वभावका अभाव होनेसे जीवस्वरूप नहीं है। ये आस्रव अपस्मार (मृगी) रोगके वेगके समान कभी तो तीव्ररूपसे होने लगते हैं और कभी मन्दरूपसे। जब मिथ्यात्वादि कर्मोंका तीव्र उदय रहता है तब यह जीव हिंसादि पापोंमे धर्मबुद्धिकी श्रद्धाकर नाना प्रकारके कुकृत्योंमे अपनी सम्पूर्ण शक्तिका दुरुपयोग करता हुआ भी आपको धार्मिक मानता है। इन्हींके तीव्र उदयमें देवता आदि मानसिक आहार वालोंके उद्देश्यसे बकरे, भैंसे आदि दीन पशुओंके वध करनेमे भी इस निर्दयीको दया नहीं आती। और जब इनका मन्दोदय होता है तब दया आदि गुणोंके पोषक परोपकारादि कार्योंमे प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अपने समयका सदुपयोग करता है। इस तरह ये आस्रव एकरूप नहीं रहते। अतः अध्रुवस्वभाव वाले हैं परन्तु जीव ध्रुव है तथा चैतन्यचमत्कार वाला है। ये आस्रव शीत-दाहज्वरके आवेशके समान क्रमसे उत्पन्न होते हैं अतः अनित्य है। अर्थात् कभी तो शुभास्रव होता है और कभी अशुभास्रव होता है इसलिये अनित्य हैं। नित्य यदि है तो विज्ञानघनस्वभाव वाला जीव ही है। जिस प्रकार काम-सेवनके समय वीर्यके छूटनेपर कामका दारुण वेग नष्ट होने लगता है उसे कोई रोक नहीं सकता इसी प्रकार जब अपना फल देकर ये आस्रव झड़ने लगते हैं तब इनका रक्षक कोई नहीं होता अतः ये आस्रव अशरण हैं। इसके विपरीत यदि शरण सहित है तो स्वयं गुप्त और सहज चैतन्यशक्ति वाला जीव ही है। ये आस्रव नित्य ही आकुलतास्वभाववाले तथा आकुलताके उत्पादक है अतः दुःख स्वरूप हैं। यदि अदुःख स्वरूप है तो अनाकुलतारूप स्वभावसे युक्त जीव ही है। ये आस्रव वर्तमानमे ही दुःखरूप हैं सो नहीं, उत्तरकालमे भी अकुलताके कारण हैं। अतएव आकुलताको उत्पन्न करने वाले पुद्गल परिणामके उत्पादक होनेसे दुःखरूप फलसे युक्त हैं। इसके विपरीत यदि दुःखरूप फलसे रहित कोई है तो सभी प्रकारके पुद्गल परिणामका अकारण जीव ही है।

इस प्रकार जब आत्मा और आस्रवका भेदज्ञान हो जाता है तब कर्मविपाक शिथिल हो जाता है और उसके शिथिल होनेसे जैसे घनसमूहके विघटनेसे दिशाओंका समूह अत्यन्त विस्तृत हो जाता है वैसे ही स्वभावसे ही आत्माकी चेतनाशक्ति अत्यन्त विस्तृत हो जाती है और जैसे-जैसे उसके उदयकी वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और जैसा-जैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है वैसा-वैसा ही विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। यह आत्मा ज्यों ही विज्ञानघनस्वभाव होता है त्यों ही आस्रवोसे अच्छी तरह निवृत्त हो जाता है और ज्यो ही आस्रवोंसे निवृत्त होता है त्यो ही विज्ञानघनस्वभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानका उदय और आस्रवकी निवृत्ति दोनों ही एककालमें होते हैं। जिस तरह सूर्योदय और तमोनिवृत्ति इनमे कालभेद नहीं है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान और आस्रवनिवृत्ति इनमे कालभेद नहीं है। इसका भाव यह है कि गुणस्थान परिपाटीके अनुसार जैसे-जैसे आत्मा गुणस्थानोंको प्राप्त करता है वैसे-वैसे ये मिथ्यात्वा-त्वादि आस्रव निवृत्त होते जाते हैं ॥७४॥

अब इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्येव विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्व विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवान परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्त स्वय
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगत साक्षी पुराण पुमान् ॥४८॥

अर्थ—इस प्रकार यह पुराण पुरुष—अनादि सिद्ध आत्मा जब परद्रव्यसे पूर्ण निवृत्ति कर अतिशय उत्कृष्ट अपने विज्ञानघनस्वभावका निर्भयतापूर्वक आश्रय लेता है तब अज्ञानसे उत्थित कर्तृकर्मभावसे उत्पन्न होनेवाले क्लेशसे स्वयं छूट जाता है और तदन्तर एक ज्ञान स्वरूप होकर जगत्का साक्षात्कार करता हुआ प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—इस प्रकार जब आत्मा इन आस्रवोंके स्वरूपको समीचीन रूपसे जान लेता है तब परपदार्थोंसे एक ही बारमे अपनी प्रवृत्तिको निवृत्त कर लेता है और विज्ञानघनस्वरूप जो अपना स्वभाव है केवल उसे निर्भयतासे अङ्गीकृत करता है। उस समय अज्ञानसे उत्पन्न होने वाले कर्तृ-कर्मके व्यवहारसे जो नाना दुःख उत्पन्न होते है उनसे स्वय निवृत्त हो जाता है और इससे आगामी कालमें स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर जगत्का ज्ञाता-दृष्टा बनकर प्रकाश-मान रहता है ॥४८॥

आगे ज्ञानीभूत आत्मा कैसे जाना जाता है ? यह कहते हैं—

कम्मस्स य परिणाम णोकम्मस्स य तहेव परिणाम ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मके परिणामको और इसी तरह नोकर्मके परिणामको नहीं करता है किन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

विशेषार्थ—निश्चयकर मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि रूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होने वाले कर्मके परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, स्थौल्य, सौक्ष्म्य आदि रूपसे बाह्यमे प्रकट होने वाले नोकर्मके परिणाम, ये सब पुद्गलद्रव्यके ही परिणमन है। अतएव जैसा घट और मृत्तिकाका परस्परमे व्याप्यव्यापकभाव है वैसा ही इन मोहरागद्वेषादि तथा रूपरसादि परिणामोका पुद्गलद्रव्यके साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है क्योकि इनके करनेमे स्वय पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्ररूपसे कर्ता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य व्यापक है और जो मोहरागद्वेषादि तथा रूपरसादि परिणाम हैं वे स्वय व्याप्य होनेसे कर्म है। पुद्गलपरिणाम और आत्मामें घट और कुम्भकारके सदृश व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभावका अभाव है। अतएव आत्मा इन भावोंका कर्ता नहीं है किन्तु यहाँ पर यह विशेषता है कि परमार्थसे यद्यपि पुद्गलपरिणामका ज्ञान और पुद्गल इन दोनामे घट और कुम्भकारके समान व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है तो भी आत्मपरिणाम और आत्मा इन दोनोमें घट और मृत्तिकाके समान व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध होता है अर्थात् आत्मा स्वतन्त्र व्यापक होनेसे कर्ता है और आत्मपरिणाम व्याप्य होनेसे कर्म है। यहाँ जो पुद्गलपरिणामका ज्ञान है, उसे आत्मपरिणाम मानकर कर्मरूपसे स्वीकृत किया गया है। इस तरह पुद्गलपरिणामके ज्ञानरूप आत्मपरिणामको कर्मरूपसे करते हुए आत्माको जो जानता है वही अन्यसे विविक्त ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानीव्यपदेशको प्राप्त करता है। यहाँ ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि ज्ञाता जो आत्मा है उसका पुद्गलपरिणाम व्याप्य हो गया, क्योकि पुद्गल और आत्मामें ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धका ही व्यवहार है, व्याप्यव्यापकसम्बन्धका व्यवहार नहीं है। किन्तु पुद्गलपरिणामनिमित्तक जो ज्ञान है वह ज्ञाताका व्याप्य है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म और नोकर्मके परिणामका कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है ॥७५॥

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अर्थ—व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूपमें ही होता है न कि अतत्स्वरूपमें भी। और व्याप्यव्यापकभावके संभव बिना कर्ता-कर्मकी स्थिति क्या है ? कुछ भी नहीं, इस प्रकारके उत्कट विवेकको भक्षण करनेवाले—नष्ट करनेवाले अज्ञानतिमिरको जोर देकर भेदता हुआ यह पुरुष

जब ज्ञानी होकर सुशोभित होता है, अहो, तभी यह कर्तृत्वसे शून्य होता है। यहाँ 'उद्दाम-विवेकघस्मरमहोभारेण' ऐसा यदि एक पद माना जावे तो उसका अर्थ होता है उत्कट विवेकरूपी सर्वग्रासी ज्ञानतेजके भारसे अज्ञानतिमिरको भेदता हुआ।

भावार्थ—जो सब अवस्थाओंमे नियमरूपसे रहे वह तो व्यापक है और जो विशेष अवस्थाएँ हैं वे व्याप्य हैं ऐसी वस्तुकी व्यवस्था होनेसे द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य हैं। वे पर्याय द्रव्यके साथ कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्धसे अनुस्यूत है। कोई भी ऐसा समय नहीं जिसमे पर्यायसे वियुक्त द्रव्यका सत्त्व पाया जावे और न कोई ऐसा समय है जिसमे द्रव्यसे वियुक्त पर्यायोंका सत्त्व पाया जावे। केवल द्रव्य अन्वयरूपसे सर्वदा नित्य रहता है और पर्याय व्यतिरेकरूप है—एकके सद्भावमे अन्य पर्यायका स्वत्व नहीं रहता, क्योकि पर्याय क्षणध्वंसी है और द्रव्य नित्य है। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनोमे अविनाभावका नियम है। यही श्रीप्रवचनसारमे स्वय कुन्दकुन्द महाराजने लिखा है—

णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्थ विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो॥

अर्थात् परिणामके विना अर्थ नही है और अर्थके बिना परिणाम नही है। जो द्रव्य-गुण और पर्यायोंमे स्थित है वही अर्थ है, वह अर्थ अपने अस्तित्वसे स्वयं सिद्ध है। परमार्थ-से व्याप्यव्यापकता एकद्रव्यमे बनती है, भिन्न द्रव्योंमे नही बनती और व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्तृकर्मकी व्यवस्था नहीं होती, क्योंकि जो व्यापक होता है वह कर्ता कहलाता है और जो व्याप्य होता है वह कर्म कहा जाता है। जब एकद्रव्यमे ही व्याप्यव्यापकभाव बनता है तब कर्तृकर्मभाव भी एक द्रव्यमे ही बनेगा। इस तरह भिन्न द्रव्य होनेसे आत्मा रागादिरूप कर्मपरिणामका और रसगन्धादिरूप शरीरके परिणामका कर्ता कैसे हो सकता है? इस प्रकारका उत्कट विवेक जब इस जीवको उत्पन्न होता है तब वह अनादिवासनासे वासित मिथ्याज्ञान-तिमिरको नष्टकर ज्ञानी होता है और तभी परद्रव्यके कर्तृत्वसे मुक्त होता है।

आगे पुद्गलकर्मको जाननेवाला जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव क्या है, क्या यहीं है, इसी आशंकाका उत्तर देते हैं—

ण वि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्याय-रूप न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे कर्म तीन प्रकारका है। जहाँ सिद्ध पदार्थको ग्रहण करनेके लिये कर्ता यत्नपर होता है वहाँ प्राप्य कर्म कहलाता है जैसे देवदत्त ग्रामको जाता है। यहाँ जो ग्राम पदार्थ है वह सिद्ध है इसीसे उसे प्राप्य कर्म कहते हैं।

जहाँ परपदार्थ द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे विकारभावको प्राप्त होता है, उसे विकार्य कर्म कहते हैं। जैसे दुग्ध खटाईके योगसे दधिरूपताको प्राप्त होता है। और जो पर्यायान्तरको तो प्राप्त हो जावे परन्तु विकारभावरूप परिणत न हो उसे निर्वर्त्य कर्म कहते है। जैसे मृत्तिका घट-रूप परिणमनको प्राप्त होती है। यहाँ मृत्तिकाका घटात्मक परिणमन तो अवश्य हुआ, परन्तु विकृतावस्थारूप परिणमन नहीं हुआ। इसीसे इसे निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। प्रकृतमें प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिविध कर्मरूप जो पुद्गलके परिणामन हैं वे व्याप्य है, उनमें पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होता हुआ उन्हें ग्रहण करता है, उन रूप परिणमन करता है और उनमे उत्पद्यमान होता है इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्मकी उत्पत्ति होती है। उस कर्मको ज्ञानी यद्यपि जानता है तो भी आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यमे रहनेवाले परद्रव्योंके परिणामको मृत्तिका-कलशकी तरह आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उनरूप परिणमता है और न उनमे उत्पन्न होता है। इस तरह परद्रव्यके परिणमनरूप व्याप्यलक्षणवाले कर्मको नहीं करने-वाला तथा पुद्गलकर्मको जाननेवाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नही है। तात्पर्य यह है कि जीव अपनेसे भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उस रूप कभी परिणमन नही करता है क्योंकि जीव चेतन है और पुद्गलद्रव्य अचेतन है, चेतन, अचेतनरूप परिण-मन नहीं कर सकता। इसी तरह जीव पुद्गलको ग्रहण नहीं करता, क्योंकि जीव अमूर्त्तिक है और पुद्गल मूर्त्तिक है, और परमार्थसे जीव पुद्गलको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि चेतन, अचेतनको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इस तरह पुद्गल जीवका कर्म नहीं है और जीव पुद्गलका कर्ता नही है जीवका स्वभाव तो ज्ञाता है, अतः वह ज्ञानरूप परि-णमन करता हुआ पुद्गलद्रव्यको जानता भर है। इस तरह जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव कैसे हो सकता है ? ॥७६॥

आगे स्वकीय परिणामको जाननेवाला जो जीव है उसका क्या पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्म भाव हो सकता है या नहीं, इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकारके स्वकीय परिणामको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायों रूप न परिणमन करता है, न उन्हे ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे भेदत्रयको प्राप्त जो आत्मपरिणाम रूप कर्म है वह व्याप्य है, आत्मा अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओंमे व्याप्त होता हुआ उस आत्मपरिणामको ग्रहण करता है उस रूप परिणमन करता है और उस रूप उत्पन्न होता है। अतः आत्मा कर्ता है और उसके द्वारा किया हुआ आत्मपरिणाम कर्म है। ज्ञानी जीव उस आत्मपरिणामरूप कर्मको यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्त-

व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्यके परिणामको, मृत्तिका-कलशके समान आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होकर न ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमन करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। अतएव प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताका प्राप्त जो परद्रव्यका परिणामरूप कर्म है उसका कर्ता नहीं है किन्तु स्वकीय परिणामको जानता है। इस तरह परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको नही करने वाला तथा स्वकीय परिणामको जानने वाला जो ज्ञानी है उसका पुद्गलद्रव्यके साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। पहली गाथामे पुद्गलके परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव नही है, यह बताया गया है और इस गाथामे अपने परिणामको जानने वाले ज्ञानीके साथ पुद्गलका कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव नहीं है, यह बताया गया है ॥७७॥

आगे पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या निष्पन्न हो सकता है या नहीं, इस आशङ्काका उत्तर देते है—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥७८॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अनन्त प्रकारके पुद्गलकर्मफलको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायोरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमे उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी अनन्त पुद्गलकर्मके फलको जानता है तो भी परद्रव्यपर्यायोमे न तो परिणमता है न उनको ग्रहण करता है और न उनमे उत्पन्न होता है क्योकि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है लक्षण जिसका ऐसा व्याप्यरूप कर्म है। यहाँपर सुख-दुःखादिरूपसे जो पुद्गलकर्मका फल है वही व्याप्यरूप कर्मसे विवक्षित है। उस सुखदुःखादिरूप पुद्गल कर्मफलको, पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उसकी आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओमे व्याप्त होता हुआ ग्रहण करता है, उसरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है, इसीसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा यह सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मका फल किया जाता है। अतः पुद्गल-द्रव्य कर्ता है और सुखदुःखादिफलरूप पुद्गलकर्म फलकर्म है। ज्ञानी जीव इस पुद्गलकर्म-फलको यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यस्थित जो परद्रव्य है उसके परिणामको मृत्तिका-कलशके सदृश आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमता है और न उसरूपसे उत्पद्यमान होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त, व्याप्यलक्षण वाला जो परद्रव्यका परिणामरूप कर्म है उसका कर्ता नहीं है किन्तु सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको जानता है। इस तरह परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको नहीं करनेवाला तथा सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको जानने वाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नही है। इस गाथामे यह दिखलाया गया है कि पुद्गलकर्मके फल सुखदुःखको जाननेवाला जो जीव है उसका भी पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है ॥७८॥

अब जीवके परिणामको, अपने परिणामको तथा अपने परिणामके फलको नहीं जानने वाला जो पुद्गलद्रव्य है उसका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव क्या उपपन्न हो सकता है या नहीं? यह दिखाते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहि भावेहिं ।।७९।।

अर्थ—जिस प्रकार जीव परद्रव्यपर्यायोंमें न उत्पन्न होता है, न परिणमता है और न उन्हें ग्रहण करता है। इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यपर्यायोंको न ग्रहण करता है, न उनमें उत्पन्न होता है और न तद्रूप परिणमता है, किन्तु स्वकीय पर्यायोंके द्वारा परिणमन करता है।

विशेषार्थ—क्योंकि जीवपरिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको भी नहीं जानने वाला पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर परद्रव्यके परिणामको मृत्तिका-कलशके समान आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्तकर उसे न ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमन करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है किन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त व्याप्यलक्षणसे युक्त स्वभावरूप जो कर्म है उसे स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्तकर उसीको ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त, व्याप्यलक्षणसे युक्त परद्रव्यके परिणामरूप कर्मको नहीं करनेवाला तथा जीवपरिणाम और स्वपरिणामस्वरूप कर्मफलको नहीं जानने वाला जो पुद्गलद्रव्य है उसका जीवके साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है।। ७९ ।।

यही निष्कर्ष श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशामें प्रकट करते हैं—

स्रग्धराछन्द

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृ व्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवदयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।।५०।।

अर्थ—ज्ञानी इस निज और परकी परिणतिको जानता है तो भी, और पुद्गल इस निज और परकी परिणतिको नहीं जानता है तो भी, ये दोनों नित्य ही अत्यन्त भेदरूप होनेसे अन्तरङ्गमें व्याप्य-व्यापकभावको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं। इनमें जो कर्तृ-कर्मकी भ्रमपूर्ण बुद्धि है वह अज्ञानसे भासमान है और वह तब तक भासमान होती रहती है जब तक करोंत-की तरह निर्दयतापूर्वक दोनोंमें भेद उत्पन्नकर शीघ्र ही भेदज्ञानरूपी ज्योति प्रकाशमान नहीं होने लगती।

भावार्थ—ज्ञानी जीव अपने और परके परिणामको जानता है और पुद्गलद्रव्य अपने तथा परके परिणामको नहीं जानता है। इस प्रकार दोनोमे अत्यन्त भेद होनेसे कर्तृ-कर्मभावका होना अत्यन्त असम्भव है। यह कर्तृ-कर्मभावकी प्रवृत्ति अज्ञानसे होती है। जिस समय विज्ञान-रूपी ज्योतिका उदय होता है उस समय अपने आप, जैसे क्रकचके द्वारा काष्ठके दो खण्ड हो जाते हैं वैसे ही, यह प्रवृत्ति भिन्न हो जाती है ॥५०॥

आगे यद्यपि जीव और पुद्गलपरिणाममे परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तथापि उनमें कर्तृ-कर्मभाव नहीं है, यह कहते है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्ण पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह जीवद्रव्य भी ज्ञानावरणादि कर्मोंके विपाककालरूप निमित्तको पाकर स्वीय रागादि भावरूप परिणम जाते है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीव-द्रव्य कर्ममें किसी गुणका उत्पादक नहीं है। अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वय ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह कर्म भी जीवमे किन्हीं गुणोंको नहीं करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमन करता है। इतना होनेपर भी पुद्गल और जीव इन दोनोंका परिणमन परस्परनिमित्तक है, ऐसा जानो। इसीसे आत्मा अपने भावोंके द्वारा अपने परिणमनका कर्ता होता है, पुद्गलकर्मकृत जो सब भाव हैं उनका कर्ता नहीं है। अर्थात् पुद्गलके जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका कर्ता पुद्गल है और जीवके जो रागादिभाव हैं उनका कर्ता जीव है।

विशेषार्थ—जिस कारणसे जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणा-रूप पुद्गलद्रव्य स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणम जाता है तथा पुद्गलज्ञानाररणादि कर्मोंके विपाककालको पाकर जीव स्वयमेव रागादिकभावरूप पर्यायको प्राप्त हो जाता है। इस कारण जीव और पुद्गलपर्यायोंमें पपस्परहेतुत्वका उपन्यास होनेपर भी जीव और पुद्गलमे चूँकि व्याप्यव्यापकभाव नहीं है अतः जीवके पुद्गलपरिणामोंका और पुद्गल कर्मोंके जीवपरिणामोंका कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिक-भावका प्रतिषेध नहीं है। अतः परस्पर निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध द्वारा दोनोका परिणमन होता है। अर्थात् पुद्गलकर्मके विपाककालमें जीव रागादिकरूप परिणमनको प्राप्त होता है

और जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावको प्राप्त होता है।

यही श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रीअमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

> जीवकृत परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
> स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥
> परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
> भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥

अर्थात् जीवकृत रागादिपरिणामको निमित्तमात्र प्राप्तकर अन्य पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूपसे परिणमन करने लगते हैं और अपने चिदात्मक रागादिभावोंरूप परिणमन करने वाले जीवको पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होता है।

क्योंकि जीव और पुद्गलका परस्परमे निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध है। इसलिये मृत्तिका-कलशके समान स्वकीय भावके द्वारा स्वकीयभावके करनेसे जीवनामक जो पदार्थ है वह अपने रागादिक भावोका कर्ता कदाचित् हो सकता है, किन्तु मृत्तिका-वसनकी तरह स्वकीय भावके द्वारा परभावका करना असम्भव है, अतएव पुद्गलभावोका कर्ता कभी भी नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि मृत्तिका जिस तरह वसनरूप पर्यायका कर्ता नहो, इसी तरह जीव भी पुद्गलपरिणामोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका अपने परिणामोके साथ ही कर्तृ-कर्म भाव और भोक्तृ-भोग्यभाव है।

कार्योत्पत्तिकी प्रक्रियामे उपादानकारण और निमित्तकारण ये दो कारण होते हैं। उपादान कारण वह है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है। जैसे घटका उपादान कारण मृत्तिका और निमित्त कारण वह है जौ उपादानकी कार्यानुकूल परिणतिमे सहायक होता है। जैसे घटकी उत्पत्तिमे कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवरादि। यहाँ आचार्यने उपादानकारणकी मुख्यतासे कथन किया है। उपादानकी मुख्यतामे विवक्षा यह है कि जीव और पुद्गल दोनों स्वतन्त्र द्रव्य है। अतः दोनोंका परस्पर एकद्रव्यरूप परिणमन नहीं हो सकता। स्वकीय परिणमनका स्व ही उपादानकारण हो सकता है, ऐसा नियम है। अतः पुद्गलद्रव्यमे जो कर्मरूप परिणमन होता है उसका उपादानकारण पुद्गल ही है। इसी तरह जीवमें जो रागादिकरूप परिणमन है उसका उपादानकारण जीव ही है। जीव और पुद्गलका यह परिणमन सर्वथा परनिरपेक्ष नहीं है क्योंकि यदि सर्वथा परनिरपेक्ष माना जायगा तो अकारणवान् होनेसे उसमें नित्यत्वका प्रसङ्ग आ जावेगा, परन्तु जीवके रागदिक परिणाम और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन नित्य नहीं हैं। जब अनित्य है तब किसी कारणसे ही उनकी उत्पत्ति होना चाहिये। इस स्थितिमें निमित्तकारणकी अपेक्षा आवश्यक रहती है। निमित्तकारण स्वयं कार्यरूप परिणत

नहीं होता। इसलिये विभिन्न द्रव्यके निमित्त बननेमें आपत्ति नहीं है। अतः पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें जीवका रागादिभाव निमित्तकारण है और जीवके रागादिभावरूप परिणमनमें पौद्गलिककर्म निमित्तकारण हैं। उपादानोपादेयभाव एकद्रव्यमें बनता है और निमित्त-नैमित्तिकभाव दो द्रव्योंमें बनता है। यहाँ प्रकरण कर्तृ-कर्मभावका है। परमार्थसे कर्तृकर्म-उन्हींमें बनता है जिनमें व्याप्यव्यापकभाव होता है और चूँकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्यमें हो सकता है। अतः रागादि भावोंका कर्ता जीव ही है, पौद्गलिक कर्म नहीं, और ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं है ॥८०।८१।८२॥

यही दिखाते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो त चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ॥८३॥

अर्थ—निश्चयनयका यह सिद्धान्त है कि आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माको ही भोगता है, यह तू जान॥

विशेषार्थ—जैसे वायुके संचरणका निमित्त पाकर समुद्रकी उत्तरङ्ग अवस्था हो जाती है अर्थात् जब वायुका वेग होता है तब समुद्रमे कल्लोलें उठने लगती हैं और जब वायुका वेग मन्द हो जाता है तब समुद्रकी निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है। अर्थात् वायुके वेगके अभावमें कल्लोलोंका उठना स्वयमेव शान्त हो जाता है। इस तरह वायुके संचरण और असंचरणरूप निमित्तको पाकर यद्यपि समुद्रकी सतरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था होती है तो भी वायु और समुद्रका परस्परमे व्याप्यव्यापकभाव नहीं है। और व्याप्यव्यापकभावके अभावसे कर्तृकर्मभावकी भी असिद्धि है। उस असिद्धिके होनेपर समुद्र स्वय अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओंमे उत्तरङ्ग तथा निस्तरङ्ग अवस्थाओंको व्याप्तकर कभी उत्तरङ्गरूप आत्मा (अपने) को करता है और कभी निस्तरङ्गरूप आत्मा (अपनेको) करता है। इसी तरह आत्मा केवल एक अपने आत्माको करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्यको करता हुआ नहीं।

जैसे वही समुद्र भाव्यभावकभावके अभावसे परभावका परके द्वारा अनुभवन होना अशक्य है, इसीसे उत्तरङ्ग और निस्तरङ्गरूप अपने आत्माका अनुभवन करता हुआ केवल स्वीय आत्माका अनुभव करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्यको आपरूप कदापि अनुभव नहीं करता है। ऐसे ही जब पुद्गलकर्मका विपाक होता है तब आत्माकी संसार-अवस्था होती है और पुद्गलकर्मके विपाकके अभावमें असंसार-अवस्था होती है। ऐसा होनेपर भी पुद्गल कर्म और जीवका व्याप्यव्यापकभाव नहीं है। इसीसे इन दोनोंका परस्परमें कर्तृ-कर्मभाव भी नहीं है। इसके न होनेसे केवल जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक भावसे आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओंमें ससंसार और असंसार अवस्थाओंको व्याप्तकर कभी संसार अवस्थारूप

आत्माको करता है और कभी असंसार अवस्थारूप आत्माको करता है। इस तरह इन दो अवस्थाओंको करता हुआ प्रतिभासमान होता है। इसी तरह यही आत्मा भाव्यभावक-भावके अभावसे, क्योंकि परभावका परके द्वारा अनुभवन होना अशक्य है अतः ससंसार और निःसंसार अवस्थारूप आत्माका अनुभवन करता हुआ एक आत्माका ही अनुभव करने वाला भासमान होता है, अन्यका अनुभवन करनेवाला नहीं ॥८३॥

अब आगे व्यवहारको दिखलाते हैं—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

अर्थ—व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको करता है और फिर उसी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको भोगता है।

विशेषार्थ—जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टीके द्वारा कलश किया जाता है और भाव्यभावकभावसे मृत्तिकाके द्वारा ही अनुभवन किया जाता है। ऐसी व्यवस्था होनेपर भी बाह्य व्याप्यव्यापकभावसे कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करनेवाला और कलश-धृततोयोपयोगसे जायमान तृप्तिको भाव्यभावकभावसे अनुभवन करने वाला जो कुलाल है वह कलशको करता है और उसका अनुभवन भी करता है। इस प्रकार लोगोंका अनादि रूढ व्यवहार चला आ रहा है। ऐसे ही अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञाना-वरणादि कर्म किये जानेपर तथा भाव्यभावकभावसे अनुभूयमान होनेपर भी बाह्य व्याप्य-व्यापकभावके द्वारा अज्ञानभावसे पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल स्वकीय रागादिक परिणामोंको करने वाला और पुद्गलकर्मके विपाकसे संपादित तथा विषयके सान्निध्यसे होनेवाली सुखदुःखात्मक परिणतिको भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभवन करनेवाला जो जीव है वह पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है, ऐसा अज्ञानी जीवोंका आसंसार प्रसिद्ध व्यवहार चला आ रहा है ॥८४॥

अब इस व्यवहारको दूषित करते हैं—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दो-किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥८५॥

अर्थ—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करता है और उसी पुद्गलकर्मको भोगता है तो वह दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है सो यह जिनेन्द्रदेवको अस्वीकृत है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब परिणामलक्षणवाली होनेके कारण परिणामसे भिन्न नहीं हैं और क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तुएँ हैं अतः

परिणाम परिणामीसे भिन्न नहीं है। इस तरह जो भी क्रिया होती है वह सब क्रियावान्से भिन्न नहीं होती। अतएव वस्तुस्थितिके अनुसार क्रिया और कर्तामें अभिन्नता सिद्ध होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जैसे व्याप्यव्यापकभावसे जीव अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसका अनुभवन करता है। यदि ऐसे ही जीव व्याप्यव्यापक-भावसे पुद्गलकर्मको भी करने लगे और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभवन करने लग जाय तो स्व और परमें रहनेवाली दो क्रियाओंमें अभेदका प्रसङ्ग आ जावेगा और उस स्थितिमें स्व तथा परके बीच परस्परका भेद समाप्त हो जानेसे एक आत्मा अनेकरूप हो जायगा तथा एक आत्माका अनेकरूपसे अनुभव करनेवाला आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जावेगा, सो यह सर्वज्ञ भगवान्को अभिमत नहीं है।

यहाँ चर्चा जीव और पुद्गल दो द्रव्योंकी है। जीव चेतनद्रव्य है और पुद्गल जड द्रव्य है। दोनों द्रव्योंकी क्रियाएँ वस्तुमर्यादाके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जीवकी क्रिया जीवमे होती है और पुद्गलकी क्रिया पुद्गलमें होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जीव जीव-परिणामोंका कर्ता है और जीवपरिणामोंका ही भोक्ता है। इसी तरह पुद्गल पुद्गलपरिणामो-का कर्ता है और पुद्गलपरिणामोंका ही भोक्ता है। इस वस्तुस्थितिका उल्लङ्घन कर व्यव-हारनय जीवको पुद्गलकर्मोंका कर्ता और भोक्ता बतलाता है। सो इस निरूपणमे जीवमे दो क्रियाओंका समावेश हो जायगा—एक जीवकी अपनी क्रियाका तथा दूसरी पुद्गलकी क्रियाका। और क्रियाका क्रियावान्से अभेद होता है। इसलिए जीवका उपर्युक्त दोनो क्रियाओके साथ अभेद होनेसे जिस प्रकार उसमें जीवत्व रहता है उसी प्रकार पुद्गलत्व भी रहने लग जायगा। इसलिये जीवद्रव्य जो पहले जीवत्वकी अपेक्षा एकरूप था अब वह पुद्गलका भी कर्त्ता मान लेनेपर पुद्गलरूप होनेके कारण अनेकरूप हो जायगा। और इस विपरीत तत्त्व-व्यवस्थाको माननेवाला मिथ्यादृष्टि हो जायगा। यही कारण है कि सर्वज्ञदेवने इस सिद्धान्त-को अवमत (अस्वीकृत) किया है ॥८५॥

आगे दो-क्रियावादी किस तरह मिथ्यादृष्टि होता है, इसीको गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह्मा दु अत्तभाव पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

अर्थ—जिस कारण जीव आत्मभाव तथा पुद्गलभाव दोनोंको करते हैं, इसलिये दो-क्रियावादी लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं।

विशेषार्थ—क्योंकि दो-क्रियावादी अर्थात् दो क्रियाओंका कर्ता एक होता है, ऐसा कथन करनेवाले लोग आत्माको आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इन दोनोंका करनेवाला मानते हैं, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं, यह सिद्धान्त है। यह कदापि नहीं हो सकता कि एकद्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणाम हो जावे। जैसे कुलाल जब घट बनाता है तब जिस प्रकारका घट

बनना है उसके अनुकूल ही अपने व्यापार व परिणामका कर्ता होता है और उस कुलालका वह परिणाम कुलालसे अभिन्न होता है। तथा उसकी परिणतिरूप जो क्रिया है वह भी उससे भिन्न नहीं है। उस क्रियासे कुलाल घटको करता हुआ प्रतिभासित होता है, किन्तु ऐसा प्रतिभासित नहीं होता कि कुलाल घटका कर्ता है। भले ही वह कुलाल 'मैं घट बनाता हूँ' इस प्रकारके अहंकारसे भरा हो और अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीकी घटरूप परिणतिको कर रहा हो, परन्तु मिट्टीमे जो घटरूप परिणाम हो रहा है वह यथार्थमें मिट्टीसे अभिन्न है तथा मिट्टीसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियाके द्वारा क्रियमाण है। तात्पर्य यह हुआ कि परमार्थसे घटका कर्ता कुलाल नहीं है किन्तु मिट्टी है, कुलाल तो अपने हस्तपादादिकके व्यापारका ही कर्ता है। इसी प्रकार 'आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता है' यहाँ परमार्थसे विचार किया जावे तो आत्मा आत्मपरिणामका ही कर्ता है क्योंकि आत्मा अज्ञानवश पुद्गल-परिणामके अनुकूल जिस व्यापारको करता है वह आत्मासे अभिन्न है और उस परिणतिके होनेमे जो आत्माकी परिणतिमात्र क्रिया हुई उससे भी आत्मा अभिन्न है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोंके अनुकूल आत्मपरिणामको करता हुआ प्रतिभासित होता है। किन्तु ऐसा प्रतिभासित नही होता कि आत्मा पुद्गलपरिणामका कर्ता है, भले ही वह 'मै पुद्गल परिणामको कर रहा हूँ' इस प्रकारके अहकारसे भरा हो तथा अपने परिणामके अनुकूल पुद्गलपरिणामको कर रहा हो, क्योंकि उसका वह व्यापार पुद्गलसे अभिन्न है और जिस परिणतिमात्र क्रियासे वह व्यापार किया जा रहा है वह भी पुद्गलसे अभिन्न है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गलपरिणामका कर्ता पुद्गल है, आत्मा नहीं, आत्मा तो केवल अपने परिणामका कर्ता है। इस तरह जब आत्माको आत्मपरिणामका और पुद्गलको पुद्गलपरि-णामका ही कर्ता मान लिया तब एक द्रव्यमे एक ही क्रिया हुई, दो क्रियाएँ नहीं हुई। परन्तु इसके विपरीत जब यह माना जाता है कि आत्मा, आत्मपरिणाम और पुद्गल परिणाम इन दोनोका कर्ता है तब द्विक्रियावादियोंका मिथ्या सिद्धान्त आता है ॥८६॥

इसी अभिप्रायको श्रीअमृतचन्द्राचार्य निम्नलिखित कलशोंमें प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

य परिणमति स कर्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥५१॥

अर्थ—जो परिणमन करता है वही कर्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है, ये तीनों वास्तवमे भिन्न नहीं हैं। अर्थात् सामान्यदृष्टिसे विचार किया जाये तब तीनों एक ही वस्तु हैं। इनमें भिन्नता नहीं, परन्तु विशेषदृष्टिसे परस्परमें भिन्नता है।

एक परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणति स्यादनेकमप्येक एव यत. ॥५२॥

अर्थ—वस्तु सदा एकाकी परिणमन करती है, जो परिणाम होता है वह सदा एकका

ही होता है, और जो परिणति है वह भी सदा एककी ही होती है क्योंकि वस्तु अनेकरूप होकर भी परमार्थसे एक ही है ॥५२॥

नोभौ परिणमत खलु परिणामो नोभयो प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणति स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

अर्थ—निश्चयसे दो द्रव्य एकरूप परिणमन नहीं करते, दो द्रव्योंका एकरूप परिणाम नहीं होता और दो द्रव्योंकी एक परिणति नहीं होती, क्योंकि जो अनेक है वे सदा अनेक ही रहते हैं ॥५३॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेक यतो न स्यात् ॥५४॥

अर्थ—एक कर्मके दो कर्ता नहीं होते, एक कर्ताके दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वार ननु मोहिनामिह महाहकाररूप तम ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलय यद्येकवार व्रजेत्
तर्कि ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मन ॥५५॥

अर्थ—अहो, निश्चयसे इस ससारमे मोही जीवोके जबसे संसार है तभीसे 'मै पर-द्रव्यका कर्ता हूँ' ऐसा बहुत भारी दुर्निवार महान् अहकाररूपी अन्धकार चला आ रहा है। सो वह अन्धकार वास्तविक अर्थके ग्रहण करनेसे यदि एकबार भी विलयको प्राप्त हो जावे तो फिर ज्ञानघन आत्माका बन्धन क्या हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ—ससारमें अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपने आपको परका कर्ता मानकर कर्मोंका बन्ध कर रहा है। अपने आपको परका कर्ता मानना ही मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व-ही कर्मबन्धका प्रमुख कारण है। यहाँ मिथ्यात्वको दुर्निवार अन्धकारका रूपक दिया गया है। वस्तुका परमार्थ स्वरूप समझनेसे वह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार यदि एकबार भी नष्ट हो जाता है तो फिर यह जीव अनन्त संसार तक बन्धनका पात्र नहीं रह सकता, क्योंकि मिथ्यात्वका क्षय कर सम्यक्त्वकी प्राप्ति उसी जीवको होती है जिसका संसारका काल अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र रह गया हो।

अनुष्टुप्छन्द

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा पर ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावा परस्य पर एव ते ॥५६॥

अर्थ—आत्मा सदा आत्मभावोको ही करता है और परद्रव्य परभावोंको ही करता है, आत्माके भाव आत्मा ही हैं और परके भाव पर ही है।

भावार्थ—'ससारका प्रत्येक द्रव्य सदा अपने-अपने भावोका कर्ता है' इस सिद्धान्तसे आत्मा आत्माके ही भावोका कर्ता है और आत्माके अतिरिक्त जो परद्रव्य है वे अपने भावोके कर्ता है। भाव और भाववानमे परमार्थसे कोई भेद नहीं है, इसलिये आत्माके जो भाव है वे आत्मा ही हैं और परके जो भाव है वे पर ही है ॥५६॥

आगे मिथ्यात्व आदि भावोकी द्विविधरूपताका वर्णन करते है—

मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीवं तहेव अण्णाण ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

अर्थ—जो पहले मिथ्यात्व कहा गया है वह जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है, उसी प्रकार अज्ञान जो है वह भी जीव व अजीवके भेदसे दो प्रकारका है। इसी तरह अविरति, योग, मोह और क्रोधादिक जो भाव है वे सब जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके है।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव है वे सब भाव मयूर और मुकुरुन्द (दर्पण) के सदृश जीव और अजीव दोनोंके द्वारा भाव्यमान होनेसे जीव और अजीव दोनो ही स्वरूप हैं। मयूर और दर्पणके दृष्टान्तको व्यक्तरूपसे दिखलाते हैं—जैसे नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक जो रूपगुणके विकार हैं वे मयूररूप पुद्गलद्रव्य (शरीरके) द्वारा भाव्यमान होनेसे मयूर है क्योंकि उन नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक विकारोका अस्तित्व मयूरसे अतिरिक्त नही पाया जाता, अतः वे सब मयूर ही है, और जो मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पणमे पडता है वह दर्पणकी ऐसी स्वच्छता है कि जिससे वह मयूर दर्पणमे भासमान हो रहा है। यहाँपर वास्तवमे दर्पणमे मयूरका अस्तित्व नही है किन्तु एक ऐसा विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यदि कोई प्रतिबन्धक न हो तो मयूर निमित्तको पाकर दर्पणकी स्वच्छतामे मयूर कैसा आकार प्रतिभासमान होता है। वहाँपर जो नील, कृष्ण, हरित, पीतादिभावरूप परिणमन हो रहा है वह दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। जिस प्रकार दर्पणके द्वारा भाव्यमान होनेसे नील कृष्ण हरित पीतादिभाव दर्पण ही है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे पुद्गलद्रव्यके द्वारा भाव्यमान होनेसे अजीव ही हैं। तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव जीवमे विकाररूपसे होते है वे जीवके द्वारा भाव्यमान होनेसे जीव ही है। यहाँपर यह जानने योग्य है कि जो मिथ्यात्व आदि मोहनीयकर्मकी प्रकृतियाँ है वे तो अजीवरूप है और इनके विपाककालमे जो अतत्त्वश्रद्धादिरूप मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं वे जीव है ॥८७॥

आगे इन मिथ्यात्वादिक भावोमे जीव कौन है ? और अजीव कौन है ? इसका उत्तर देते हैं—

पुग्गलकम्म मिच्छ जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छ च जीवो दु ॥८८॥

अर्थ—पुद्गलकर्मरूप जा मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान है वे तो अजीव हैं और उपयोगरूप अर्थात् भावरूप जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व तथा याग हे वे जीव है ॥

विशेषार्थ—जो निश्चयकर मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव है वे सब अमूर्तिक चैतन्यपरिणामसे भिन्न मूर्तिकद्रव्यरूप पुद्गलकर्म है और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव है वे सब मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्यपरिणामके विकार हे। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वप्रकृति, मन-वचन-कायरूप द्रव्ययाग, अविरतिमे कारणभूत अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहकी प्रकृतियाँ तथा ज्ञानको कुज्ञान बनाने वाली मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ अथवा मतिज्ञानावरणादि ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ ये सब अजाव हे क्योकि पौद्गलिककर्म है। और इन उपर्युक्त प्रकृतियाके विपाककालमे जायमान जा विपरीताभिनिवेश अथवा अतत्त्वश्रद्धानरूप श्रद्धागुणकी विपरीतपरिणति, आत्मप्रदेशनमे प्रकम्पनकी शक्तिरूप भावयोग, अविरतिरूप चारित्रगुणकी विपरीतपरिणति तथा मतिज्ञानादि गुणोकी अज्ञानरूप विपरीतपरिणति है वह सब जीव है क्योंकि उपयोगस्वरूप हानेसे वे जीवकी ही विशिष्ट परिणतियाँ हे ॥८८॥

अब मिथ्यादर्शनादि भाव चैतन्यपरिणामके विकार कैसे हैं ? यही दिखाते है—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्त अण्णाण अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

अर्थ—मोहयुक्त उपयोगके अनादिसे तीन तरहके परिणाम हाते है। वे परिणाम मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप जानने योग्य हैं ॥

विशेषार्थ—तात्त्विकदृष्टिसे देखा जावे तो सर्व ही पदार्थ स्वकीय-स्वकीय परिणामरूप परिणमनेमे समर्थ हैं। यह सब पदार्थोंका वास्तविक स्वभाव-सामर्थ्य है, कोई स्वकीय परिणमनमे उपादानरूपसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है। उपयोगमे स्वभावसे समस्त वस्तुओंके आकार परिणमनेकी सामर्थ्य है। अतएव उसके साथ अनादिकालसे वस्त्वन्तरभूत जो मोहका सम्बन्ध है उसके निमित्तसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अविरतिरूप तीन तरहका उस उपयोगका विकाररूप परिणमन हो जाता है और यह बात अलीक नहीं, क्योंकि

ऐसा होना देखा गया है—जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है किन्तु निमित्त पाकर उसकी स्वच्छता विकृतरूप हो जाती है, यही दिखाते हैं—

स्फटिककी स्वच्छता अपने स्वरूपरूप परिणमनमे सर्वदा सामर्थ्यशालिनी है। किन्तु जब उसके साथ नील हरित-पीत-तमाल-कदली-काञ्चनपात्रकी उपाधिका सम्बन्ध हो जाता है तब उसके तीन तरहके नील-हरित-पीतविकाररूप परिणमन हो जाते है, यह सबके दृष्टि-गोचर कथा है। इसी तरह उपयोगका वस्त्वन्तरभूत मोहके साथ सम्बन्ध होनेसे मिथ्या-दर्शन, अज्ञान और अविरतरूप तीन तरहका परिणामविकार देखा जाता है। इसका आशय यह है कि जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है, परन्तु उस स्फटिकमणिको जिस रङ्गकी डांक लगाई जाती है उसी तरहका उसका परिणाम हो जाता है। इसी प्रकार आत्माका जो उपयोग है वह स्वच्छ है परन्तु जब उसके साथ मिथ्यादर्शनादि उपाधिका सन्बन्ध रहता है तब वह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है ॥८९॥

आगे आत्मामे तीन प्रकारके परिणामोका कर्त्तृत्व है, यही दिखाते हैं—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

अर्थ—यद्यपि उपयोग आत्माका शुद्ध-निरञ्जन भाव है तो भी इन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप निमित्तोंके सद्भावमे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका हो जाता है। वह उपयोग जिस भावको करता है उसका वह कर्ता होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि यह उपयोग परमार्थसे शुद्ध-निरञ्जन-अनादिनिधन-वस्तु जो आत्मा सो सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावके कारण एक प्रकारका है तो भी अनादि-वस्त्वन्तर भूत अर्थात् अनादिकालसे साथमे लगे हुए पृथक् वस्तुस्वरूप मोहकर्मसे युक्त होनेके कारण आत्मामे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप तीन प्रकारके परिणामविकार प्रकट हो रहे है उनका निमित्त पाकर अशुद्ध, साञ्जन और अनेकताको प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार-का हो रहा है। यही तीन प्रकारका उपयोग स्वयं अज्ञानरूप परिणम कर कर्त्तृत्वको प्राप्त होता है और विकाररूप परिणमकर आत्माके जिस-जिस भावको करता है उस उस भावका कर्ता होता है।

उपयोग आत्माका गुण है और गुण, गुणीसे पृथक् नहीं रहता, अतः उपयोगको कर्ता कहनेसे आत्मामे कर्तृत्व आ जाता है। पहले निमित्तकी मुख्यतासे यह कहा गया था कि आत्मामे जो मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव हैं उनका कर्ता पुद्गलद्रव्य है। यहाँ उपादान की मुख्यतासे कहा गया है कि इनका कर्ता आत्मा है क्योंकि ये मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव परनिमित्तसे जायमान आत्माकी ही अशुद्ध परिणतिरूप है ॥९०॥

इस तरह जब आत्मा मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन तीन प्रकारके विकारी परिणामोंका कर्ता होता है तब उसका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मभावको प्राप्त हो जाता है, यही दिखाते है—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥

अर्थ—आत्मा जिस भावको करता है उस भावका वह कर्ता होता है और उसके होनेपर पुद्गलद्रव्य स्वय कर्मरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ—आत्मा स्वय ही उस प्रकारके परिणमनसे जिस भावको करता है मन्त्र-साधक पुरुषकी तरह वह उस भावका कर्ता होता है और उस भावके निमित्त होनेपर पुद्गलद्रव्य स्वयं ही ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। यही दिखाते है—जिस प्रकार मन्त्रका साधनेवाला उस प्रकारके ध्यानभावसे स्वय परिणमन करता हुआ ध्यानका कर्ता होता है और उस ध्यानभावके सम्पूर्ण साध्यभावकी अनुकूलताके कारण निमित्तमात्र होनेपर अन्य किसी—साधक कर्ताके विना ही सर्पादिकके विषका प्रसार स्वयमेव दूर हो जाता है, स्त्रियाँ विडम्बनाको प्राप्त हो जाती है तथा बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे मिथ्यादर्शनादिरूप स्वय परिणमन करता हुआ मिथ्या-दर्शनादिभावका कर्ता होता है और उस मिथ्यादर्शनादिभावके अपनी अनुकूलताके कारण निमित्तमात्र होनेपर आत्मारूप कर्ताके विना पुद्गलद्रव्य स्वय ही मोहनीय आदि कर्मरूप परिणम जाता है।

आत्मामे वैभाविक शक्ति होनेके कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अतः अन्तरङ्गमे उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमे पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्मके विपाकसे इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुदगलद्रव्यमे भी वैभाविक शक्ति होनेके कारण कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अतः अन्तरङ्गमे उस योग्यतासे तथा बहिरङ्गमे जीवके मिथ्यादर्शनादि विभावभावके निमित्तसे पुद्गल-द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ आत्मा और पुद्गल दोनोमे विद्यमान वैभाविकशक्तिसे जायमान योग्यताका लक्ष्यमे रखकर कथन करते हुए कहा गया है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वय करता है और पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वय करता है। जब आत्मा और पुद्गलकी उस योग्यताको गौणकर बहिरङ्ग निमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है तब कहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गलके निमित्तसे आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमनके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ मन्त्रसाधकके दृष्टान्तसे भी यही बात प्रकट की गई है, क्योकि मन्त्र सिद्ध करने वाला पुरुष ध्यानविषयक योग्यताको

स्वय रखता है, उस योग्यतासे ही वह ध्यानरूप परिणमन करता हुआ ध्यानका कर्ता कहलाता है उधर सर्पादिकके विषमे दूर होनेकी योग्यता स्वय है। अतः जब मन्त्र-साधक और सर्पादिकके विष, दोनोंकी अपनी-अपनी योग्यताओंको लक्ष्यमे रखकर कथन होता है तब कहा जाता है कि मन्त्रसाधक स्वय ध्यानरूप परिणमन करता है और सर्पादिकका विष स्वय दूर होता है। परन्तु जब उनकी उस योग्यताको गौणकर बाह्य निमित्त-की प्रधानतासे कथन होता है तब कहा जाता है कि अमुक मन्त्रसाधकके ध्यानके प्रभावसे सर्पका विष दूर हो गया, अमुक व्यक्तिके वशीकरण मन्त्रसे स्त्रियां विडम्बनाको प्राप्त हो गई तथा अमुक व्यक्तिकी मन्त्रसाधनाकी महिमासे बन्धन खुल गये। यहाँ एक बात ध्यानमे रखनेकी और है कि बहिरङ्ग निमित्त, साध्यभावकी अनुकूलतासे ही निमित्तपनको प्राप्त होता है क्योंकि साध्यभावकी अनुकूलताके विना केवल निमित्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती ॥ ९१ ॥

अब यह बात कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म होते हैं—

परमप्पाण कुव्व अप्पाण पि य पर करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माण कारगो होदि ॥ ९२ ॥

अर्थ—अज्ञानमय जीव परको अपना और आपको पर करता हुआ कर्मोंका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह आत्मा अज्ञानभावके द्वारा पर और आत्माका भेदज्ञान नही कर सकता है और भेदज्ञानके अभावमे परको तो अपना करता है और अपनेको पररूप करता है, अतः स्वय अज्ञानमय होता हुआ कर्मोका कर्ता प्रतिभासमान होता है। यहाँ 'प्रतिभाति' क्रिया देनेका यह तात्पर्य है कि परमार्थसे कर्ता तो नही है किन्तु भासमान होता है। उसीको स्पष्ट रूपसे दिखाते है—राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि पुद्गलपरिणामकी अवस्थाएँ है और ये अवस्थाएँ 'मै रागी हूँ, द्वेषी हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इस प्रकारके अनुभव करानेमे समर्थ है। परन्तु जैसे शीत, उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्थाएँ है और वे शीत, उष्णके अनुभव करानेमे समर्थ है तथा पुद्गलसे अभिन्न है वैसे ही ये राग, द्वेष, सुख, दुःखादि अवस्थाएँ भी पुद्गलसे अभिन्न है और इस अवस्थाके निमित्तसे जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मासे अभिन्न तथा पुद्गलसे नित्य ही भिन्न है किन्तु इस अनुभवका और रागादिरूप अवस्थाका अज्ञानसे परस्पर भेदज्ञान न होने पर दोनोमे एकत्वका अध्यास हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा शीत, उष्णरूप परिणमन करनेमे असमर्थ है उसी प्रकार परमार्थसे अज्ञानमय राग, द्वेष, सुख, दुःखादिरूप भी परिणमन करनेमें असमर्थ है। परन्तु ऊपर कहे हुए एकत्वके अध्याससे यह आत्मा राग, द्वेष, सुख, दुःखादिरूप अज्ञानमयभावसे परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान-की अज्ञानताको प्रकट करता है तथा स्वय अज्ञानमय होता है और 'यह जो मैं हूँ सो राग करता हूँ' इत्यादि विधिसे ज्ञानसे विरुद्ध रागादि कर्मका कर्ता प्रतिभासमान होता है।

तत्त्वदृष्टिसे देखा जावे तो पुद्गलकर्मके विपाकसे आत्माका जो चारित्रगुण है वह रागादिरूप परिणम जाता है उस कालमे आत्माका जो ज्ञानात्मक उपयोग है वह इन भावोको अपनेमे देखता है। ज्ञानकी ऐसी स्वच्छता है कि जो वस्तु उसके समक्ष आती है उसे जानता है। यदि केवल जानना रहता तो आत्माकी कुछ हानि न थी, परन्तु उनरूप अपनेको मानने लगता है। वास्तवमें ज्ञान और ज्ञेय एकरूप कदापि नहीं होते, परन्तु अज्ञानमे यह बात नही बनती। यही कारण है कि अज्ञानी जीव रज्जुमे सर्पभ्रान्तिके द्वारा भयभीत होकर उस स्थानसे पलायमान होनेकी चेष्टा करते है। यद्यपि वस्तुस्वरूप कभी नही बदलता, परन्तु अज्ञानमे भासमान होता है। इसीसे अज्ञानी जीव सर्वदा दुःखी और असतुष्टरूप रहता है। अतः सिद्ध हुआ कि अज्ञानसे ही कर्मोंका आविर्भाव होता है, ज्ञानसे नही ॥९२॥

आगे ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता, यह कहते है—

परमप्पाणमकुव्व अप्पाण पि य पर अकुव्वतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो जीव अपनी आत्माको पररूप नहीं करता है और परपदार्थको अपने आत्मस्वरूप नहीं करता है वही जीव ज्ञानमय है तथा कर्मोंका अकर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह आत्मा ज्ञानसे पर और आत्माके भेदको जानता है। ऐसा भेदज्ञान जिस आत्मामें हो जाता है वह परको आत्मरूप नही करता और आत्माको पररूप नही करता। ऐसी व्यवस्थाके सद्भावमे स्वयमेव ज्ञानी हुआ कर्मोंका कर्ता नही होता है। यही दिखाते है—

जैसे शीतोष्ण पुद्गलका अवस्थाविशेष है और यह अवस्था शीतोष्णरूप ज्ञानके सम्पादनमें समर्थ है, किन्तु इसकी अभिन्नता पुद्गलके साथ ही है। ऐसे ही राग, द्वेष, सुख, दुःख भी पुद्गलकी अवस्थाएँ है क्योकि रागद्वेषात्मक जो मोहकर्म है उसके उदयसे ही इनका आविर्भाव होता है। यह रागादिरूप अवस्था रागादिके ज्ञान करानेमे समर्थ है फिर भी पुद्गलसे अभिन्न है और आत्मासे तो नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। किन्तु इसके निमित्तसे जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मासे अभिन्न है और पुद्गलसे नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। अतएव जिनके सम्यग्ज्ञान है वे इस अनुभव और राग, द्वेषादिका पृथक्-पृथक् स्वरूप जानते है। इस सम्यग्ज्ञानसे अनुभव और रागादिकमे नानात्वका विवेक हो जाता है अर्थात् दोनों जुदे-जुदे है, यह ज्ञान हो जाता है। इस नानात्वके विवेकसे, जिस प्रकार आत्मा शीतोष्णरूप परिणमन करनेमे अशक्य है उसी तरह राग, द्वेष, सुख, दुःखरूप अज्ञानमय भावसे भी परिणमन करनेमें अशक्य है। अतः तद्रूप किञ्चिन्मात्रका परिणमन न करता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञानके ज्ञानपनको प्रकट करता है और स्वय ज्ञानमय होता हुआ ऐसी श्रद्धा करता है कि 'यह जो मैं हूँ सो जानता ही हूँ रागादिरूप परिणमन तो पुद्गल

करता है' इत्यादि विधिसे वह आत्मा अज्ञानस्वरूप जो रागादिक कर्म हैं उन सभीका अकर्ता होता है।

रागादिरूप अवस्था और रागादि अवस्थाका अनुभव ज्ञानमें दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। यद्यपि दोनों ही आत्मामें भासमान हो रही है फिर भी रागादिरूप अवस्था पौद्गलिक कर्मके निमित्तसे उत्पद्यमान होनेके कारण आत्माकी न कही जाकर पुद्गलकी कही जाती है। जैसे शीतोष्णरूप अवस्थाका पुद्गलके साथ अभेदभाव है। ऐसे ही रागादि अवस्थाका भी निमित्तकारणकी प्रधानतामे पुद्गलसे अभेदभाव है। परन्तु रागादिरूप अवस्थाका जो अनुभव—ज्ञान होता है वह परसे जायमान नहीं है क्योंकि ज्ञान, आत्माका गुण है, उसका अविर्भाव आत्मासे ही होता है परसे नहीं, अतः ज्ञान आत्मासे अभिन्न और पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। अज्ञानी जीवको इस प्रकारका भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भावसे परिणमन करता हुआ अपने ज्ञानको अज्ञानरूप प्रकट करता है और उस अज्ञानकी महिमासे अपने आपका रागादि कर्मोंका कर्ता बताता है, परन्तु ज्ञानी जीवका उक्त भेद-ज्ञान हो जाता है। इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भावसे कुछ भी परिणमन नही करता हुआ अपने ज्ञानका ज्ञानरूप ही प्रकट करता है और उस ज्ञानकी महिमासे वह समझता है कि मेरा काम तो केवल जानना है, रागादिरूप परिणमन करना नहीं, रागादिरूप परिणमन करना पुद्गलका काम है। इस तरहकी श्रद्धासे वह रागादि कर्मोंका कर्ता नही होता है ॥९३॥

आगे अज्ञानसे किस प्रकार कर्म होते है, यही दिखाते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्प करेइ कोहो ह ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

अर्थ—यह तीन प्रकारका उपयोग जब आत्मामें ऐसा विकल्प करता है कि 'मै क्रोध हूँ' तब वह आत्मभावरूप उस उपयोगका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—यह जो आत्माका सविकार चैतन्य परिणाम है वह सामान्यसे तो एक अज्ञानरूप है और विशेषसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका है। जिस कालमे पर और आत्माका न तो विशेष दर्शन होता है, न विशेषज्ञान होता है और न विशेष विरति होती है उस कालमे समस्त भेदोका अपलाप कर भाव्यभावकभावको प्राप्त चेतन-अचेतन पदार्थोंका समानाधिकरणरूपसे अनुभव होने लगता है। उस अनुभवके प्रभावसे आत्मामें ऐसा विकल्प उठता है कि मै क्रोध हूँ। इस विकल्पसे यह आत्मा भ्रान्तिके द्वारा 'मैं क्रोध हूँ' इस प्रकार चैतन्यपरिणामके द्वारा परिणमन करता हुआ उस विकारी चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है। इसी तरह 'क्रोध' पदको परिवर्तित कर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोंकी व्याख्या कर लेनी चाहिये। इसी प्रक्रियासे अन्य तत्त्व भी ऊहापोह करनेके योग्य है।

उपयोग आत्माका गुण है, और गुण गुणीसे अभिन्न रहता है, अतः यहाँ उपयोग शब्दसे आत्माका बोध होता है। आत्माका अज्ञानरूप विकारी-परिणमन सामान्यसे यद्यपि एक प्रकारका है तो भी विशेषकी अपेक्षा वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका हो रहा है। यह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन आत्माका निजका स्वभावरूप परिणमन नहीं है, किन्तु परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण विकारी परिणमन है। इस विकारी परिणमनके प्रभावसे आत्माको पर तथा आत्माका भेदज्ञान नहीं हो पाता है। इस भेदज्ञानके अभावमें वह भाव्यभावकभावको प्राप्त जो चेतन-अचेतन पदार्थ है उनका एकरूपसे अर्थात् चेतनरूपसे ही अनुभव करता है। क्रोधादिरूप परिणत आत्मा भाव्य है और उसमें कारणभूत भावक्रोध भावक है, यहाँ भाव्य अर्थात् आत्मा तो चेतन है और भावक अर्थात् भावक्रोध अचेतनके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण अचेतन है। आत्मामें जो क्रोधरूप परिणति हो रही है उसमें आत्मा तो चेतन है और क्रोध अचेतन है। इस तरह इन दोनोंमें स्पष्ट भेद है। परन्तु अज्ञानी आत्माको इनमें भेदका अनुभव नहीं होता और उसके न होनेसे वह ऐसा विकल्प करने लगता है कि 'मैं क्रोध हूँ'। इस विकल्पकी महिमासे आत्मा अपने विकारी परिणामका कर्ता होता है और वह विकारी परिणाम उसका कर्म होता है। इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे ही कर्मका प्रादुर्भाव है ॥ ९४ ॥

इस तरह भाव्य-भावकविषयक भेदके अज्ञानसे कर्मका प्रादुर्भाव दिखलाकर अब ज्ञेय-ज्ञायकभावविषयक भेदके अज्ञानसे कर्मका प्रादुर्भाव दिखलाते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

अर्थ—यह तीन प्रकारका उपयोग आत्मामें जब ऐसा विकल्प करता है कि 'मैं धर्मादिक द्रव्यरूप हूँ' तब वह आत्म-परिणामरूप उस उपयोगका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे आत्माका यह जो विकारसहित चैतन्यपरिणाम है वह सामान्यसे एक अज्ञानरूप है और विशेषसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका है। जब इन परिणामोंका उदय रहता है तब पर और आत्माका न तो विशेषरूपसे अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रद्धान होता है, न विशेष रूपसे ज्ञान होता है और न विशेषरूपसे आत्मा परपदार्थोंसे विरत रहता है। इसीसे समस्त स्व और परके भेदका अपलापकर ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्धसे पर और आत्माका तादात्म्यरूपसे अनुभवकर कभी तो यह विकल्प करता है कि मैं धर्म हूँ, कभी अधर्म हूँ, कभी आकाश हूँ, कभी काल हूँ, कभी पुद्गल हूँ अथवा जीवान्तर हूँ अर्थात् जो वस्तु ज्ञानमें आती है उसी रूप अपनेको मानने लगता है और उसी तरहका विकल्प आत्मामें उत्पन्न करता है। इसीसे यह आत्मा मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, अथवा मैं अन्य

जीव स्वरूप हूँ इस प्रकार भ्रान्तिज्ञानके द्वारा उपाधिसहित चैतन्य परिणाम (सविकार चैतन्य)रूप परिणमता हुआ उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है। इससे यह स्थित हुआ कि कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है।

आत्मा ज्ञायक है और उसके सिवाय जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल तथा अन्य जीव द्रव्य हैं वे ज्ञेय है। जिस प्रकार स्वच्छताके कारण दर्पणमे घटपटादि पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पडते है उसी प्रकार ज्ञायक जो आत्मा उसकी स्वच्छताके कारण उसमे धर्म, अधर्म आदि ज्ञेयोका प्रतिबिम्ब पडता है अर्थात् आत्मामे उनका विकल्प आता है। परमार्थसे ज्ञायक (आत्मा) और उसमे पड़े हुए ज्ञयों (धर्माधर्मादि द्रव्यों)के विकल्प भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु अज्ञानसे यह जीव दोनोमे एकत्व बुद्धिकर ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ इत्यादि। इस तरह परद्रव्यरूप ज्ञेयोंमे आत्मबुद्धिरूप अज्ञानसे यह जीव कर्मोंका कर्ता होता है ॥९५॥

अब अज्ञानसे आत्मा कर्ता होता है, इसका उपसहार करते हैं—

एव पराणि दव्वाणि अप्पय कुणदि मदबुद्धीओ।
अप्पाण अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

अर्थ—इस प्रकार मन्दबुद्धि अर्थात् अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे परद्रव्योको आत्मरूप करता है और आत्माको भी परद्रव्यरूप करता है॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार यह आत्मा 'मैं क्रोध हूँ'[१] इत्यादिके समान और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ'[२] इत्यादिके समान परद्रव्योको अपना करता है उसी प्रकार आत्माको भी परद्रव्यरूप करता है। यद्यपि यह आत्मा अशेष वस्तुओके सम्बन्धसे रहित विशुद्ध चैतन्यमय धातुका पिण्ड है तो भी स्वकीय अज्ञानभावसे ही सविकार और उपाधिसहित चैतन्यपरिणामके द्वारा उस प्रकारके आत्मभावका कर्ता प्रतिभासित होता है। इसीसे आत्माके भूताविष्ट व ध्यानाविष्ट पुरुषके सदृश कर्तृत्वका मूल कारण जो अज्ञानभाव है वह प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है यह सिद्ध होता है। यही बात दिखाते हैं—

जैसे निश्चयकर जिस समय किसीके शिरपर भूत सवार हो जाता है उस समय वह प्राणी, भूत और आत्माको एक मानने लगता है और जो मनुष्योंके करने योग्य नहीं है ऐसे व्यापार करने लगता है। वे व्यापार अत्यन्त भयकर और विशिष्ट व्यापार साध्य है, अत्यन्त गम्भीर है, वास्तवमे मनुष्य उन व्यापारोंको नहीं कर सकता है। पर भूताविष्ट मनुष्य उन व्यापारोंका अपने आपको कर्ता मानता है। ऐसे ही यह आत्मा भी अज्ञानसे भाव्यभावकरूप

१ भाव्यभावकभावके भेदाज्ञानसे।
२ ज्ञेयज्ञायकभावके भेदाज्ञानसे।

पर और आत्मा इन दोनोंको एक करता हुआ अविकार अनुभूतिरूप भावकभावके अयोग्य विचित्र भावरूप क्रोधादि विकारोंसे मिले हुए चैतन्य परिणामके विकारपनमे जो उस प्रकारके भाव होते है उनका कर्ता होता है। यह भाव्यभावकभावकी अपेक्षा दृष्टान्त है। अब ज्ञेयज्ञायक-भावकी अपेक्षा दूसरा दृष्टान्त देते हैं — जैसे कोई भोला मनुष्य अपरीक्षक आचार्यके आदेशसे महिषका ध्यान करने लगा और अज्ञानसे ध्यानके कालमे महिष तथा अपने आपका एक मानने लगा और ऐसा माननेके बाद आकाश पर्यन्त जिसके शृङ्ग है ऐसे महिषका आत्मामे अध्यास होनेसे जो कुटियाका द्वार था उसमे निकलनेसे रह गया, क्योंकि कुटियाका द्वार तो मनुष्यके निकलनेके योग्य था और यह मनुष्य अपने आपको आकाशपर्यन्त सीगवाला महिष मानने लगा तब द्वारसे बाहर किस प्रकार हो ? यहाँ वह ध्यान करनेवाला पुरुष जिस तरह महिष और अपने आपमे एकत्वका अध्यास करता हुआ अपने आपको महिष मानने लगता है। उस समय वह उस भावका कर्ता होता है। इसी तरह यह आत्मा अज्ञानसे ज्ञेय और ज्ञायक इन दोनोको एक करता हुआ अपने आत्मामे परद्रव्यका अध्यास होनेसे नोइन्द्रियके विषयीभूत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवान्तरके द्वारा चेतन्यधातुके विरुद्ध होने (ज्ञान न होने) तथा इन्द्रियोंके विषय किये हुए रूपी पदार्थोंके द्वारा केवल बोधके तिरोहित होनेसे मृतक कलेवरकी तरह मूर्च्छित परमामृत विज्ञानघनपन कर उस प्रकारके भावका कर्ता होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मामे क्रोधादिक भाव होते है यद्यपि वे विकारी है क्योकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंके निमित्तसे जायमान है, आत्माका अहित करनेवाले है तथा इन्हींके द्वारा आत्मा अनन्त ससारका पात्र बनता है फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हे निज भाव मानता है। ऐसे ही जो धर्मादिक द्रव्य है वे ज्ञानमे प्रतिभास-मान होते है क्योकि ज्ञान एक ऐसी निर्मल शक्ति है कि जो पदार्थ उसके समक्ष आवे उसे अपनेमे प्रतिभासित करने लगता है। यद्यपि ज्ञान तद्रूप नहीं हो जाता तो भी अज्ञानी जीव उन्हे अपने समझ अनन्त ससारका पात्र बनकर चतुर्गतियोमे परिभ्रमण करता है। इससे यह सिद्धान्त निकला कि ज्ञानसे ही कर्तृपनका नाश होता है ॥९६॥

आगे यही कहते है—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एव खलु जो जाणदि सो मुचदि सव्वकत्तित्त ॥ ९७ ॥

अर्थ—इस पर और आत्मद्रव्यके एकत्वाध्याससे आत्मा कर्ता होता है ऐसा निश्चय-के जाननेवालोंने कहा है, निश्चयसे जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी निखिल कर्तृपनको त्यागता है।

विशेषार्थ—जिस हेतुसे यह आत्मा अपने आपमें पर और आत्माके एकत्वका संकल्प करता है, उसी हेतुसे यह अज्ञानी आत्मा निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है और जो

आत्मा इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कर्तृपनको त्याग देता है। इसीसे निश्चय कर वह आत्मा अकर्ता होता है। यही दिखाते हैं—

इस ससारमे निश्चयसे जब यह आत्मा अज्ञानी हो जाता है तब इसकी भेदसंवेदन-की शक्ति अर्थात् समस्त पदार्थोंको पृथक्-पृथक् जाननेकी सामर्थ्य तिरोहित हो जाती है, अतः उस कालमे ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लेता है, अनादिसे इसकी यही अवस्था हो रही है। इसीसे यह पर और आत्माको एकरूप जानता है और इसी मिश्रित ज्ञानसे 'मै क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्प करता है। उन विकल्पोकी महिमासे निर्विकल्प, अकृतक तथा एकस्वरूप जो विज्ञानघन है उससे भ्रष्ट होकर बारम्बार अनेक विकल्पों द्वारा परिणमन करता हुआ अपनेको उनका कर्ता समझता है। और जो ज्ञानी है वह ज्ञानस्वरूप अपने आपको करता हुआ ज्ञानकी महिमासे सर्वप्रथम प्रकट होनेवाले ज्ञेय और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्वादसे अपनी भेदसवेदनकी शक्तिको प्रकट करनेवाला होता है। उस समय इसे ऐसा भान होता है कि यह आत्मा तो अनादिनिधन, निरन्तर स्वादमे आनेवाले तथा अन्य समस्त रसोसे भिन्न अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरससे परिपूर्ण है और ये कषाय भिन्न रसवाले है क्योंकि वे सादि-सान्त, अनित्य, आकुलता तथा अशुचि आदि स्वरूप है। उन कषायोके साथ जो आत्माके एकत्वका विकल्प हो रहा है वह अज्ञानसे ही हो रहा है। इस प्रकारके भानसे वह, आत्मा और कषायोको भिन्न-भिन्न रूपसे जानता है। इसी कारणसे अकृतक (स्वभाव-जनित) एक ज्ञानस्वरूप ही मै हूँ, कृतक (परनिमित्तजनित) अनेक, क्रोधादि स्वरूप मैं नही हूँ इस प्रकारके भेदज्ञानके होनेसे 'मैं क्रोध हूँ' यह विकल्प किञ्चित् भी आत्माके नहीं होता है। इसीसे ज्ञानी आत्मा सम्पूर्ण कर्तृभावको त्याग देता है, इसीसे नित्य ही उदासीन अवस्थाको धारणकर केवल जानता हुआ ही स्थिर रहता है और इसीसे निर्विकल्पक, अकृतक, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासता है।

जबतक अज्ञानसे परद्रव्योको अपना मानता था तबतक उनका कर्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञानके होनेपर जब परको पर और अपनेको अपना मानने लगा तब आपसे आप अकर्ता हो गया ॥९७॥

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशोंके द्वारा प्रकट करते है—

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञान स्वय किल भवन्नपि रज्यते य ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥५८॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ भी अज्ञानसे तृणसहित सुन्दर आहारको

खानेवाले हाथी आदिके समान राग करता है वह निश्चित ही रसाला (श्रीखण्डको) पीकर दही और इक्षुरसके खट्टे-मीठे स्वादकी गृद्धतासे दूधकी तरह गायसे रसालाको दुहता है।

भावार्थ—जैसे हस्ती अज्ञानसे तृणसहित सुन्दर अन्नादिक आहारोंको एकमेक जानकर भक्षण करता है। ऐसे ही आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है परन्तु मोहसे परपदार्थोंमें रक्त हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य शिखरिणीको पीकर उसके खट्टे-मीठे स्वादको न जानकर उसकी इच्छासे गायको दोहन करता है। शिखरिणीमें जो स्वाद आ रहा है वह तो दधि और शर्कराके सम्बन्धसे विजातीय रसका स्वाद है। उस स्वादका लोभी उसे न जानकर शिखरिणी पानेके लिए गायको दुहता है। भला, विचारकर देखो, क्या केवल दुग्धमे वह स्वाद है ? नहीं, इसी तरह यह अज्ञानी निराकुलतारूप सुखकी तो इच्छा करता है और उसको जानता है नहीं, अतः उसकी प्राप्तिके लिये विषयोंमे प्रवृत्ति करता है। विषय तो जड है, उनमे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ही तो है, सुख नहीं है। जैसे उनमे सुख नहीं है वैसे दुःख भी नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखरूप जो परिणमन होता है वह चेतनमे ही होता है। यह अज्ञानी मूढ, अन्यमे आरोपकर व्यर्थ ही खेद खिन्न होता हुआ अनन्त ससाररूप फलका उपभोक्ता होता है ॥५७॥

अब अज्ञान ही कर्तृपनका कारण है, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानान्मृगतृष्णिका जलधिया धावन्ति पातु मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासन रज्जौ जना ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुला ॥५८॥

अर्थ—अज्ञानसे मृगसमुदाय जलबुद्धिसे मृगतृष्णाका पान करनेके लिये धावन करते हैं, इसी तरह अन्धकारमे जनसमुदाय रस्सीमे सर्पबुद्धिका अध्यासकर डरसे भागने लगते हैं, इसी तरह अज्ञानसे नानाप्रकारके विकल्पोंकाकर हवासे लहराते हुए समुद्रकी तरह, शुद्ध ज्ञानमय भी जो आत्माएँ हैं वे नानाप्रकारके आकुलित परिणामोंको करते हुए कर्ता हो जाते हैं।

भावार्थ—मृगतृष्णिका अर्थात् मरु देशमें सूर्यकी किरणोके पडनेसे वालू चमकने लगती है, उसमे जल भासने लगता है, उस कालमे विपासाकुल मृगगण उसकी शान्तिके अर्थ वहाँ दौडकर जाता है परन्तु पास पहुँचनेपर जब वहाँ जल नहीं पाता तब फिर आगे दौड़ता है। जल तो वहाँ है नही, भ्रान्तिसे भटकते-भटकते अन्त दशाको प्राप्त हो जाता है। तथा इसीतरह अन्धकारमें जहाँ टेढ़ी-मेढी रस्सी पड़ी है वहाँ भ्रान्तिसे मनुष्यको सर्पका

भान होने लगता है और उससे वह भयभीत होकर भागने लगता है। इसीतरह यह आत्मा यद्यपि निराकुल है, ज्ञानघन है, परन्तु अज्ञानसे परपदार्थमे अपने आनन्दगुणको खोजता है, इसीके लिये अनेकविध परिश्रमसे विषयोंका संग्रह करता है और उन्हे पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी चेष्टा कर सुखी बनना चाहता है। वास्तवमे तो उनमे सुख है नही, मात्र मनोगज्यवत् कल्पनाकर व्यर्थ ही अपना समय बिताता हुआ अनन्त संसारका पात्र बनता है और आकुलित होता हुआ कर्ता बनता है ॥५८॥

आगे ज्ञानी जानता है, करता कुछ नहीं है, यह कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वा पयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥५९॥

अर्थ—जिस प्रकार हंस, पानी और दूधकी विशेषताको जानता है, इसी प्रकार जो ज्ञानसे अपनी विवेचक बुद्धि—भेदज्ञानकी कलाके द्वारा पर और आत्माके विशेषको जानता है वह सदा अविनाशी चैतन्यधातुका आश्रय लेता हुआ जानता ही है, करता कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—जो जीव ज्ञानी है वे ज्ञानसे पर और आत्माको विवेकके द्वारा जैसे हंस दूध और जलको भिन्न-भिन्न जानता है ऐसे ही जानते है, वे महामना सदा अचल चैतन्य-धातुविज्ञानघन आत्माका आश्रय करते हुए जानने वाले होते है, करते कुछ भी नहीं है। जैसे हंसका स्वभाव है कि वह दुग्ध और जलको पृथक्-पृथक् कर देता है तथा ग्राह्य दूधका आश्रय लेता है, जलको त्याग देता है। ऐसे ही सम्यग्ज्ञानी जीवका यह स्वभाव है कि वह पर और आत्माको पृथक्-पृथक् जानता है। इसीसे परपदार्थमे ममत्व त्यागकर अपने आत्म-स्वरूपमे लीन हो जाता है, कुछ अन्यको करता नहीं है ॥५९॥

अब ज्ञानकी महिमा बताते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

अर्थ—ज्ञानसे ही अग्नि और पानीमें क्रमसे उष्णता और शीतलताकी व्यवस्था होती

है, ज्ञानसे ही लवणके स्वादभेदका निराकरण होता है और ज्ञानसे ही स्वकीय रस—आत्म-स्वभावसे सुशोभित चैतन्यधातु—आत्मा और क्रोधादिकसे भेद सिद्ध होता है, ऐसा भेद जो कि कर्तृत्वभावको नष्ट करने वाला ह ।

भावार्थ—ज्ञानमे ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह अग्निमे उष्णता और जलमे शीतताकी व्यवस्था करता है । ज्ञान ही इस बातका बोध कराता है कि यह लवणका स्वाद है और यह व्यञ्जनका स्वाद है । और ज्ञान ही स्वरसके विकाससे सुशोधित चैतन्यपिण्ड और क्रोधादिक के भेदको ज्ञात कराता है तथा कर्तृभावके भेदका भेदन करता हुआ आत्माके अकर्तापनका ज्ञान कराता है ।

अग्निके सम्बन्धसे जल जब गरम हो जाता है तब ज्ञानकी ही यह महिमा है कि वह इसका बोध करता है कि जलमे जो यह उष्णताकी प्रतीति हो रही है वह नैमित्तिक है परमार्थसे जलकी नहीं, किन्तु अग्निके निमित्तसे ऐसा परिणमन है, परमार्थसे जल शीत है । इसी तरह भोजनमे लवणके सम्बन्धसे क्षारपनका स्वाद आता है । तत्त्वरीतिसे विचार किया जावे तो क्षारपन भोजनका नहीं, लवणका है, लवणके निमित्तसे भोजनमे क्षारपनका स्वाद आ रहा है । इसी प्रकार चैतन्यरूप आत्मामे जो क्रोधादिककी प्रतीति हो रही है वह वास्तव में मोहनीय नामक पुद्गलकर्मके निमित्तसे है, आत्माका चेतन्यगुण तो स्वभावसे स्वच्छ है ॥ ६० ॥

आगे आत्मा आत्मभावका करता है ,परका नहीं, यह कहते है—

अनुष्टुप्

अज्ञान ज्ञानमप्येव कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

अर्थ—परमार्थसे ज्ञानरूप आत्माको मोहादिक कर्मके निमित्तसे अज्ञानरूप करता हुआ आत्मा, आत्मभावका ही कर्ता हो सकता है, परभावका कर्ता कही नही हो सकता ।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे आत्मा ज्ञानरूप ही है परन्तु मोहकर्मके विपाककालमे वह रागादिरूप परिणति होनेके कारण अज्ञानरूप जान पडता हे । उसी अज्ञानदशामें आत्मा कर्ता होता है परन्तु वहाँ भी आत्मभावका ही कर्ता होता है, परभावका कर्ता नहीं होता ॥६१॥

आगे आत्मा परभावका कर्ता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते है—

अनुष्टुप्

आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान ज्ञानादन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान है, जब आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तब ज्ञानसे भिन्न अन्य किसको करे ? आत्मा परभावका कर्ता है, यह कहना व्यवहारी जनोंका मोह है—अज्ञान है।

भावार्थ—गुण और गुणीका अभेददृष्टिसे जब कथन होता है तब जो गुण है वही गुणी है और जो गुणी है वही गुण है। इस तरह आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही है। जब आत्मा स्वय ज्ञान हो गया तब वह ज्ञानके सिवाय अन्य किसको करे ? यद्यपि आत्मामें रागादिक भाव प्रतिभासमान होते हैं, पर भेदज्ञानने उन्हें मोहजन्य होनेके कारण आत्मासे पृथक् कर दिया। अब आत्माके पास ज्ञानके सिवाय रहा ही क्या, जिसका वह कर्ता हो सके ? इस स्थितिमे आत्माको परभावका कर्ता कहना यह व्यवहारी जीवोका मोह ही है—अज्ञान ही है ॥६२॥

आगे यही दिखाते है—

ववहारेण दु आदा करेदि घड-पड-रथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

अर्थ—आत्मा व्यवहारनयसे घट, पट, रथ आदि कार्योंको करता है, स्पर्शनादि पञ्च इन्द्रियोको करता है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा क्रोधादिक भावकर्मोंको करता है और शरीरादिक नानाप्रकारके नोकर्मोंको करता है।

विशेषार्थ—क्योकि व्यवहारी जीवोको जिस प्रकार यह प्रतिभास होता है कि यह आत्मा अपने विकल्प और प्रयत्नके द्वारा घटादिक परद्रव्यरूप बाह्य कर्मको करता है उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्यरूप समस्त अन्तःकर्मको भी करता है क्योकि दोनोमे कुछ विशेषता नहीं है, ऐसा व्यामोह अनादिकालसे है, सो यह समीचीन नहीं है ॥९८॥

आगे वह व्यामोह समीचीन क्यो नहीं है, यह दिखाते हैं—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसि हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

अर्थ—यदि यह आत्मा परद्रव्योको करे तो नियमसे तन्मय हो जावे, किन्तु यह आत्मा तन्मय नहीं होता, इसलिये परद्रव्योंका कर्ता नहीं होता।

विशेषार्थ—यदि निश्चयकर यह आत्मा परद्रव्यात्मक कर्मको करनेवाला हो जावे तो परिणामपरिणामिभावकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे नियमसे तद्रूप हो जावे, किन्तु ऐसा बन नहीं सकता, क्योंकि भिन्नद्रव्यरूप होनेसे स्वीयद्रव्यका उच्छेद हो जावे। अतः यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध हुआ कि एकद्रव्य अन्यद्रव्यरूप नहीं हो सकता है। इसलिये व्याप्यव्यापकभावके द्वारा आत्मा परद्रव्यका कर्ता नहीं है।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे अत्यन्ताभाव है, अतः वह अन्य द्रव्यरूप नहीं हो सकता और अन्यरूप हुए विना कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं हो सकता। निश्चयदृष्टिसे जिसमे व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीमे कर्तृ-कर्मभाव बनता है, जैसे घट व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है, तो यहाँ घटका कर्ता मिट्टी हो सकती है क्योंकि मिट्टी घटाकार परिणत हो जाती है। परन्तु आत्मा घटपटादिरूप परिणमन त्रिकालमे भी नहीं कर सकता, इसलिये आत्माको घटपटादिकका कर्ता मानना समीचीन नहीं है। यह उपादानदृष्टिसे कथन है। इसमे उपादानोपादेयभावकी प्रधानता रहती है और निमित्त-नैमित्तिकभावकी गौणता होती है ॥९९॥

आगे निमित्तनैमित्तिकभावसे भी आत्मा घटपटादिकका कर्ता नहीं है, यह दिखाते हैं—

जीवो ण करेदि घड णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

अर्थ—जीवद्रव्य न तो घटको करता है, न पटको करता है और न बाकीके अन्य द्रव्योंको करता है, किन्तु आत्माके योग और उपयोग उन सब कार्योंके कर्ता होते हैं।

विशेषार्थ—जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म है यदि इन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे करे तो तद्रूपताका प्रसङ्ग आ जावे और निमित्त-नैमित्तिकभावसे करे तो नित्यकर्तृपनका प्रसङ्ग आ जावे, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि न तो आत्मा उनसे—तन्मय हो है और न नित्यकर्ता ही है। अतः न तो व्याप्यव्यापकभावसे कर्ता है और न निमित्तनैमित्तिकभावसे कर्ता है। किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग है वे ही घटपटादिद्रव्योंके निमित्त कर्ता है। उपयोग और योग आत्माके विकल्प और व्यापार है अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घटको बनाऊँ तब काययोगके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमे चञ्चलता आती है और उस चञ्चलताकी निमित्तता पाकर हस्तादिकके व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्रभ्रमि होती है तब घटादिककी निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य है, कदाचित् अज्ञानके द्वारा करनेसे आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मोंका कर्ता नहीं हो सकता।

यहाँ निमित्तकारणको दो भागोंमें विभाजित किया गया है—एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परस्परानिमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग तथा उपयोगसे दण्ड तथा चक्रादिकमे जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी निष्पत्ति होती है वह परस्परानिमित्तकी अपेक्षा कथन है। यहाँ परस्परानिमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभावको गौणकर कथन किया गया है। लोकमें जो यह व्यवहार प्रचलित है

कि कुम्भकार घटका कर्ता है और कुविन्द पटका कर्ता है, यह परम्परानिमित्तसे जायमान निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा कथन है[1] ॥१००॥

आगे ज्ञानी जीव ज्ञानका ही कर्ता है, यह कहते हैं—

जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणरूप पुद्गलद्रव्योंके परिणाम होते हैं उन परिणामोंको आत्मा नहीं करता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता है ।

विशेषार्थ—जैसे गोरसके दधि और दुग्ध परिणाम होते हैं, उन परिणामोंमे दधि खट्टा और दुग्ध मधुर होता है । तटस्थ गोपाल उन परिणामोंका कर्ता नहीं है, किन्तु देखने-जाननेवाला है क्योंकि उनके निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह आत्मासे व्याप्य है अर्थात् आत्मा व्यापक है और दधि-दुग्धका ज्ञान व्याप्य है । ऐसे ही पुद्गलद्रव्यके जो ज्ञानावरण-रूप परिणाम है उनका करनेवाला आत्मा नहीं है क्योंकि उन परिणामोंकी पुद्गलद्रव्यके साथ ही व्याप्ति है, ज्ञानावरणकर्म व्याप्य है और पुद्गलद्रव्य व्यापक है । ज्ञानावरणरूप परिणामोंके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मद्रव्यसे व्याप्त है अतः उन परिणामों-का जाननेवाला आत्मा है । इस तरह आत्मा अपने ज्ञानका ही कर्ता है । इसी पद्धतिसे ज्ञानावरणपदको परिवर्तित कर कर्मसूत्रके विभागोपन्यास द्वारा दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-नीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सात सूत्रोंके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यान करनेके योग्य है । इसी रीतिसे अन्यका भी ऊहापोह कर लेना चाहिये ॥१०१॥

आगे ज्ञानीकी तो कथा दूर रही, अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं होता है, यही दिखाते है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

अर्थ—आत्मा जिस शुभ-अशुभ भावको करता है निश्चयसे वह उसका कर्ता होता है और वह भाव उस आत्माका कर्म होता है तथा वही आत्मा उस भावका भोक्ता होता है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस संसारमे यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञानके प्रभावसे पर

१ इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् । यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभावः । (तात्पर्यवृत्ति)

और आत्मामें एकत्वका अभ्यास कर रहा है। उस एकत्वाध्यासके कारण मन्द और तीव्र स्वादवाली पौद्गलिक कर्मोंकी विपाकदशासे यद्यपि स्वयं कभी चलायमान न होनेवाले एक विज्ञानघन स्वादसे युक्त है तो भी उसके स्वादमें भेद डालता हुआ अज्ञानरूप जिस शुभ-अशुभका करता है उस भावसे उस कालमें तन्मयीभाव होनेसे व्यापक होनेके कारण आत्मा उस भावका कर्ता होता है और वह भाव तन्मयीभाव होनेसे व्याप्य होनेके कारण आत्माका कर्म होता है तथा वही आत्मा उसकालमें तन्मयीभावसे भावक होनेके कारण उस भावका भावक अर्थात् अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव भी तन्मयीभावसे भाव्य होनेके कारण आत्माका अनुभाव्य अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अज्ञानी आत्मा उस शुभादिक भावका अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव उस आत्माके अनुभवमें आनेसे अनुभाव्य कहलाता है। इस पद्धतिसे अज्ञानी जीव भी परभावका कर्ता नहीं होता है।

यद्यपि आत्मा परमार्थसे अपने एक विज्ञानघन स्वादसे कभी विचलित नहीं होता तो भी पुद्गलमय कर्मके मन्दोदयमें शुभरूप और तीव्रोदयमें अशुभरूप परिणाम करता हुआ उसके साहजिक स्वभावमें भेद डाल देता है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके भाव आत्माके अज्ञानमयभाव हैं और वे वास्तवमें आत्मस्वभावसे भिन्न हैं, परन्तु अनादि-कालीन अज्ञानके कारण यह जीव उन्हें स्वकीय मान रहा है। इस अज्ञानदशाकी अपेक्षा भी जब जीवके कर्तृ-कर्म और भोक्तृ भोग्यभावका विचार करते हैं तब यही निष्कर्ष निकलता कि जीव अपने शुभ-अशुभ भावोंका ही कर्ता और भोक्ता हो सकता है, परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। यद्यपि परमार्थसे जीव शुभ-अशुभ भावोंका भी कर्ता और भोक्ता नहीं है तो भी यहाँ अशुद्ध उपादानकी अपेक्षा उसे उनका कथंचित् कर्ता और भोक्ता कहा गया है। तथापि परभावका कर्ता तो वह कदापि नहीं है ॥१०२॥

आगे परभाव परके द्वारा हो भी नहीं सकता, यही दिखाते हैं—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण सकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसकतो कह त परिणामए दव्व ।। १०३ ।।

अर्थ—जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणमें वर्तता है वह वस्तु अन्य द्रव्य व गुणमें सक्रमणरूप नहीं होता अर्थात् अन्यरूप पलटकर नहीं होता। वह वस्तु जब अन्यमें संक्रमण नहीं करता है तब अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है?

विशेषार्थ—इस लोकमें जितने कुछ वस्तु-विशेष हैं वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य और गुणमें सहज स्वभावसे अनादिसे ही वर्त रहे हैं, वस्तुस्थितिकी इस अचलित सीमाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप अनादिसे है वह उसी द्रव्य और गुणरूप सदा रहती है, अन्यद्रव्य और अन्यगुणमें उसका संक्रमण नहीं हो सकता, अर्थात् पलटकर अन्यरूप नहीं हो सकता। जब अन्यद्रव्य

और अन्यगुणमें उसका संक्रमण नहीं तब वह उन्हें अन्यरूप कैसे परिणमा सकता है ? इससे यह निश्चय हुआ कि परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता है ।।१०३।।

अतः निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोका कर्ता नहीं है, यही दिखाते हैं—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कह तस्स सो कत्ता ।। १०४ ।।

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्ममे न तो अपने द्रव्यको करता है और न गुणको करता है । जब वह उसमे द्रव्य-गुण—दोनोंको नही करता तब वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे मृत्तिकामय कलश कर्म, मृत्तिका द्रव्य और मृत्तिकाके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप गुणोमे स्वभावसे विद्यमान रहता है, क्योकि वस्तुकी मर्यादासे, भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणका भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणमे प्रवेश निषिद्ध है । अतः कलशकार उस कलशमे न तो अपने आपको प्रविष्ट कराता है और न अपने गुणोको ही प्रविष्ट कराता है । अन्य द्रव्यमे प्रवेश किये बिना अन्य वस्तुको परिणमाना अशक्य है । इसलिये जब कलशकार कलशमे अपने द्रव्य और अपने गुणोको धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उसका कर्ता प्रतिभासमान नही होता । ऐसे ही पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म, पुद्गलद्रव्य और उसके गुणोमे स्वभावसे ही रह रहा है । क्योकि अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्यमे और अन्य-गुणका अन्यगुणमे प्रवेश नहीं कराया जा सकता, इसलिये आत्मा उस ज्ञानावरणादि कर्ममे न तो अपने आत्माको धारण करता है और न अपने गुणोका धारण करता है । अन्यद्रव्यमें प्रवेश किये बिना अन्यवस्तुको परिणमाना अशक्य है । इसलिये जब आत्मा ज्ञानावरणादि कर्ममें अपने द्रव्य और गुणोको धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उनका कर्ता कैसे प्रतिभासित हो सकता है । अतः परमार्थसे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है ।।१०४।।

आगे इससे अन्य जो कथन है वह उपचार है, यह कहते है—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ।। १०५ ।।

अर्थ—यह जीव जब रागादिभावरूप परिणमन करता है तब जीवके निमित्तको पाकर पुद्गलद्रव्यका ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन हो जाता है उसे देखकर उपचारमात्रसे यह कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादिकर्म किये ।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस लोकमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका

निमित्त नहीं है, यह वस्तुकी मर्यादा है परन्तु अनादिकालीन मोहका सम्बन्ध होनेसे आत्मामें अनेक प्रकारके अज्ञानभाव होते हैं उनका निमित्त पाकर पौद्गलिक ज्ञानावरणादिकर्मोंका स्वयमेव आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध हो जाता है। उसे देखकर 'आत्माने कर्म किये' ऐसा निर्विकल्प ज्ञानसे भ्रष्ट और विकल्पोंसे तन्मय जीवोंका विकल्प होता है परन्तु वह उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

वास्तवमें आत्मा और पुद्गलमें जो वैभाविक शक्ति है उसके कारण आत्मामें रागादिरूप और पुद्गलद्रव्यमें ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमन स्वयं होता है, ऐसा उपादानकी प्रमुखतामें कथन होता है और जीवके रागादिभावोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है ऐसा निमित्तकी प्रधानतामें कथन होता है। निमित्तकी प्रधानतामें द्रव्यके स्वकीय परिणमनको गौणकर परद्रव्यजनित परिणमनको प्रमुखता दी जाती है, इसलिये वह उपचार कथन कहलाता है ॥१०५॥

आगे इस उपचार कथनका दृष्टान्तद्वारा प्रतिपादित करते हैं—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कद ति जपदे लोगो ।
तह ववहारेण कद णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

अर्थ—जैसे रणभूमिमें योद्धा लोग जाकर युद्ध करते हैं अर्थात् युद्धके करनेवाले शूरवीर योद्धा ही हैं परन्तु लौकिक मनुष्योंका यह व्यवहार है कि राजाने युद्ध किया। ऐसे ही लौकिक मनुष्योंका यह व्यवहार है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये ॥

भावार्थ—जिस प्रकार युद्धरूप परिणामसे स्वय परिणमन करनेवाले योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर स्वय युद्धरूप परिणमन न करनेवाले राजाके विषयमें लोग ऐसा कथन करते हैं कि यह युद्ध राजाने किया है, परन्तु ऐसा कथन उपचार है, परमार्थ नहीं। इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणामसे स्वय परिणमन करनेवाले पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादिकर्मोंके किये जानेपर ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वय परिणमन न करनेवाले आत्माके विषयमें व्यवहारसे ऐसा कथन होता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये, परन्तु यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं।

जिस प्रकार युद्धरूप परिणमन होता तो योद्धाओंमें हैं परन्तु उसके कर्तृत्वका आरोप राजामें किया जाता है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन होता तो पुद्गलद्रव्यमें है परन्तु उसके कर्तृत्वका आरोप जीवमें किया जाता है। अन्य द्रव्यके परिणमनका अन्य द्रव्यमें आरोपकर कथन करना उपचार कथन है। व्यवहारनयसे ऐसा कथन होता है, निश्चयसे नहीं ॥१०६॥

आगे इसी व्यवहारनयके कथनको दिखलाते हैं—

उप्पादेदि करेदि य बधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्व ववहारणयस्स वत्तव्व ॥ १०७ ॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, कराता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनयका कथन है। वास्तवमें न तो उत्पन्न करता है, न कराता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण करता है, केवल व्यवहारकी यह महिमा है।

विशेषार्थ—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यके भेदसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मके तीन भेद है। व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे यह आत्मा तीनों प्रकारके पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है परन्तु व्याप्यव्यापकभावके अभावमें भी जो ऐसा कथन किया जाता है कि आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकारके पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको ग्रहण करता है, परिणमाता है उपजाता है, करता है और बाँधता है, यह उपचार कथन है। यह उपचार कथन व्यवहारनयका विषय है ॥१०७॥

आगे इसी उपचारको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारसे राजा, प्रजामें दोष और गुणोंका उत्पादक है ऐसा कहा गया है उसी प्रकार व्यवहारसे जीव, पुद्गलद्रव्यके गुणोंका उत्पादक है, ऐसा कहा गया है। ऐसी पुरानी श्रुति भी है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापाः समे समाः।
राजानुमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

अर्थात् राजाके धर्मात्मा बननेपर लोग धर्मात्मा होते हैं, पापी होनेपर पापी होते हैं और सम होनेपर सम होते हैं। लोग राजाका ही अनुसरण करते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लोगोंके गुण और दोष व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, राजाके साथ उनका कोई व्याप्यव्यापकभाव नहीं रहता, तो भी राजा उन गुणों और दोषोंका उत्पादक है ऐसा उपचार होता है उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव होनेसे पुद्गलद्रव्यके गुण और दोष स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, जीवके साथ उनका व्याप्यव्यापकभाव नहीं रहता तो भी जीव उनका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे लोकके व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धके द्वारा स्वभावसे ही गुणों और दोषोंकी उत्पत्ति होती है, उनके होनेमें राजाके व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धका अभाव है तो भी उन गुणों और दोषोंका उत्पन्न करनेवाला राजा है, ऐसा उपचार है। ऐसे ही व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्धके द्वारा पुद्गलद्रव्यके गुण और दोष स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, उनके होनेमें

जीवका व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है तो भी जीव उनका उत्पादक है ऐसा उपचार होता है ॥१०८॥

अब आगे यदि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है तो फिर कौन है ? यह आशङ्का उठा कर कलशद्वारा आगामी कथनकी भूमिका दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जीव. करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
सकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

अर्थ—यदि जीव पुद्गलकर्मको नहीं करता है तो फिर कौन करता है ? इस आशङ्कासे ही इस समय तीव्र वेगशाली मोहको दूर करनेके लिये पुद्गलकर्मके कर्ताका निरूपण किया जाता है, हे भव्यजनो ! सुनो ।

भावार्थ—ऊपरकी गाथाओंमे यह कथन किया गया है कि पुद्गलकर्मका कर्ता जीव नहीं है । इस स्थितिमे इस आशङ्काका उठना स्वाभाविक है कि यदि इन्हे जीव नहीं करता है तो कौन करता है ? क्योकि व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे जिस प्रकार जीव इनका कर्ता नहीं है उसी प्रकार निर्बुद्धि होनेसे पुद्गल भी इनका कर्ता नहीं हो सकता । इस प्रकार पुद्गलकर्मके कर्तापनके विषयमे जो अत्यन्त तीव्र अज्ञान फैला हुआ है उसका निराकरण करनेके लिये पुद्गलकर्मके कर्ताका वर्णन किया जाता है । हे भव्यजनो ! उसे श्रवण करो॥६३॥

आगे कर्मबन्धके कारण बतलाते हैं—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो ।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव स जोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—निश्चयसे बन्धके करनेवाले सामान्यरूपसे चार कारण कहे है। उनके नाम मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये।

इन्हींके मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह भेद कहे गये हैं, क्योंकि ये गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं, अतः अचेतन है। यदि ये गुणस्थान कर्मोंको करते है तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता है।

ये प्रत्यय (कारण) गुणस्थाननाम वाले है तथा क्योंकि ये ही कर्मोंको करते है, इसलिये जीव अकर्ता है। ये गुणस्थान इन कर्मोंको करते हैं।

विशेषार्थ—निश्चयसे पुद्गलकर्मका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है। उसीके विशेष मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग है जो सामान्यरूपसे बन्धके चार हेतु कहे गये है। ये चार हेतु ही भेद करनेपर मिथ्यादृष्टिका आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह प्रकारके हे। ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयके विकल्पस्वरूप होनेसे अत्यन्त अचेतन है, अतः अचेतन पुद्गल कर्मोके साथ इनका व्याप्यव्यापकभाव बन जाता है। इस स्थितिमे यदि ये किसी पुद्गलकर्मका करे तो करे, इसमे जीवका क्या आया ? अर्थात् अचेतन गुणस्थान अचेतन पुद्गलकर्मोंके कर्ता यदि होते हं तो हो उनके कर्तृत्वसे जीवमे कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह तर्क किया जावे कि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वादि भावोको वेदन करता हुआ जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है तो निश्चयसे यह अज्ञान है क्योकि आत्माका उन पुद्गलमय भावोके साथ भाव्यभावकभावका अभाव है। इस स्थितिमे जब आत्मा पुद्गलमय मिथ्यात्व आदि भावोका वेदक ही नहीं है तब पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मोंका कर्ता किस प्रकार हो सकता है ? इससे यह सिद्धान्त आया कि पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययोके विकल्पस्वरूप तथा गुणस्थानके नामसे व्यवहृत होनेवाले जो तेरह प्रकार के विशेष प्रत्यय है वे अकेले ही अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपसे निरपेक्ष रहकर भी कर्मोंको करते है। इस तरह जीव पुद्गलकर्मोका अकर्ता है, उक्त तेरह गुणस्थान ही पुद्गलकर्मोंके कर्ता है और वे गुणस्थान पुद्गलद्रव्यके विपाकसे जायमान होनेके कारण पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मोका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके निमित्तसे आत्माके गुणोंमें जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते है। ये गुणस्थान यद्यपि आगममें चौदह बतलाये गये हैं, परन्तु चौदहवे गुणस्थानमे मोह और योग दोनोंका अभाव हो जानेसे कर्मबन्धका कुछ भी कारण नही हैं, इसलिये यहाँ बन्धके विशेष प्रत्ययोमे मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान ही बतलाते है। ये गुणस्थान आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप नहीं है तथा पुद्गलमय अचेतन कर्मोंके उदयसे उत्पद्यमान होनेके कारण निमित्तप्रधानदृष्टिके कथनमें अचेतन है। यहाँ अचेतन शब्दसे घटपटादिकके समान सर्वथा जडरूप हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये किन्तु आत्माकी शुद्ध चैतन्यपरिणतिसे भिन्न है, ऐसा आशय समझना

चाहिये। ये गुणस्थान ही कर्मोंके कर्ता हैं, गुणस्थान क्योंकि पुद्गलात्मक है इसलिये पुद्गल ही पुद्गलकर्मोंका कर्ता है, जीव नहीं है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तरह 'जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव' इस कलशमे जो यह आशङ्का उठाई गई थी कि यदि जीव पुद्गल कर्मका कर्ता नहीं है तो फिर उसका कर्ता कौन है ? इस आशङ्काका उत्तर देते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान ही कर्मोंके कर्ता है तथा वे गुणस्थान पुद्गल-कर्मके विपाकसे होनेके कारण पुद्गलरूप है ॥१०९-११२॥

आगे जीव और प्रत्ययोमे एकपन नही बन सकता, यह दिखाते हैं—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्ण ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माण ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्ण ॥११५॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार उपयोग जीवसे अभिन्न है उसी प्रकार यदि क्रोध भी जीवसे अभिन्न माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव और अजीव दोनोमे एकत्व आता है।

इस तरह जीव और अजीवमे एकत्व माननेसे ससारमे जो जीव है वही नियमसे अजीव हो जायेगा। जीव और अजीवके एकत्वमे जो दोष आता है वही दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्मोके एकत्वमे भी आता है।

इस दोषसे बचनेके लिए यदि तेरे मनमे क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोध अन्य है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म भी अन्य है, ऐसा मानना चाहिये।

विशेषार्थ—जैसे जीवका तन्मयभाव होनेसे उपयोग जीवसे अभिन्न है, वैसे ही जड क्रोध भी यदि जीवसे अभिन्न माना जावे तो चिद्रूप और जडका अभेद होनेसे जीवके उपयोग ममत्वके सदृश जड क्रोधके साथ भी तन्मयताकी आपत्ति आ जावेगी। और उसके आनेपर जो जीव है वही अजीव हो जावेगा, तब एक द्रव्यका लोप नियमसे मानना पड़ेगा। इसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मोंकी जीवके साथ अभिन्नता माननेसे यही दोष आवेगा। इसलिये इस दोषके भयसे उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है और जडस्वभाव क्रोध अन्य है, ऐसा स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। तब जैसे उपयोगस्वरूप जीवसे जडस्वभाव

क्रोध अन्य है, ऐसे ही प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अन्य हैं क्योंकि जडस्वभाववाले ये तीनों ही हैं, और इसलिए जडस्वभावताकी अपेक्षा क्रोध और इन तीनोंमे कोई विशेषता नहीं है। इस तरह जीव और प्रत्ययमे एकताकी अनुपपत्ति है[1] ॥११३-११५॥

अब पुद्गलद्रव्य परिणमनशील है, यह साख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं—

जीवे ण सय बद्ध ण मय परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिण अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमतीसु कम्मभावेण ।
ससारस्स अभावो पसज्जदे सख-समओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कह णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गल दव्व ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥

---

१ किन्च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यत एव। कस्मात् ? निश्चय-व्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्त सिद्धमिति। ये तु पुनरेव परस्परसापेक्षनयविभाग न मन्यन्ते साख्यसदाशिवमतानुसारिण-स्तेषा मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभाव। कर्मबन्धाभावे ससाराभाव, ससाराभावे सर्वदा मुक्तत्व प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोध, ससारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। (तात्पर्यवृत्ति)

यहाँ शुद्धनिश्चयनयसे जीव अकर्ता है, अभोक्ता है तथा क्रोधादिकसे भिन्न है ऐसा व्याख्यान किये जाने पर दूसरे पक्षमे व्यवहारनयसे जीव कर्ता है और भोक्ता है तथा क्रोधादिकसे अभिन्न है, यह बात स्वय प्राप्त होती है क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय परस्परमे सापेक्ष है। जिस प्रकार देवदत्त दाहिन नेत्रसे देखता है, यह कहने पर बायें नेत्रसे नही देखता, यह बात बिना कहे ही आ जाती है उसी प्रकार निश्चयके कहने पर व्यवहारका पक्ष बिना कहे ही आ जाता है। किन्तु जो लोग परस्परमे सापेक्षनयविभागको नही मानते है वे साख्य अथवा सदाशिव मतके अनुयायी है। उनके मतमे जिस प्रकार जीव शुद्धनिश्चयनयसे कर्ता नही होता तथा क्रोधादिकसे भिन्न रहता है उसी प्रकार व्यवहारसे भी है। तब ऐसा मानने पर क्रोधादिरूप परिणमनका अभाव होने पर सिद्धोके समान कर्मबन्धका अभाव हो जावेगा, कर्मबन्धका अभाव होने पर ससारका अभाव हो जायगा, ससारका अभाव होने पर सर्वदा मुक्तपनका प्रसङ्ग आ जावेगा और वह प्रत्यक्षका विरोध कहलावेगा, क्योंकि ससार प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

(पञ्चकम्)

अर्थ—यह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ न तो स्वयं बँधा है और न स्वयं कर्मभावसे परिणमन करता है। यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जावेगा तथा जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूपसे परिणमन नहीं करेंगी तब संसारका अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमत-का प्रसङ्ग आ जावेगा। इस दोषका निवारण करनेके लिये यदि ऐसा माना जावे कि जीव पुद्गलद्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो यहाँपर दो प्रश्न उठते हैं—पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करने वालोंको कर्मरूप परिणमाता है ? या स्वयं कर्मरूप नहीं परिणमन करने वालोंको परिणमाता है ? यदि वे स्वयं नहीं परिणमन करने वाले हैं तो आत्मा उन्हें कैसे परिणमन करा सकेगा ? और यदि वे स्वयं परिणमते हैं तो जीव उन्हें कर्मभावरूप परिणमाता है, यह कहना अलीक है। अतः सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणत होता हुआ नियमसे कर्म होता है तथा वही ज्ञानावरणादिरूप परिणत होता है, ऐसा जानो।

विशेषार्थ—पुद्गलद्रव्य जीवके साथ अपने आप बन्ध-अवस्थारूप नहीं है, यदि ऐसा माना जावे तो ऐसा माननेमें वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जावेगा और अपरिणामी होनेपर संसारका अभाव हो जावेगा। यदि ऐसा माना जावे कि जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमन कराता है क्योंकि ऐसा माननेसे न तो संसारका अभाव होगा और न सांख्यमतकी आपत्ति आवेगी, ऐसा तर्क किया जावे तो ऐसी आशङ्का होती है कि अपने आप नहीं परिणमन करनेवाले पुद्गलद्रव्यको जीव कर्मभावरूप परिणमाता है ? अथवा अपने आप परिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूप परिणमाता है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अपने आप परिणमन न करने वालेको अन्य तद्रूप परिणमन करानेमें सर्वथा असमर्थ है, "जो शक्ति स्वयं नहीं है वह दूसरेके द्वारा नहीं की जा सकती।" यदि दूसरा पक्ष अगीकृत किया जावे अर्थात् स्वयं परिणमनशील हैं ऐसा माना जावे तो परने क्या किया ? "अपने आप परिणमता हुआ पदार्थ अन्य परिणमन कराने वालेकी अपेक्षा नहीं करता "क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा कभी नहीं करती हैं।" इससे यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गलद्रव्य अपने आप परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेपर जैसे कलशरूप परिणत मिट्टी स्वयमेव कलश है वैसे ही जड़स्वभाव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत जो पुद्गलद्रव्य है वही स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म है। इस तरह पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभाव सिद्ध हो जाता है ॥११६-१२०॥

इसीके समर्थनमें श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा लिखते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

अर्थ—इस पद्धतिसे पुद्गलद्रव्यकी परिणमनशक्ति निर्विघ्न स्वभावभूत सिद्ध है। उस शक्तिके रहते हुए पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उस भावका वही पुद्गल-द्रव्य कर्ता होता है।

भावार्थ यहाँ उपादानकी प्रधानतासे पुद्गलद्रव्यको ही कर्मका कर्ता बताया गया है।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वभावको सिद्ध कर अब जीवके परिणामस्वभावको सिद्ध करते हैं—

ण सय बद्धो कम्मे ण सय परिणमदि कोहमादीहि ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं ।
ससारस्स अभावो पसज्जदे सख-समओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीव परिणामएदि कोहत्त ।
तं सयमपरिणमत कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीव कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

(पचकम्)

अर्थ—यदि तुम्हारा यह मत हो कि यह जीव न तो अपने आप कर्मके साथ बँधा है और न स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है तो वह अपरिणामी हो जावेगा और जब जीव क्रोधादिक भावरूप स्वयं परिणमन नहीं करेगा तब संसारका अभाव हो जावेगा अथवा सांख्यसिद्धान्तकी आपत्ति उपस्थित होगी। उसका वारण करनेके लिये यदि ऐसा माना जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक (द्रव्यकर्म) जीवको क्रोधादिरूप (भावकर्मरूप) परिणमाते हैं तो सहज ही यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोध, अपने आप क्रोधादिरूप परिणमन करने वाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? या नहीं परिणमन करने वाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? प्रथम पक्षमें स्वयं क्रोधादिरूप न परिणमते हुए जीवको पुद्गल-कर्म क्रोधादिक तद्रूप कैसे परिणमा सकता है ? द्वितीय पक्षमें जीव स्वय क्रोधादिरूप परिणमन

करता है, ऐसी यदि तुम्हारी बुद्धि है तो फिर पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है यह कहना नितान्त मिथ्या हो जावेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि जब आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होता है तब स्वयं क्रोध है, जब मानसे उपयुक्त होता है तब स्वयं मान है, जब मायासे उपयुक्त होता है तब स्वयं माया है और जब लोभसे उपयुक्त होता है तब स्वयं लोभ है।

विशेषार्थ—जीव कर्मके साथ न तो स्वयं बँधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है, यदि ऐसा माना जावे तो जीव अपरिणामी ही ठहरता है और ऐसा होनेपर संसारके अभावका प्रसङ्ग आता है। इसके निवारणके लिये यदि यह तर्क उपस्थित किया जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधाधिक, जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, इससे संसारका अभाव नहीं होगा तो यहाँ यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, अपने आप न परिणमते हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? या अपने आप क्रोधादिरूप परिणमते हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है ? प्रथम पक्षमे स्वयं क्रोधादिरूप नही परिणमता हुआ जीव अन्य-पुद्गलकर्मके द्वारा तद्रूप कैसे परिणमाया जा सकता है ? क्योंकि जो शक्ति पदार्थमे स्वयं नही है वह अन्यके द्वारा नही की जा सकती। द्वितीय पक्षमे यदि स्वयं परिणमनशील जीवको पुद्गलद्रव्य क्रोधादि, क्रोधादिभावरूप परिणमाते है, ऐसा माना जावे तो ठीक नही है क्योकि स्वयं परिणमनशील पदार्थ अन्य परिणमन करानेवालेकी अपेक्षा कभी नहीं करता। जो वस्तुकी शक्तियाँ है वे दूसरेकी अपेक्षा कभी नही करती हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेपर जिस प्रकार मन्त्रका साधक जब गरुडका ध्यान करता है तब वह गरुडके ध्यानरूप परिणत होनेसे स्वयं गरुड हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमन हो रहा है, ऐसा जीव स्वयं क्रोधादिरूप हो जाता है। इस तरह जीवद्रव्य परिणामस्वभाववाला है, यह सिद्ध हुआ ॥१२१-१२५॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामे प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५ ॥

अर्थ—इस पद्धतिसे जीवकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होता है उस शक्तिके रहते हुए जीव अपने जिस भावको करता है उसी भावका वह कर्ता होता है।

भावार्थ—वैभाविकी शक्तिके कारण जीवमे क्रोधादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता स्वयं विद्यमान है। इस योग्यताके रहते हुए पुद्गलमय द्रव्यकर्म क्रोधादिककी विपाकदशाका

निमित्त पाकर जीव स्वय क्रोधादिरूप परिणमन करता है। अपनी इस परिणमन-सम्बन्धी योग्यतासे जीव जिस भावको करता है उसी भावका कर्ता कहलाता है ॥६५॥

आगे इसीको दिखाते हैं—

ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

अर्थ—आत्मा जिस भावको करता है वह उसी भावरूप कर्मका कर्ता होता है। ज्ञानीके वह भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय।

विशेषार्थ—इस प्रकार यह आत्मा अपने आप परिणामस्वभाववाला है। अतः जब जिस भावको करता है वही भाव इसका कर्म कहलाता है और आत्मा उस भावका कर्ता होता है। ज्ञानी जीवके समीचीनरूपसे स्वपरका भेदज्ञान है। उसके बलसे इसके आत्मख्याति (आत्मानुभूति) का अत्यन्त उदय रहता है। उस आत्मख्यातिके उदयसे इसका वह भाव ज्ञानमय ही होता है। और जो अज्ञानी जीव है उसके स्वपरभेदज्ञानका अभाव है। अतएव उसके शुद्ध आत्मख्यातिका अत्यन्त अस्तपन है अर्थात आत्मख्यातिका उसके अभाव है, इसीसे अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है।

परमार्थसे संसारके प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनके कर्ता होते है, वस्तुस्वभावकी यही मर्यादा है। इस मर्यादासे जीव भी अपने ही परिणमनका कर्ता होता है और उसका वह परिणमन ही उसका कर्म कहलाता है। अनादिकालसे जीवका परिणमन रागादि विकारोंसे सवलित हो रहा है। इस सवलनके कारण शुद्ध आत्माकी परिणति तिराहित हो रही है, परन्तु ज्ञानी जीवको स्व और परका यथार्थ भेदज्ञान हो चुकता है, इसलिये उसे शुद्ध आत्माकी परिणतिका अनुभव होने लगता है। आत्माकी शुद्ध परिणति ज्ञानमय परिणति है क्योकि उसीके साथ इसका त्रैकालिक व्याप्यव्यापकभाव रहता है। इस दशामे ज्ञानी जीवका परिणमन ज्ञानरूप होता है। उसी परिणमनका ज्ञानी जीव कर्ता होता है और वही परिणमन ज्ञानी जीवका कर्म होता है। परन्तु अज्ञानी जीवको समीचीन रूपसे स्व और परका भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह मोहकर्मके उदयसे जायमान रागादिरूप परिणतिसे भिन्न शुद्ध आत्मपरिणतिका अनुभव करनेमे असमर्थ रहता है। रागादिरूप परिणति आत्माकी निजकी परिणति नहीं है क्योंकि उसके साथ आत्माका त्रैकालिक व्याप्यव्यापकभाव नहीं है। इस रागादिरूप परिणतिको अज्ञानमयभाव कहते हैं। अज्ञानी जीव इसी अज्ञानमयभावका करता है, इसलिये वह इसीका कर्ता होता है और वही अज्ञानी जीवका कर्म होता है ॥१२६॥

आगे ज्ञानमयभावसे क्या होता है ? और अज्ञानमयभावसे क्या होता है, यह कहते हैं—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि॥१२७॥

अर्थ—अज्ञानी जीवके अज्ञानमयभाव होता है, इसीसे वह कर्मोंको करता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है, इसीसे वह कर्मोंको नहीं करता है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीवके स्व और परका सम्यक् भेदज्ञान नहीं है। इसीसे उसके आत्मज्ञानका अत्यन्त अभाव है, और उसका अभाव होनेसे उसके अज्ञानमय ही भाव होता है, उस अज्ञानमय भावके होनेपर स्व और परमें एकत्वका अध्यास होता है, उस एकत्वाध्यासके कारण ज्ञानमात्र निजस्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ यह जीव पररूप रागद्वेषके साथ एकरूप होकर अहकारमे प्रवृत्ति करता है अर्थात् परद्रव्यको आत्मरूप मानने लगता है और फिर यह मानता है कि मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ। तथा उस अज्ञानमयभावसे अज्ञानी होकर पररूप रागद्वेषको अपनाकर कर्मोंको करता है। किन्तु ज्ञानी जीवके स्व तथा परका समीचीन भेदज्ञान होनेसे परपदार्थसे भिन्न शुद्ध आत्माकी अनुभूतिका अत्यन्त उदय हो जाता है, इसलिये उसके ज्ञानमय ही भाव होता है। उस ज्ञानमय भावके होनेपर स्व-परमे नानात्वरूप भेदज्ञान होनेसे वह ज्ञानमात्र स्व-स्वरूपमे अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, पररूप रागद्वेषसे पृथक्भूत होनेके कारण इसका अहकार अर्थात् परपदार्थोंमें आत्मभाव स्वय निवृत्त हो जाता है, अतः वह स्वय पदार्थोंको मात्र जानता ही है, उनमे न राग करता है और न द्वेष। इसीसे ज्ञानी जीव ज्ञानमय भावसे पर जो रागद्वेष हैं उनरूप अपनेको नहीं करता हुआ कर्मोंको नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव भेदज्ञानके अभावमे उदयागत मोह तथा रागद्वेषमें अहकार और ममकार करता हुआ कर्मोंका कर्ता होता है और ज्ञानी जीव भेदज्ञानकी महिमासे उदयागत मोह तथा रागद्वेषमे अहकार और ममकार न करता हुआ कर्मोंका कर्ता नहीं होता है। इस तरह अज्ञानी जीवका अज्ञानमय भाव ही कर्मोंका कारण है और ज्ञानी जीवका ज्ञानमय भाव कर्मोंका कारण नही है ॥१२७॥

अब आगेकी गाथाओंका भूमिकाके लिये प्रश्नरूप कलशा कहते है—

आर्याछन्द

ज्ञानमय एव भाव कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्य ।
अज्ञानमय सर्व कुतोऽयमज्ञानिनो नान्य ॥६६॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव क्यो होता है अन्य भाव क्यो नही होना और अज्ञानी जीवका सब भाव अज्ञानमय ही क्यों होता है अन्य भाव क्यो नहीं होता ? ॥६६॥

इसीका आचार्य आगे समाधान करते है—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिस कारण ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिये ज्ञानीके निश्चयकर सकल भाव ज्ञानमय ही होते हैं और जिस कारण अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिये अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव ही होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कारण निश्चयकर अज्ञानमय भावसे जो कोई भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव अज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इस कारण अज्ञानी जीवके जितने भाव है वे सब अज्ञानमय ही होते है और जिस कारण ज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव ज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इस कारण ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं ॥१२८।१२९॥

इसी भावको कलशामें दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके सब भाव ज्ञानसे ही निष्पन्न होते हैं और अज्ञानी जीवके सब भाव अज्ञानसे ही रचे जाते है ॥६७॥

आगे इसी सिद्धान्तका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

अर्थ—जैसे सुवर्णमय भावसे सुवर्णात्मक ही कुण्डलादिक होते हैं और लोहमय भावसे लोहरूप ही कडे आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं ॥

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे यद्यपि पुद्गल स्वयं परिणामस्वभाववाला है तो भी 'कार्योंकी उत्पत्ति कारणोंके अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्तसे सुवर्णमय भावसे सुवर्ण जातिका अतिक्रमण नहीं करनेवाले सुवर्णमय कुण्डलादिक पर्याय ही उत्पन्न होते हैं, लोह निर्मित कड़े आदि नहीं। और लोहरूप भावसे लोह जातिका अतिक्रमण नहीं करने वाले लोहमय कड़े आदिक पर्याय ही उत्पन्न होते हैं, सुवर्ण निर्मित कुण्डलादिक नहीं। ऐसे ही

जीवपदार्थ यद्यपि स्वय परिणामस्वभाववाला है तो भी 'कार्योंकी उत्पत्ति कारणोंके अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्तसे अज्ञानी जीवके स्वय अज्ञानमय भावसे अज्ञानजातिका अतिक्रमण नहीं करने वाले नानाप्रकारके अज्ञानमय भाव ही होते है, ज्ञानमय नहीं। और ज्ञानी जीवके स्वय ज्ञानमय भावसे ज्ञानजातिका अतिक्रमण नहीं करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नहीं ॥१३०।१३१॥

यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अज्ञानमयभावोंकी भूमिकाको व्याप्तकर द्रव्यकर्मके निमित्त जो अज्ञानमय भाव है उनके हेतुपनको प्राप्त होता है।

भावार्थ--अज्ञानी जीवके मोह, राग तथा द्वेषरूप अज्ञानमय भावोंके निमित्तसे आगामी द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है ॥६८॥

आगे अज्ञानमय भाव द्रव्यकर्मके हेतु किस प्रकार हैं ? यही दिखाते है—

अण्णाणस्स स उदओ ज जीवाणं अतच्च-उवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्त ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु ज जीवाण हवेइ अविरमण ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाण सो कसाउदओ ॥१३३॥
त जाण जोग उदय जो जीवाण तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागय ज तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
त खलु जीवणिबद्ध कम्मइयवग्गणागय जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाण ॥१३६॥

(पञ्चकम्)

अर्थ—जीवोंके जो अतत्त्वोपलब्धि (अन्यथा पदार्थका जानना) है वह अज्ञानका उदय है अर्थात् जीवोंके जब अज्ञानका उदय होता है तब उन्हें यथार्थ पदार्थकाका भान

नहीं होता है, इसीको विपर्ययज्ञान कहते हैं। जब जीवोंके मिथ्यात्वका उदय होता है तब तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होता है। उस कालमें अंशमात्र भी त्याग नहीं होता, इसीका नाम अविरमण है। जब जीवोंके कषायोंका उदय होता है तब उपयोग कलुषित हो जाता है। जो जीवोंका शुभ अथवा अशुभ, करने योग्य अथवा न करने योग्य चेष्टाका उत्साह है उसे योगोंका उदय जानो। हेतुभूत इन सब भावोंके रहते हुए अर्थात् इन उक्त भावोंका निमित्त पाकर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोंसे आठ प्रकारका परिणमता है। कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ द्रव्य जब जीवके साथ बन्धको प्राप्त होता है तब जीव अपने अज्ञानादिभावोका कारण होता है।

विशेषार्थ—अतत्त्वोपलब्धिरूपसे जीवमे जो स्वाद आता है वह अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके जो उदय हैं वे ही कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्वादि अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्वका श्रद्धान न होनेसे ज्ञानमें जो अतत्त्वश्रद्धानरूप स्वाद आता है, यही मिथ्यात्वका उदय है, अविरमणभावसे जो ज्ञानमे स्वाद आता है, यही असंयम का उदय है, कलुषित उपयोग रूपसे ज्ञानमे जो स्वाद आता है, यही कषायका उदय है और शुभाशुभ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यापारसे ज्ञानमे जो स्वाद आता है यही योगका उदय है। ये मिथ्यात्वादिकके उदयरूप चारों भाव पुद्गलके हैं तथा आगामी कर्मबन्धके कारण है। इनके रहते हुए कार्मणवर्गणाके रूपमे जो पुद्गलद्रव्य आता है वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकार रूप स्वय परिणम जाता है। वही कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीवके साथ निबद्ध होता है अर्थात् बन्धरूपताको प्राप्त होता है तब यह जीव स्वय अज्ञानके कारण पर और आत्मामे एकत्वका अध्यासकर अपने मिथ्यात्वादिक अज्ञानमय परिणामोंका हेतु होता है ॥ १३२-१३६ ॥

आगे जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथक् ही है, यह दिखाते हैं—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एव जीवो कम्म च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

(युग्मम्)

अर्थ—यदि जीवके रागादिक परिणाम कर्मके साथ ही होते हैं ऐसा माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव और कर्म दोनों ही रागादिक भावोंको प्राप्त हो जावेगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूपसे एक जीवका ही परिणाम होता है अर्थात् केवल एक जीव ही रागादिक परिणामोंके द्वारा परिणमन करता है और वह परिणाम कर्मोदयरूप हेतुके विना केवल जीवका ही परिणाम है।

विशेषार्थ—रागादिक अज्ञान भावोंके होनेमें विपच्यमान (उदयागत) मोहादिककर्म

ही कारण हैं, इसलिये उनके साथ ही जीवका रागादिक परिणाम होता है अर्थात् मोहादिक कर्म और जीवकी मिश्रितावस्था ही रागादिरूप परिणत हो जाती है, यदि ऐसा माना जावे तो जैसे चूना और हल्दीके मिलापसे दोनोंका एक लालरङ्गरूप परिणमन हो जाता है, ऐसे ही मोहादिक कर्म और जीवके मिलापसे दोनोंका रागादिरूप परिणाम होता है ऐसा मानना पड़ेगा, यह एक दुर्निवार आपत्ति होगी। अतः उस आपत्तिके वारणके लिये केवल जीवका ही रागादिक परिणाम होता है, ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका रागादिरूप परिणाम अपने हेतुभूत पुद्गलकर्मके विपाकसे पृथक् ही है।

पहले निमित्तकी प्रधानतासे कहा गया था कि जीवके रागादिकभाव पुद्गलकर्मके उदयसे होनेके कारण पुद्गलरूप हैं। यहाँ उपादानकी प्रधानतासे कहा गया है कि रागादिक भाव जीवके ही परिणाम हैं, परन्तु पुद्गलकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण जीवके स्वभाव नहीं हैं किन्तु विभावरूप हैं ॥१३७।१३८॥

आगे पुद्गलद्रव्यका परिणाम भी जीवसे पृथक् ही है, यह कहते हैं—

जइ जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एव पुग्गल जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

(युग्मम्)

अर्थ—यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणाम जीवके साथ ही होता है, ऐसा माना जावे तो ऐसा माननेसे पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभावको प्राप्त हुए, ऐसा मानना पड़ेगा सो यह बात इष्ट नहीं है, क्योकि पुद्गलद्रव्यका ही कर्मभावरूप परिणाम होता है और वह जो कर्मरूप परिणमन है वह जीवके रागादिकभावोंके बिना केवल पुद्गलका ही परिणाम है अर्थात् जो ज्ञानावरणादिरूप परिणाम है वह केवल पुद्गल का ही है।

विशेषार्थ—पुद्गलद्रव्यका जो कर्मरूप परिणमन हो रहा है वह उस परिणमनमे निमित्तभूत रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत जीवके साथ ही होता है, यदि ऐसा माना जावे तो जिस प्रकार लालरङ्गरूप परिणमन परस्पर मिले हुए हलदी और चूना दोनोंका ही है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोंका ही है, ऐसा मानना पड़ेगा और यह इष्ट नहीं, क्योंकि चूना और हलदी दोनों ही एक पुद्गलद्रव्य हैं, अतः उन दोनोंका एकरूप परिणमन हो जाता है, इसमें कोई बाधा नहीं, परन्तु यहाँ तो जीव और पुद्गल दो विजातीय द्रव्य हैं, इनका एकरूप परिणमन होना असंभव है। अतः ज्ञानावरणादिरूप केवल पुद्गलद्रव्यका ही परिणाम है और वह रागादिरूप परिणत जीवसे भिन्न केवल पुद्गलद्रव्यका ही परिणाम है ॥१३९।१४०॥

आगे शिष्यका प्रश्न है कि आत्मामे कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं ? इसका उत्तर नय-विभागसे देते हैं—

जीवे कम्म बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

अर्थ—कर्म, जीवमे बँधा हुआ भी है और उसे स्पर्शता भी है, ऐसा व्यवहारनयका कथन है। परन्तु शुद्धनयका वचन है कि कर्म जीवमें न बँधा हुआ है और न उसे स्पर्शता भी है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गलकर्म इन दोनोंमें एक बन्धपर्यायकी दृष्टिसे यदि परामर्श किया जावे तो अत्यन्त भेदका अभाव है। अर्थात् भेद तो है परन्तु बन्ध होनेसे वर्तमानमें भेदका अभाव है, इससे जीवके साथ कर्मोका बन्ध भी है और स्पर्श भी है, ऐसा व्यवहार-नयका पक्ष है और निश्चयदृष्टिसे देखा जावे तो जीव और पुद्गलकर्म भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अतएव उनमें परस्पर अत्यन्त भिन्नपन है. इसीसे जीवके साथ पुद्गलकर्मका न तो बन्ध है और न स्पर्श ॥१४१॥

आगे इससे क्या सिद्ध हुआ, यह दिखाते हैं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

अर्थ—जीवके साथ कर्मोका बन्ध भी है और अबन्ध भी है, इस प्रकार नयपक्ष जानो और जो इस नयपक्षका अतिक्रमण करने वाला है वह समयसार कहा जाता है॥

विशेषार्थ—जीवके साथ कर्मोका बन्ध है और जीवके साथ कर्मोका अबन्ध है, यह जो दो विकल्प हैं वह दोनों ही नयपक्ष है। जो पुरुष इन दोनों ही नयोंका अतिक्रमण करता है वही पुरुष सकल विकल्पोका अतिक्रमण करता हुआ स्वय निर्विकल्प तथा एक विज्ञानघन स्वभाव होकर साक्षात् सम्यक् रीतिसे समयसार होता है। यहाँपर जो प्रथम ही यह विकल्प करता है कि जीवमे कर्म बँधे हैं वह, "जीवमे कर्म नहीं बँधे हैं" इस पक्षका अति-क्रमण करता हुआ भी, विकल्पका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। और जो जीवमे कर्म नहीं बँधे हैं, ऐसा विकल्प करता है वह, "जीवमें कर्म बँधे है" इस पक्षका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त विकल्पका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। और जो जीवमें कर्म बद्ध भी हैं और अबद्ध भी हैं ऐसे दो विकल्प करता है वह, दोनों पक्षोंका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त दोनों विकल्पोंका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। इससे जो समस्त नयपक्षोंका अतिक्रमण करता है वही पुरुष समस्त विकल्पोंका अतिक्रमण करता है और जो समस्त विकल्पोका अतिकमण करता है वही वास्तवमें समयसारको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक अवस्थामें ही नाना प्रकारके विकल्पजाल हैं, मोहका अभाव होनेपर जब यह

आत्मा स्वकीय स्वरूपमें लयको प्राप्त हो जाता है तब इन नयोंके द्वारा होनेवाले नाना विकल्प अपने आप अभावरूप हो जाते हैं। यदि ऐसा है तो कौन पुरुष इन नयपक्षोंके त्यागकी भावना नहीं करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे ॥१४२॥

यही अभिप्राय श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलश-काव्योंमें प्रकट करते हैं—

उपेन्द्रवज्राछन्द

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

अर्थ—जो महापुरुष नयपक्षको छोड़कर स्वरूपमें लीन होते हुए निरन्तर अपने आपमें निवास करते हैं वे ही विकल्पजालसे च्युत होकर शान्त चित्त होते हुए साक्षात् अमृतका पान करते हैं ॥६९॥

उपजातिछन्द

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

अर्थ—चेतन—आत्माके विषयमें एक नयका कहना है कि वह कर्मोंसे बद्ध है और दूसरे नयका कहना है कि वह कर्मोंसे बद्ध नहीं है। इस तरह दो नयोंके ये दो पक्ष हैं। जो इस पद्धतिका अनुसरण करते हैं अर्थात् इन दोनों नयोंमें अन्यतर नयके पक्षपाती हैं वे तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी हैं वे वह पक्षपातसे शून्य हैं। उनके सिद्धान्तमें तो चेतन—आत्मा चिन्मात्र ही है ॥७०॥

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥

अर्थ—एक नयका तो यह पक्ष है कि आत्मा मोही है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा मोही नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें मोही और अमोही ये दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जिसके पक्षपात नहीं, वह तत्त्वज्ञानी है तथा उसके सिद्धान्तमें चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य ही निश्चयसे चिन्मात्र ही है ॥७१॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥

अर्थ—एक नयका पक्ष है कि आत्मा रागी है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा

रागी नहीं है। इस तरह एक ही आत्माके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। परन्तु जो पक्षपातसे रहित तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्तमें चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चयसे नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७२॥

एकस्य द्विष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी है और इसके विपरीत पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी नहीं है। इस तरह दोके दो पक्षपात हैं। और जिसका नयपक्षपात मिट गया वह तत्त्ववेदी—तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्तमें आत्मा नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७३॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा कर्ता है और इससे विरुद्ध पक्षवालेका कहना है कि आत्मा अकर्ता है। इस तरह एक चेतनामें दो नयवालोंके दो पक्ष हैं। और जो पक्षपातके जालसे च्युत तत्त्वज्ञानी हैं उनका कहना है कि इन औपाधिक भावोंका त्यागकर देखा जावे तो आत्मा नित्य ही चिन्मात्र है ॥७४॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥

अर्थ—एक नयवालेका कहना है कि आत्मा भोक्ता है और इससे इतर पक्षवालेका यह कहना है कि आत्मा भोक्ता नहीं है। इस पद्धतिसे एक ही चेतनामें दो नय माननेवालोंके भिन्न-भिन्न तरहके दो पक्षपात है। परन्तु जो इन नयविकल्पोंके जालसे मुक्त है वह तत्त्व-ज्ञानी है। उसका यह सिद्धान्त है कि चेतना तो नित्य चेतना ही है।।७५॥

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥

अर्थ—एक नयका यह मत है कि जीव है और अन्य नयका कहना है कि जीव नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें दो तरहके विकल्प हैं। परन्तु जिसकापक्षपात चला गया है

और तत्त्वज्ञान जिसके हो गया है उसके सिद्धान्तके अनुकूल यह दोनों ही विकल्प नीचली अवस्थामें हैं। परमार्थसे आत्मा तो नित्य ही चिन्मात्र है, उसका कोई कालमें विघात नहीं होता ॥७६॥

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा सूक्ष्म है तथा अपरनयका कहना है कि सूक्ष्म नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें उभयनयोंके दो पक्षपात हैं। परन्तु जो विकल्पजालके पक्षपातसे मुक्त तत्त्वज्ञानी हैं उनके सिद्धान्तमें नित्य ही चेतना, चेतनामात्र ही है ॥७७॥

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८ ॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप है और इससे भिन्न पक्षका कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें दोनों नयोंके द्वारा दो तरहके धर्मोंका कथन किया जाता है, किन्तु जिसका चित्त विकल्पजालके अभावसे शान्त हो गया है और इसीसे जिसे तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि हो गई है उसका यह कहना है कि आत्मा निश्चयसे नित्य ही चेतनामात्र है ॥७८॥

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७९ ॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा कार्यभूत है और अन्यका कहना है कि आत्मा कार्यरूप नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें दोनों नयों द्वारा दो तरहके धर्मोंका आरोप किया जाता है। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी विकल्पजालके चक्रसे बाह्य है उसका कहना है कि चेतना तो नित्य निश्चयसे चेतना ही है ॥७९॥

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८० ॥

अर्थ—एक नयवाला कहता है कि आत्मा तो भावस्वरूप है तब ठीक इसके विरुद्ध

पक्षवाला भिन्न नयका अवलम्बन कर 'आत्मा भावरूप नहीं है' ऐसा कथन करता है। और जिसने समस्त विकल्पजालोंको दूरकर शान्तताका अनुभव किया है, उसके तत्त्वज्ञानसे न भावरूप है और न अभावरूप है वह तो नित्य ही निश्चयकर चेतनात्मक हो है ॥८०॥

एकस्य चैको न तथा परस्य
　चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
　स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा एकरूप है और एक नयका कहना है कि आत्मा एकरूप नहीं है। ऐसे एक ही आत्मामे उभयनय एक-अनेकरूपसे निरूपण करते हैं। परन्तु जिसका पक्षपात चला गया है तथा जो तत्त्वका जाननेवाला है उसके सिद्धान्तमें निश्चयसे चेतना चेतनारूप ही है ॥८१॥

एकस्य शान्तो न तथा परस्य
　चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
　स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा शान्त है, इससे भिन्न नयका कहना है कि आत्मा अशान्त है, ऐसे उभयनय एक ही आत्माका शान्त[1] और अशान्त रूपसे कथन करते हैं। परन्तु जो पक्षपातके जालसे दूर है और तत्त्वज्ञानवाला है उसका कहना है कि चित् तो चित्रूप ही है ॥८२॥

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
　चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
　स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा सर्वदैव नित्य है और इससे विरुद्ध आदेश करनेवाले नयका कथन है कि आत्मा अनित्य है। इस तरह एक ही आत्मामे दोनों नय नित्य और अनित्यरूपसे निरूपण करते हैं। परन्तु जिसके तत्त्वज्ञान हो गया है और जो नयोंके विकल्प जालसे दूर है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है, ये सब विकल्प नय-दृष्टिसे हैं, परमार्थसे वस्तु सर्वविकल्पातीत है ॥८३॥

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
　चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

१-२ सान्त और असान्त भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ अन्तसहित और अन्तरहित होता है।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा वाच्य है क्योंकि वाचक द्वारा इसका कथन होता है और अन्य नयका आदेश है कि आत्मा अवाच्य है, क्योंकि परमार्थसे आत्माका वास्तविक कथन शब्दके अगोचर है। इस तरह एक ही आत्मा वाच्य और अवाच्य दो रूपसे दोनों नयों द्वारा कहा जाता है, परन्तु जो विकल्पजालसे परे है तथा तत्त्वज्ञानका आस्वादी है उसका कहना है चित्-आत्मा तो चिद्रूप ही है, यह विकल्प केवल शिष्य-सम्बोधनके अर्थ हैं ॥८४॥

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

अर्थ—एक नयका इस प्रकार कथन है कि आत्मा नाना हैं क्योंकि अनेक प्रकारसे उसमे नाना प्रकार के धर्मोंका कथन होता है। इससे भिन्न नयका कथन है कि आत्मा नाना नहीं है क्योंकि अनेक प्रकारसे कथन होने पर भी वह एकरूपताको नहीं छोडता। इस तरह एक ही आत्मामे अनेक और एक धर्मोंका दो नयों द्वारा निरूपण किया जाता है। परन्तु जो विकल्पजालसे च्युत है तथा तत्त्वज्ञानी है उसका कहना है कि आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८५॥

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा चेत्य है—जाननेके योग्य है और अपर नयका कहना है कि आत्मा इससे भिन्नरूप है, ऐसा उभयनयोका चेत्य और अचेत्य रूपसे कथन होता है। परन्तु जो विकल्पजालके फन्देसे निकल गया है तथा तत्त्वको जानता है वह कहता है कि इन विकल्पोंको छोड़ो। वह चेतनात्मक आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८६॥

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा दृश्य है क्योंकि अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासमान हो रहा है और अन्य नयका कहना है कि आत्मा दृश्य नहीं है क्योंकि बहिःपदार्थको

विषय करनेवाले ज्ञानका विषय नहीं है। इस रीतिसे एक ही आत्मामें दृश्य और अदृश्य दो तरहके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले दो नय हैं। किन्तु जिसकी तत्त्वज्ञानदृष्टिसे यह विकल्पजाल छिन्न-भिन्न हो गया है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है ॥८७॥

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा वेद्य है, क्योंकि स्वसंवेदनका विषय है और इससे भिन्न नयका कहना है कि आत्मा वेद्य नहीं है। ऐसे एक ही आत्माको वेद्य और अवेद्यरूपसे निरूपित करनेवाले दो नय हैं। परन्तु जो विकल्पजालसे पृथक् है और तत्त्वज्ञानके मधुर स्वादका अनुभवी है वह कहता है कि इन विकल्पोंको छोड़ो, आत्मा तो आत्मा ही है ॥८८॥

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा भात है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान है और अन्य नयका कहना है कि आत्मा भात नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान नहीं है। ऐसे दो नयों द्वारा दो तरहका भात-अभात कथन होता है। परन्तु जो महान् पुरुष इस विकल्पजालके चक्रसे छूट गया है और तात्त्विक ज्ञान वाला है उसका यह कहना है कि चिद् चिद्रूप ही है ॥८९॥

वसन्ततिलकाछन्द

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुष, जिसमें स्वेच्छासे समन्तात् नाना प्रकारके विकल्पजाल उदित हो रहे हैं ऐसी विशाल नयपक्षरूपी अटवीको लाँघकर भीतर और बाहर एक वीतराग परिणति ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र अद्वितीय निजभावको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

रथोद्धताछन्द

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्मह ॥९१॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मैं चिन्मात्र वह तेज हूँ कि जिसकी चमक उठते हुए बहुत भारी विकल्पोंकी परम्परासे सुशोभित इस प्रकारके इस समस्त इन्द्र-जालको तत्काल नष्ट कर देती है ॥

भावार्थ—स्वार्थ और परार्थके भेदसे ज्ञानके दो भेद है। इनमे मति, अवधि, मनः-पर्याय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ ही हैं अर्थात् इनका प्रयोजन स्वकीय अज्ञानका अपहरण करना ही है। और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है तथा परार्थ भी। परार्थका अर्थ अन्यके अज्ञान-तिमिरको दूर करना है। नय इसी परार्थ श्रुतज्ञानके विकल्प हैं। आचार्योंने परकीय अज्ञानको दूर करनेके लिये नाना प्रकारसे वस्तुधर्मोंका प्रतिपादन किया है। वस्तुधर्मके प्रति-पादनकी इसी पद्धतिमे आचार्यने बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ, रागी-विरागी, द्वषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-असान्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य अवेद्य, और भात-अभात ये नयपक्ष दिखलाये है। नय, वस्तु-स्वरूपको समझने और समझानेका एक साधन मात्र है, वस्तु नही है, वस्तु तो नयपक्षोके विकल्पसे दूर है। इसलिये तत्त्वज्ञानी मनुष्य इन नयपक्षोको, जो कि एक बडी अटवीके समान हैं, उल्लङ्घकर शुद्ध स्वभावकी ही शरणको प्राप्त होता है। उस शुद्ध स्वभावकी शरणको प्राप्त करनेके लिये ज्ञानी जीव निरन्तर ऐसा चिन्तन करता है कि मै तो चिन्मात्र तेजका वह पुञ्ज हूँ जिसकी एक ही कौंद नयपक्षोके आश्रयसे उठने वाले नाना विकल्पोंके इन्द्रजालको तत्काल नष्ट कर देती है। इस प्रकारके चिन्तनसे ज्ञानी जीव स्वीय स्वभावको प्राप्त होता है ॥९१॥

आगे पक्षातिक्रान्त पुरुषका क्या स्वरूप है ? यही दिखाते है—

दोह्व वि णयाण भणिय जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्ख गिह्वदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

अर्थ—शुद्ध आत्मस्वरूपमे लीन रहने वाला जो पुरुष दोनो नयोंके कथनको जानता तो है किन्तु किसी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता है वही नयपक्षसे रहित है अर्थात् पक्षाति-क्रान्त है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार केवली भगवान् विश्वके साक्षीभूत अर्थात् समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनय और निश्चयनयके पक्षका केवल स्वरूप जानते हैं परन्तु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि केवली भगवान् निरन्तर उदयरूप स्वभाविक निर्मल सकल केवलज्ञान स्वभाववाले हैं, इसीलिये नित्य ही अपने आप विज्ञानघनस्वभाव हैं और इसीसे श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अतिक्रान्त होनेके कारण समस्त नयपक्षोंके ग्रहण करनेसे दूर हैं। इसी प्रकार जो श्रुतज्ञानी हैं वे भी श्रुतज्ञानके अवयव-

भूत व्यवहार और निश्चयनयके पक्षको केवल जानते हैं, किसी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। यद्यपि उनके श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जायमान श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठते हैं परन्तु परपदार्थोंके ग्रहण-विषयक उत्सुकताके दूर हो जानेसे वे उन विकल्पोंकी ओर लक्ष्य नहीं देते। श्रुतज्ञानी नयपक्षका ग्रहण नहीं करते, इसका कारण यह है कि वे अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टिसे गृहीत-निरुपाधि, नित्योदित एव चैतन्यमय शुद्ध आत्मस्वरूपमें प्रतिबद्ध होनेके कारण उस कालमें अपने आप विज्ञानघनस्वरूप हो रहे हैं तथा श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पोंकी भूमिकासे परे होनेके कारण समस्त नयपक्षके परिग्रहसे दूरीभूत हैं। निश्चयसे ऐसा श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पोंसे अत्यन्त परे है, वही परमात्मा है, वही ज्ञानात्मा है, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप भी वही है, आत्मख्यातिस्वरूप भी वही है और वही अनुभूतिमात्र समयसार है। यहाँ कहनेका यह तात्पर्य है कि जैसे केवली भगवान् सब नयोंके ज्ञाता-द्रष्टा हैं, परन्तु मोहका अभाव होनेसे किसी भी पक्षको ग्रहण नहीं करते, केवल उनके दिव्यज्ञानमे सम्पूर्ण पदार्थ अनायास प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसे ही श्रुतज्ञानी भी जब वस्तुस्वरूपको सर्वनयपक्षका त्यागकर शुद्धरूपसे अनुभवता है तब नयपक्षका ज्ञाता ही है। सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्पदशामे भी एक नयपक्षको ग्रहण नहीं करता है। यदि सर्वथा एक पक्षको ग्रहण करे तो मिथ्यादृष्टि हो जावे, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु नित्यानित्यात्मक है, जो कि प्रमाणका विषय है। अतः श्रुतज्ञानी भी यथार्थ वस्तुका अवगमन करनेसे नयपक्षरहित ही है ॥१४३॥

आगे श्रुतज्ञानी जैसा अनुभव करता है वह कलशाके द्वारा दिखलाते है—

स्वागताछन्द

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अर्थ—श्रुतज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं समस्त बन्धपद्धतिको त्यागकर उस अपार समयसारका अनुभव करता हूँ जो चैतन्यस्वभावके समूह हो में होनेवाले भाव—उत्पाद, अभाव—व्यय और भाव—ध्रौव्यकी परमार्थतासे एक है।

भावार्थ—यद्यपि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके कारण समयसारमे त्रिरूपता आती है, परन्तु वह उत्पादादिकका त्रिक एक चैतन्यस्वभावमे होता है, इसलिये समयसारकी एकरूपता, खण्डित नहीं होती ॥९२॥

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है, यह स्थित हुआ, यही दिखाते हैं—

सम्मद्दसण-णाणं एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण नयपक्षसे रहित है वही समयसार कहा गया है। विशेषता यह है कि यह समयसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—समस्त नयपक्षोंके द्वारा अक्षुण्ण होनेके कारण जिसमें समस्त विकल्पोंका व्यापार विश्रान्त हो चुका है, ऐसा जो आत्माका परिणाम है वही समयसार है। यह समयसार एक होकर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानके बलसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चयकर तदनन्तर शुद्धात्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिये परख्याति—परद्रव्यानुभूतिके कारणभूत समस्त इन्द्रिय और मन सम्बन्धी बुद्धिको तिरस्कृत कर जिसने मतिज्ञानतत्त्वको आत्माके सम्मुख किया है तथा नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलम्बन द्वारा अनेक विकल्पोंसे आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञानरूप बुद्धिको भी गौणकर जो श्रुतज्ञानके तत्त्वको भी आत्माभिमुख करता हुआ जो अत्यन्त निर्विकल्प हो गया है, ऐसा आत्मा ही स्वभावसे शीघ्र प्रकट होनेवाले, आदि, मध्य और अन्तसे विमुक्त, आकुलतारहित, एक होनेपर भी समस्त विश्वके ऊपर तैरते हुएके समान स्थित, अखण्ड प्रतिभाससे सहित, विज्ञान-ज्ञान तथा परमात्मास्वरूप समयसारको प्राप्त करता हुआ सम्यक् प्रकारसे देखा जाता है—श्रद्धान किया जाता है तथा जाना जाता है। इसलिये जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वह समयसार ही है ॥१४४॥

अब इसी भावको कलशकाव्योंके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

अर्थ—नयोंके पक्षके विना अविनाशी, अविकल्पभावको प्राप्त, निश्चल, मनुष्योंके द्वारा स्वयं अनुभवमें आनेवाला तथा विज्ञानस्वरूप एकरससे युक्त जो यह समयसार सुशोभित हो रहा है वही यह भगवान् है, वही सनातन पुण्यपुरुष है, उसे चाहे ज्ञान कहो, चाहे दर्शन कहो, अथवा जो चाहो सो कहो, वह एक ही इन सब शब्दोंसे व्यपदेशको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्धपरिणतिरूप उस समयसारकी महिमा गाई गई है जिसमें नयोंका पक्ष छूट जानेसे स्थायी अविकल्पदशाकी प्राप्ति हो जाती है, विकल्पजालसे रहित, निश्चल, मनुष्योंको जिसका अनुभव स्वयं होने लगता है, तथा जिसमें रागादिविकारी भावोंकी पुट निकल जानेसे एक ज्ञानरूप रस ही शेष रह जाता है। इसी समयसारको भगवान् कहते हैं, यही पुण्य पुराणपुरुष अर्थात् परमात्मा कहलाता है, गुण और गुणीमें अभेद दृष्टि होनेसे इसे ही ज्ञान कहते हैं, दर्शन कहते हैं, अथवा सुख तथा वीर्य आदिकी प्रधानतासे जिस गुणरूप कहना चाहें, कह सकते हैं। इस तरह नामोंकी विभिन्नता होनेपर भी यह प्रतिपाद्यरूपसे एक ही है ॥९३॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

अर्थ—यह आत्मा अपने गुणोंके समूहसे च्युत हो बहुत भारी विकल्पोंके जालरूपी वनमें दूरतक भ्रमण कर रहा था—भटक रहा था, सो विवेकरूपी नीचले मार्गमें गमन करनेसे बलपूर्वक बड़ी दूरसे लाकर पुनः अपने गुणोंके समूहमे मिला दिया गया है, इसमे एकविज्ञानरस ही शेष रह गया है, यह एक विज्ञानरूपी रसके रसिक मनुष्योंकी आत्माको हरण करता है तथा जलके समान सदा आत्मामें ही लीनताको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जब यह आत्मा मोहके वशीभूत हो अपने चित्पिण्डसे च्युत होकर बहुत प्रकार विकल्पजालके वनमे भ्रमण करने लगा तब उस विज्ञानरसके जो रसिक थे उन्होंने विवेकरूप निम्नमार्गसे लाकर बलपूर्वक अपने चित्पिण्डमे ही मिला दिया। जैसे समुद्रका जो जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इतस्ततः बरसता है। पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियोंके द्वारा अन्तमे समुद्रका समुद्रमे मिल जाता है। ऐसे ही आत्माकी परिणति मोहकर्मके विपाकसे रागद्वेष द्वारा निखिल परपदार्थोंमें फैल जाती है और जब मोहका अन्त हो जाता है तब भेदज्ञानके बलसे परसे विरक्त हो अपने ही चित्पिण्डमें मिल जाती है।।९४।।

अनुष्टुप्छन्द

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

अर्थ—विकल्प करनेवाला केवल कर्ता है, और विकल्प केवल कर्म है। विकल्पसहित मनुष्यका कर्तृकर्मभाव कभी नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—स्वभावसे आत्मा ज्ञायक है, मोही, या रागी, द्वेषी नहीं है। परन्तु अनादि-कालसे इसके ज्ञानके साथ जो मोहकी पुट लग रही है उसके प्रभावसे यह नानाप्रकारके विकल्प उठाकर उनका कर्ता बन रहा है तथा वे ही विकल्प इसके कर्म हो रहे हैं। जब ज्ञानसे मोहकी पुट दूर हो तब इसका कर्तृ-कर्मभाव नष्ट हो। इसीलिये कहा गया है कि मोहके उदयसे जिसकी आत्मामे नाना विकल्प उठ रहे हैं उसका कर्तृ-कर्मभाव कभी नष्ट नहीं होता ।।९५।।

रथोद्धताछन्द

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है, और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कहीं जानता नहीं है और जो जानता है वह कहीं करता नहीं है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्ध दशा तथा मोहमिश्रित अशुद्धदशाका युगपत् वर्णन किया गया है। आत्माकी शुद्ध दशा वह है जिससे मोहका प्रभाव बाहिभूत हो गया है। और अशुद्ध दशा वह है जिसमे मोहका प्रभाव सवलित है। आत्मा स्वभावसे ज्ञायक ही है कर्ता नहीं, उसमे जो कर्तृत्वका भाव आता है वह मोहनिमित्तक ही है। इसीलिये यहाँपर कहा गया है कि जो करता है वह करता ही है, जानता नहीं है अर्थात् मोहमिश्रित दशा कर्तृत्वका अहकार ही लाती है, पदार्थको जानती नहीं है। जो जानता है वह जानता ही है करता नहीं है अर्थात् शुद्ध दशामें कर्तृत्वका भाव निकल जाता है, केवल ज्ञायकभाव शेष रह जाता है ॥९६॥

इन्द्रवज्राछन्द

ज्ञप्ति करोतौ न हि भासतेऽन्तर्ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त ।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति तत स्थित च ॥९७॥

अर्थ—जाननेरूप जो क्रिया है वह करनेरूप क्रियाके अन्तः मे भासमान नहीं होती है और जो करनेरूप क्रिया है वह जाननेरूप क्रियाके मध्यमे प्रतिभासमान नही होती है, क्योंकि करोति और ज्ञप्ति क्रियाएँ भिन्न-भिन्न है। इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे मोहमिश्रितदशाका अनुभव कर रहा है अर्थात् इस जीवकी ज्ञानधारा अनादिकालसे मोहधारासे मिश्रित हो रही है। ज्ञानधाराका कार्य पदार्थको जानना है और मोहधाराका कार्य आत्माको परका कर्ता-धर्ता बनाकर उनमे इष्टा-निष्टबुद्धि उत्पन्न करना है। यहाँ इन दोनो धाराओंका पृथक्-पृथक् कार्य बताया गया है अर्थात् ज्ञानधाराका कार्य जो जानना है उसमे मोहधाराका कार्य जो कर्तृत्वका भाव है वह नहीं है और मोहधाराके कार्यमे ज्ञानधाराका कार्य नहीं है। सम्यग्ज्ञानी जीव इन दोनो धाराओंके अन्तरको समझता है, इसलिये वह पदार्थका ज्ञाता तो होता है परन्तु कर्ता नहीं होता ॥९७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियत कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्व विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थिति ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अर्थ—निश्चयसे कर्ता कर्ममें नहीं है और कर्म भी कर्तामे नहीं है। जब कर्ता और कर्म इस द्वैतका ही निषेध किया जाता है तब कर्ता और कर्मकी क्या स्थिति रह जाती है? ज्ञाता ज्ञातामे रहता है और कर्म कर्ममें रहता है, यह सदासे वस्तुकी मर्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह मोह परदाके भीतर वेगसे क्यों अतिशय नृत्य कर रहा है, यह खेदका विषय है।

भावार्थ—'ज्ञाता ज्ञेयको जानता है' यहाँ ज्ञाता कर्ता है और ज्ञेय कर्म है। जब वस्तु-स्वरूपकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब ज्ञाता ज्ञाता ही रहता है, ज्ञेयरूप नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, ज्ञातारूप नहीं हो जाता, मात्र ज्ञाताके ज्ञानगुणकी स्वच्छतासे ज्ञेय उसमें प्रतिभासमान होता है, तद्रूप नहीं हो जाता। यह ज्ञाता और ज्ञेय अथवा कर्ता और कर्मकी व्यवस्था है। इच्छापूर्वक पदार्थको जाननेका विकल्प तभी तक बनता है जब तक इच्छाके जनक मोहकर्मका विपाक विद्यमान रहता है। मोहको विपाकदशा समाप्त होनेपर 'कौन ज्ञाता है कौन ज्ञेय है' यह विकल्प अपने आप शान्त हो जाता है। जब यह विकल्प ही मिट गया तब कर्ता और कर्मकी स्थिति भी स्वयं मिट गई। इस तरह वस्तुस्वरूपकी यह मर्यादा अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञाता ज्ञातामे ही रहता है और कर्म कर्ममे ही रहता है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेयमे ही रहता है। परन्तु यह अनादिकालीन मोह परदाके भीतर अपना नाट्य दिखलाकर लोगोको मुग्ध कर रहा है, यह खेदकी बात है। अत्यन्त स्पष्ट वस्तुस्वरूपको लोग मोहके वश न समझ सके, यह खेदका विषय है ही ॥९८॥

अथवा मोह भले ही नृत्य करता रहे तो भी वस्तुका स्वरूप यथावस्थ रहता है, यही कलश द्वारा कहते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

अर्थ—जिसके अन्तस्तलमे चैतन्यशक्तियोंके समूहके भारसे देदीप्यमान, अविनाशी, उत्कृष्ट तथा अत्यन्त गंभीर यह ज्ञानज्योति प्रकट हो चुकी है कि जिसके प्रभावसे कर्ता कर्ता नहीं रहता, कर्म कर्म नहीं रहता, ज्ञान ज्ञान ही हो जाता है और पुद्गल पुद्गल ही हो जाता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि मोह भले ही परदाके अन्दर अपना नाट्य दिखलाता रहे तो भी हमारे हृदयमे वह उत्कृष्ट ज्ञानज्योति प्रकट हो गई है जो अतिशय देदीप्यमान है, अविनाशी है, तथा अत्यन्त गम्भीर है। यह ज्ञानज्योति कहीं बाहरसे नहीं आई है, किन्तु हमारी ही चैतन्यशक्तियोंके भारसे अपने आप प्रकट हुई है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकाशमें कर्ता कर्ता नहीं रह गया है और कर्म कर्म नहीं रह गया है अर्थात् कर्तृकर्मका भाव समाप्त हो गया है—ज्ञाता-ज्ञेयका विकल्प विलीन हो गया है, अब ज्ञान ज्ञानरूप ही रह गया है और पुद्गल पुद्गलरूप ही ॥९९॥

इस प्रकार जीव और अजीव कर्ता और कर्मका वेष छोड़कर बाहर निकल गये।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयप्राभृतके
कर्तृकर्माधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ ॥ २ ॥

●

३ पुण्यपापाधिकार

अब एक ही कर्म दो पात्र बनकर पुण्य और पापके रूपसे प्रवेश करते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

अर्थ—तदनन्तर कर्तृकर्मका सम्यक् प्रकारसे निर्णय होनेपर जो शुभ-अशुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मको एकत्व प्राप्त करा रहा है तथा जिसने बहुत भारी मोहरूपी धूलिको नष्ट कर दिया है, ऐसा सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका प्रवाह अपने आप प्रकट होता है।

भावार्थ—कर्तृकर्माधिकारमें निरूपित पद्धतिके अनुसार जब इस जीवको सम्यक् प्रकारसे कर्ता और कर्मका निर्णय हो चुकता है तब इसके हृदयमे सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका झरना स्वयमेव फूट पड़ता है। वह अमृतका झरना शुभाशुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मको एकत्व प्राप्त कराता है अर्थात् बतलाता है कि कर्म दो नहीं हैं किन्तु एक ही है तथा मोहरूपी जो बहुत भारी धूलि उठ रही थी उसे शान्त कर देता है ॥१००॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा पुण्य और पापकी एकरूपता सिद्ध करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

अर्थ—एक शूद्राके उदरसे एकसाथ दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे एक पुत्रका पोषण ब्राह्मणीने किया और एक पुत्र शूद्राके घर ही पुष्ट हुआ। जिसका पोषण ब्राह्मणीने किया था वह अपने आपको ब्राह्मण मानकर मदिराको दूरसे ही छोड़ता है अर्थात् उसका स्पर्श भी नहीं करता। और दूसरा पुत्र 'मैं तो शूद्र हूँ' ऐसा मानकर उस मदिरासे ही नित्य स्नान करता है अर्थात् उसके सेवनमें उसे किसी प्रकारका सकोच नहीं है। परमार्थदृष्टिसे देखा जावे तो दोनों पुत्र शूद्राके उदरसे एक साथ निकले हैं, इसलिये साक्षात् शूद्र ही हैं, जातिभेदके भ्रमसे वे उस प्रकारका आचरण करते हैं।

भावार्थ—विभावपरिणतिसे जो कर्म आता है वह दो प्रकारका दृष्टिगोचर होने लगता है—एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यकर्म प्रशस्त है और पापकर्म अप्रशस्त है। एक सांसारिक सुखका कारण है और दूसरा सांसारिक दुःखका कारण है। परन्तु परमार्थदृष्टिसे विचार करनेपर दोनों विभावपरिणतिके कार्य होनेसे संसारबन्धन ही के कारण हैं। इसीलिये विवेकी जीव दोनोंको एक समझता है ॥१०१॥

आगे शुभाशुभकर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अर्थ—कितने ही लोग कहते हैं कि अशुभकर्मका कुत्सित स्वभाववाला और शुभ-कर्मको उत्तम स्वभाववाला जानो। परन्तु जो प्राणीको संसारमें प्रविष्ट कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—कितने ही महानुभावोंका कहना है कि यद्यपि कर्म एक है तो भी शुभ और अशुभके भेदसे वह दो प्रकारका है क्योंकि दोनोंमें कारणभेद, स्वभावभेद, अनुभवभेद और आश्रयभेद देखा जाता है। जो इस प्रकार है—शुभकर्मकी उत्पत्तिमें जीवके शुभ परिणाम निमित्त है और अशुभकर्ममें जीवके अशुभ परिणाम निमित्त हैं। इसतरह दोनोंमें कारणभेद है। शुभकर्म शुभपुद्गलपरिणाममय है और अशुभकर्म अशुभपुद्गलपरिणाम-मय है। इस तरह दोनोंमें स्वभावभेद है। शुभकर्मका पाक शुभरूप होता है—सुखदायक होता है और अशुभकर्मका फल अशुभरूप होता है—दुःखदायक होता है। इस तरह दोनोंमें अनुभवभेद है। और शुभकर्म मोक्षमार्गके आश्रित है तथा अशुभकर्म बन्धमार्गके आश्रित है। इसलिये दोनोंमें आश्रयभेद है।

परन्तु उन महानुभावोंका यह पक्ष प्रतिपक्षसे सहित है—विरोधयुक्त है। यही दिखाते हैं—जीवपरिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं। इस तरह दोनोंमें एकपन होनेसे शुभ-अशुभकर्मोंके कारणोंमें भेद नहीं रहा, अतः कर्म एक है। पुद्गलपरिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल पुद्गलमय है। इस तरह दोनोंमें एकपन होनेसे स्वभावमें भेद नहीं रहा, अतः कर्म एक है। कर्मका पाक चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल पुद्गलमय हैं। इस तरह दोनोंमें एकपन होनेसे अनुभवमें भेद नहीं रहा, अतः कर्म एक है। मोक्षमार्ग शुभ है और बन्धमार्ग अशुभ है। तथा मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिये दोनों अनेक हैं—पृथक्-पृथक् हैं। इस तरह दोनोंमें अनेकपन होनेपर भी कर्म केवल पुद्गलमय बन्धमार्गके आश्रित है। इसलिये शुभाशुभ कर्मका एक ही आश्रय होनेसे कर्म एक है।

इसी बातको कलशामे स्पष्ट करते है—

उपजातिछन्द

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणा
सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेद ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्ट
स्वय समस्त खलु बन्धहेतु ॥१०२॥

अर्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारोकी अभिन्नतासे कर्ममें भिन्नता नहीं है। बन्धमार्गके आश्रयसे वह कर्म एक ही प्रकारका माना गया है क्योकि चाहे शुभ-कर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, सब प्रकारका कर्म निश्चयसे स्वय ही बन्धका कारण है ॥

भावार्थ—शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोके हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रयमें भेद नहीं है, इसलिये कर्मोमे शुभाशुभका भेद नही है। किन्तु दोनो ही कर्म बन्धमार्गके आश्रित होनेसे एक ही हैं ॥१०२॥

अब दोनो प्रकारके कर्म समानरूपसे बन्धके कारण हैं, यह सिद्ध करते हैं—

सौवण्णिय पि णियल बधदि कालायस पि जह पुरिस ।
बधदि एव जीव सुहमसुह वा कद कम्म ॥ १४६ ॥

अर्थ—जैसे लोहेकी बेडी पुरुषको बाँधती है वैसे ही सुवर्णकी बेडी भी पुरुषको बाँधती है। इमी पद्धतिसे चाहे शुभकर्म किया हो, चाहे अशुभ कर्म किया हो, दोनो ही कर्म पुरुषको बाँधते हैं।

विशेषार्थ—चाहे शुभकर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, विना किसी भेदके बन्धपनकी अविशेषतासे पुरुषका बाँधते है। जैसे सुवर्ण और लोहेकी बेडी ॥१४६॥

अब दोनो प्रकारके कर्मोका प्रतिषेध करते है—

तह्मा दु कुसीलेहि य राय मा कुणह मा व संसग्ग ।
साधीणो हि विणासो कुसीलससग्गरायेण ॥१४७॥

अर्थ—इसलिये उन दोनों कुशीलोसे न राग करो और न संसर्ग करो, क्योंकि कुशीलके संसर्ग और रागसे विनाश स्वाधीन है, अर्थात् विनाश होना निश्चित है।

विशेषार्थ—कुशील जो शुभ-अशुभ कर्म है उनके साथ न तो राग करो और न उनका संसर्ग करो, क्योंकि कुशीलके साथ राग और ससर्ग करनेसे विनाश निश्चित होता है। जिस प्रकार कुशीलहस्तिनीरूपी कुट्टिनी चाहे मनोरमा हो, चाहे अमनोरमा, दोनों प्रकारकी कुट्टनियोंका राग और संसर्ग हाथीके बन्धका कारण है उसी प्रकार कुशील कर्म चाहे शुभ

हो, चाहे अशुभ हो, दोनों प्रकारके कर्मोंका राग और संसर्ग पुरुषके बन्धका कारण है, इसलिये मोक्षमार्गमें दोनों ही निषिद्ध है ॥१४७॥

आगे दोनो कर्म प्रतिषेध्य हैं, यह दृष्टान्तद्वारा सिद्ध करते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसील जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समय संसग्ग रायकरण च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडी-सीलसहावं च कुच्छिद णाउ ।
वज्जति परिहरंति य तस्संसग्ग सहावरया ॥१४९॥

अर्थ—जिस तरह कोई पुरुष जब यह जान लेता है कि यह मनुष्य खोटे स्वभाववाला है तब उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड़ देता है। इसीतरह स्वभावमें रत रहनेवाले ज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिके शील—स्वभावको कुत्सित जानकर उसके साथ संसर्ग और रागको छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ—जैसे कोई अत्यन्त चतुर वनका हाथी अपने बाँधनेके लिये समीप आनेवाली चञ्चलमुखी हस्तिनीरूपी कुट्टिनीका चाहे वह सुन्दरी हो और चाहे असुन्दरी, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ न तो राग ही करता है और न संसर्ग ही करता है। वैसे ही रागरहित ज्ञानी पुरुष स्वकीय बन्धनके लिये उद्यत कर्मप्रकृतिको, चाहे वह शुभरूप हो और चाहे अशुभरूप हो, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ राग और संसर्ग दोनों ही त्याग देता है ॥१४८-१४९॥

अब दोनो कर्म बन्धके कारण तथा प्रतिषेध करने योग्य हैं, यह आगमके द्वारा सिद्ध करते हैं—

रत्तो बधदि कम्म मुंचदि जीवो विरागसपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

अर्थ—रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोड़ता है, यह श्री जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमे राग नहीं करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो रागी है वह अवश्य ही कर्मको बाँधता है और जो विरक्त है वही कर्मोंसे छूटता है, यह आगमका उपदेश है। यह आगमोपदेश सामान्यरूपसे रागीपनका निमित्त होनेसे शुभ-अशुभ दोनों प्रकारके कर्मको बन्धका हेतु सिद्ध करता है तथा दोनों प्रकारके कर्मोंका प्रतिषेध करता है। यहाँ रागको बन्धका कारण बताया गया है। जो राग है वही कषाय है। जब कषायका मन्दोदय होता है तब शुभकर्मका बन्ध होता है और जब कषायका तीव्रोदय होता है तब अशुभकर्मका बन्ध होता है। इस तरह शुभ व अशुभ दोनों कर्म, बन्धके कारण होनेसे निषेध करने योग्य हैं ॥१५०॥

श्री अमृतचन्द्र स्वामी इसी भावको कलशामे प्रकट करते है—

स्वागताछन्द

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्ध ज्ञानमेव विहित शिवहेतु ॥१०३॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् सभी कर्मोंको अविशेषरूपसे बन्धका कारण कहते है, इससे सभी कर्मोंका निषेध किया गया है और एक ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है ॥१०३॥

शिखरिणीछन्द

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनय. सन्त्यशरणा ।
तदा ज्ञाने ज्ञान प्रतिचरितमेषां हि शरण
स्वय विन्दन्त्येते परमममृत तत्र निरता ॥१०४॥

अर्थ—यहाँपर शङ्काकारका कहना है कि जब सभी प्रकारके कर्मका, चाहे वह शुभ हो, या अशुभ हो, निषेध बताया है तब निष्कर्म अवस्थाकी ही प्रवृत्ति होगी और ऐसा होने पर मुनि अशरण हो जावेगे, क्योंकि उन्हें करने योग्य कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते है कि नहीं भाई ! मुनि अशरण नहीं होते, क्योकि उस समय जो ज्ञानमें ही ज्ञानका आचरण होता है, वही मुनियोंके शरण है, उसमे लीन हुए मुनि स्वय ही परम अमृतको प्राप्त होते है—परमाह्लादको प्राप्त होते है अथवा उत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका निषेध किये जानेपर निष्कर्मा मुनि क्या करेगे ? वे तो अशरण हो जावेगे ? ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस समय कषायकी अत्यन्त मन्दता अथवा उसका सर्वथा अभाव हो जानेपर मुनियोका ज्ञान ज्ञानमे ही लीन रह जाता है अर्थात् ज्ञानमे चञ्चलता उत्पन्न करने वाले जो क्रोधादिक भाव थे उनका अभाव हो जानेसे ज्ञान अपने स्वरूपमे स्थिर हो जाता है । ऐसा ज्ञान ही मुनियोंके लिये शरणभूत है । इसमे लीन रहने वाले मुनि जिस अकथनीय आनन्दका प्राप्त होते हैं वह इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र वा अहमिन्द्रको भी दुर्लभ होता है ॥१०४॥

अनन्तर ज्ञानस्वभावमे स्थित मुनि मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह सिद्ध करते है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाण ॥१५१॥

अर्थ—निश्चयसे जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, और ज्ञानी है अर्थात् इन शब्दोंके द्वारा जिसका कथन होता है उस स्वभावमे स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

विशेषार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योंकि ज्ञान शुभ-अशुभकर्मोंके बन्धका कारण नहीं है। अतः वही मोक्षका कारण हो सकता है। जो बन्धका कारण है वह मोक्षका कारण नहीं हो सकता। वह ज्ञान कर्म-नोकर्म आदि समस्त विजातीय द्रव्योंसे पृथक् चैतन्य जातिमात्र होनेसे परमार्थ अर्थात् आत्मा कहलाता है। यहाँ गुण-गुणीमें अभेददृष्टिको अङ्गीकर गुण जो ज्ञान है उसे ही गुणी परमार्थ या आत्मा कहा गया है। वह आत्मा समय भी कहलाता है क्योंकि समय शब्दमे जो सम् उपसर्ग है उसका अर्थ एक कालमें प्रवर्तना है और अयधातु है उसका अर्थ ज्ञान और गमन दोनो है, इसतरह जो एक ही कालमें जानता भी है और परिणमनशील भी है अर्थात् जो युगपत् एकीभाव होकर ज्ञानक्रिया और परिणमनक्रिया कर रहा है वह समय कहलाता है। वह आत्मा सम्पूर्ण-नयपक्षोंसे असकीर्ण केवल एकज्ञानरूप हो रहा है इसलिये शुद्ध कहलाता है। केवल चैतन्य-मात्र वस्तु होनेसे केवली कहा जाता है। केवल मननभावमात्र होनेसे मुनि कहलाता है। स्वयमेव ज्ञानपन कर ज्ञानी कहा जाता है। स्वकीय ज्ञानके भावमात्रसे स्वभाव कहलाता है और सत् अर्थात् चित्के भवनमात्र होनेसे सद्भाव भी कहा जाता है। इस प्रकार शब्दोंमें भेद होनेपर भी वस्तुमे भेद नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभावमें जो मुनि स्थित हैं अर्थात् रागादि विकारी भावोंसे रहित हैं वे अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त करते है तथा जो इसके विपरीत शुभ-अशुभ भावोंमे उलझते है वे यथायोग्य ससारके ही पात्र होते है ॥१५१॥

आगे परमार्थमे स्थित हुए बिना तप और व्रत बालतप और बालव्रत है, यह कहते है—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
त सव्वं वालतव वालवद विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

अर्थ—जो आत्मा ज्ञानस्वरूप परमार्थमे तो निश्चल नहीं है किन्तु तप करता है और व्रतको धारण करता है मर्वज्ञ भगवान् उन सर्व प्रकारके तप और व्रतको बालतप और बाल-व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—श्रीभगवान्ने ज्ञान ही को मोक्षका कारण कहा है क्योंकि परमार्थभूत ज्ञानसे रिक्त मनुष्यके अज्ञान द्वारा किये हुए तप और व्रत बन्धके कारण होनेसे बालतप और बालव्रत कहे जाते है। तथा इसीसे मोक्षमार्गमे उनका निषेध है और ज्ञान ही को मोक्ष-का हेतु कहा गया है ॥१५२॥

---

१ सम्यगयते गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समय, अथवा सम्यगय. सशयादिरहितो बोधो ज्ञान यस्य भवति स समय, अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयन गमन परिणमन समय। (ता वृ)

अब ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान बन्धका कारण है, ऐसा नियम करते हैं—

वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तव च कुव्वता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाण ते ण विदंति ॥१५३॥

अर्थ—जो व्रत और नियमोंको धारण करते हैं तथा शील और तपको करते हैं किन्तु परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मासे बाह्य हैं अर्थात उसके दृढ श्रद्धान और ज्ञानसे शून्य हैं वे निर्वाणको नहीं पाते है ।

विशेषार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योंकि उसके अभावमे स्वय अज्ञानस्वरूप अज्ञानी जीवोंके अन्तरङ्गमें व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव रहता है। इसी तरह अज्ञान ही बन्धका कारण है क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोंके बाह्यमे व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोंका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है ।

यहाँ यह जो कहा है कि अज्ञानका अभाव होनेपर स्वय ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोंके अभावमे भी मोक्ष होता है, उसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि ये मोक्षमार्गमे अनुपयोगी है। यहाँ आचार्यका तात्पर्य यह है कि ये व्रतनियमादिक शुभकार्य आत्मज्ञानके रहते हुए ही मोक्षके परम्परासे कारण होते है उसके विना वे बन्धके कारण हैं। जिसके हृदयसे अज्ञान निकल जाता है, व्रतनियमादिरूप प्रवृत्ति तो उसकी स्वतः हो जाती है। जिस प्रकार[1] चांवलके भीतरका तुष निकल जानेपर बाह्य तुष निकल गया, यह बात अनायास सिद्ध है, उसी प्रकार अन्तरङ्गका रागभाव नष्ट हो जानेपर बहिरङ्ग विषयोंका व्यापार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, यह अनायास सिद्ध है। परन्तु बाह्य तुष निकल जानेपर अन्तरङ्गका तुष निकल हो जावे, यह व्याप्ति नहीं, निकल भी जावे और न भी निकले। उसी प्रकार केवल बाह्य शुभाचरण होनेपर अन्तरङ्गका अज्ञान निवृत्त हो ही जावे, यह व्याप्ति नहीं, निवृत्त हो भी जावे और न भी हो जावे ॥१५३॥

अब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मोक्षका कारण है और उससे भिन्न परिणति बन्धका कारण है, यह कलशा द्वारा प्रकट करते है—

शिखरिणीछन्द

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवन
शिवस्याय हेतु स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्व भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

---

१ न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते । तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरङ्गतुष इव । (ता० वृ०)

अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब अपने स्वरूपमें निश्चल हुआ शोभायमान होता है तभी यह मोक्षका हेतु है क्योंकि वह ज्ञान स्वयं शिवस्वरूप है। तथा इसके सिवाय अन्य जो रागादिक भाव हैं वे सब बन्धके जनक हैं क्योंकि स्वयं बन्धस्वरूप है। इसलिये ज्ञानस्वरूप अपना होना ही अनुभूति है। इस पद्धतिसे बन्ध और मोक्षका विधान कहा गया है ॥१०५॥

अब फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये कहते हैं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउ अजाणंता ॥१५४॥

अर्थ—जो परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवनसे शून्य है वे अज्ञानसे संसारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते हैं तथा मोक्षके कारणको जानते भी नहीं है।

विशेषार्थ—इस संसारमें कितने ही जीव हैं जो समस्त कर्मसमूहके नष्ट होनेपर प्रकट होनेवाले मोक्षकी इच्छा रखते हुए भी मोक्षके हेतुको नहीं जानते है। यद्यपि वे मोक्षके हेतुभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानके होने मात्र, तथा एकाग्रतारूप लक्षणसे युक्त, समयसारभूत, सामायिकचारित्रकी प्रतिज्ञा करते है तो भी दुरन्तकर्मसमूहके पार करनेकी असमर्थतासे जिसमें परमार्थभूत ज्ञानका अनुभवन ही शेष रह गया है, ऐसे आत्मस्वभावरूप वास्तविक सामयिकचारित्रको प्राप्त नहीं हो पाते। ऐसे जीव यद्यपि अत्यन्त स्थूल सक्लेशपरिणामरूप कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं तो भी अत्यन्त स्थूल शुभपरिणामरूप कर्मोंमें प्रवृत्त रहते है अर्थात् अशुभ कार्योंको तो छोड़ देते हैं, परन्तु शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करते रहते है। वे कर्मानुभवकी गुरुता और लघुताकी प्राप्ति मात्रसे सतुष्टचित्त रहते है अर्थात् कर्मके तीव्रोदयके बाद जब मन्द उदय आता है तब उसीमें संतुष्ट होकर रह जाते हैं, उस मन्दोदयको भी दूर करनेका प्रयास नहीं करते हैं। तथा स्थूल लक्ष्य होनेसे समस्त क्रियाकाण्डको मूलसे नहीं उखाड़ते अर्थात् बुद्धिगोचर संक्लेशरूप क्रियाकाण्डको तो छोड़ देते हैं, परन्तु अबुद्धिगोचर मन्दकषायके उदयमें जायमान शुभ क्रियाकाण्डको छोड़नेमें असमर्थ रहते है। वे स्वयं अज्ञानरूप होनेसे केवल अशुभ कर्मको तो बन्धका कारण जानते हैं, परन्तु व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मको बन्धका कारण नहीं जानते, किन्तु उसे मोक्षका कारण मानकर स्वीकार करते हैं।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थ ज्ञानसे रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्यको मोक्षका कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि वह पुण्य संसारकी प्राप्तिका कारण है। कषायके मन्दोदयमें होनेवाली जीवकी जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते हैं, ऐसा पुण्य शुभकर्मके बन्धका कारण है, कर्मक्षयरूप मोक्षका कारण नहीं है, परन्तु

अज्ञानी जीव इस अन्तरको नहीं समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरणका निषेध नहीं है, किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धामे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यानमें रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता—वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामे प्रविष्ट होनेपर स्वयं छूट जाता है ॥१५४॥

अब ऐसे जीवोंको मोक्षका परमार्थ—वास्तविक कारण दिखाते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हींका जानना ज्ञान है और रागादिकका त्याग करना चारित्र है, और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ—निश्चयसे मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं। उनमे जीवादि-पदार्थश्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना सम्यग्दर्शन है। जीवादिज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है और रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—तीनो ही एक ज्ञानके परिणमन सिद्ध हुए, इसलिये यही सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि ज्ञान ही परमार्थसे मोक्षका कारण है।

यही श्रीविद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमे कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता ॥

अर्थात् ज्ञानका मिथ्याभिप्राय छूट जाना सम्यग्दर्शन है, पदार्थका जानना ज्ञान है और कर्मोंको नष्ट करनेकी सामर्थ्य होना चारित्र है।

यहाँ पर ज्ञानगुणकी प्रधानतासे कथन है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ज्ञानकी ही परिणति सिद्ध कर एक ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञानगुणका स्वपरज्ञायकपन ही उसकी प्रधानताका कारण है ॥१५५॥

आगे मोक्षका परमार्थ कारण जो ज्ञान है उससे अन्य कर्मके मोक्षमार्गपनका प्रतिषेध करते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

अर्थ—मात्र द्रव्यश्रुतके पाठी निश्चयनयके विषयका त्यागकर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु कर्मोंका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यति महाराजोंके कहा गया है[१]।

विशेषार्थ—मोक्षके परमार्थ कारणसे भिन्न जो व्रत, तप आदि शुभ कर्म हैं, वही मोक्षका कारण है, ऐसा किन्हींका पक्ष है। परन्तु यह सब निषिद्ध है क्योंकि यह सब द्रव्यान्तरका स्वभाव है अर्थात् पुद्गलद्रव्यका परिणमन है, इन स्वभावरूप ज्ञानका परिणमन नहीं होता। मोक्षका जो परमार्थ कारण है वह एकमात्र जीवद्रव्यका स्वभाव है। उस स्वभावसे ही ज्ञानका परिणमन होता है ॥१५६॥

मात्रद्रव्य श्रुतके ज्ञाता विद्वान् लोग निश्चयनयके पक्षको छोड़कर केवल व्यवहार-नयसे प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् व्यवहारमे जो शुभाचरण बताया गया है उसका पालन करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षकी इच्छा रखते हैं। परन्तु उससे कर्मोंका क्षय नहीं होता, उससे तो कषायकी मन्दतामें होने वाला देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध ही होता है। कर्मोंका क्षय उन्हीं मुनियोंके होता है जो परमार्थ मोक्षमार्गका आश्रय प्राप्त कर चुके हैं।

यही अभिप्राय कलशामे प्रकट करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव हि ॥१०६॥

अर्थ—सदा ज्ञानस्वभावसे वर्तना ही ज्ञानका होना है और एक आत्मद्रव्यका स्वभाव होनेसे वह ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।

भावार्थ—मोक्ष आत्माका होता है, इसलिये आत्माका स्वभाव ही मोक्षका कारण हो सकता है और ज्ञान आत्माका स्वभाव है इसलिये वही मोक्षका कारण है। इसके विपरीत मन, वचन, कायके व्यापाररूप जो शुभकर्म है वह पुद्गलद्रव्यका स्वभाव होनेसे मोक्षका कारण नहीं हो सकता ॥१०६॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अर्थ—कर्मस्वभावरूप होना ज्ञानका होना नहीं है क्योंकि वह द्रव्यान्तरका स्वभाव है। अतः शुभाशुभरूप कर्म मोक्षका हेतु नहीं है ॥१०७॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अर्थ—वह कर्म, मोक्षका हेतु जो ज्ञान है, उसका आच्छादन करने वाला है तथा स्वयं

---

१ इस गाथाके पूर्वार्धका अर्थ जयसेन स्वामीने इस प्रकार किया है कि ज्ञानी जीव परमार्थको छोड़कर व्यवहारमें प्रवृत्ति नही करते। इन्होने 'ववहारे'का सप्तम्यन्त मानकर 'ण' को अलग किया है।

बन्धरूप है और मोक्षके हेतु—ज्ञानका आच्छादन करने वाले पुद्गलद्रव्यरूप उसका परिणमन होता है। अतः मोक्षमार्गमें उसका निषेध किया गया ह।

यहाँपर, व्रत-तपश्चरण आदि शुभकर्म मोक्षके हेतु नहीं है, यह कहा गया है, इसका यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करने वाला मुनि इन सब कार्योंको करता नहीं है। करता है, किन्तु मात्र इन्हें मोक्षका कारण नहीं मानता, उसकी श्रद्धामे ज्ञानकी ज्ञानरूप परिणति हो जाना ही मोक्षका कारण है। इस अन्तरङ्ग कारणके रहते हुए ज्ञानी जीवके अपने पदानुसार जो मन, वचन, कायके शुभ व्यापार होते है उनके निषेधका तात्पर्य नहीं है।

अब कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करने वाला है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते है—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्ण तह सम्मत्त खु णायव्व ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्ण तह णाण होदि णायव्व ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्ण तह चारित्तं पि णादव्व ॥१५९॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार वस्त्रकी श्वेतता (शुक्लता) मलके मेलन होने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्वमलसे व्याप्त होने पर सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है अर्थात आच्छादित हो जाता है, ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये।

जैसे वस्त्रकी सफेदी मलके सम्बन्धविशेषसे नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मलके साथ सम्बन्ध होने पर जीवका वास्तविक ज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, यह निश्चयसे जानना चाहिये।

और जिस तरह वस्त्रकी शुक्लता मलके सम्बन्धविशेषसे नाशभावको प्राप्त हो जाती है उसी तरह कषायरूपी मलके साथ सम्बन्ध होनेसे चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रकट नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ज्ञानका जो सम्यक्त्व है वह मोक्षकारणरूप स्वभाव है वह जैसे परभावभूत मैलके साथ सम्बद्ध होनेसे वस्त्रका श्वेतभाव आच्छादित हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूप मैलसे आच्छादित होनेके कारण तिरोभूत रहता है। इसी तरह ज्ञानका जो ज्ञान है अर्थात् उसमें अज्ञानभाव नहीं है वह मोक्षका कारण है किन्तु मैलके सम्बन्धसे जैसे वस्त्रकी शुक्लता आच्छादित रहती है वैसे ही अज्ञानमलके साथ सम्बन्ध होनेसे उसकी मोक्षकारणता व्यक्त नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानके रागादिनिवृत्तिरूप जो चारित्र है वह

मोक्षका कारण है। परन्तु जैसे मलिनताका सम्बन्ध होनेसे वस्त्रकी शुक्लताका वर्तमानमें अभाव है वैसे ही ज्ञानमे जा चारित्र है वह यद्यपि मोक्षका हेतु है परन्तु कषायमलके द्वारा आच्छादित हानेसे वह तिरोभूत हो रहा है। इसीलिये मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है।

निश्चयनयसे तो गुण-गुणीमें भेद नहीं होता, पर व्यवहारनय गुण-गुणीमें भेदकल्पना करता है, अतः व्यवहारनयकी दृष्टिमें आत्मा गुणी है और श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र ये तीन उसके गुण है। श्रद्धागुणका जो स्वभावरूप परिणमन है वह सम्यग्दर्शन है और विभावरूप परिणमन मिथ्यादर्शन है। ज्ञानगुणका जो स्वभावरूप अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन है वह सम्यग्ज्ञान है और विभावरूप परिणमन अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। इसी तरह चारित्रगुणका जो स्वभावरूप अर्थात् वीतरागतारूप परिणमन है वह सम्यक्चारित्र है और रागादिरूप विभाव परिणमन अचारित्र अथवा मिथ्याचारित्र है। यहाँ इन गुणोंके विभावरूप परिणमन करनेका कारण निमित्तकी प्रधानतासे कर्मको बतलाया है। जिस प्रकार मैलके सम्बन्धसे वस्त्रकी सफेदी आच्छादित रहती है और मैलके दूर हो जाने पर प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूपी मैलके सम्बन्धसे श्रद्धागुणका सम्यक्त्वरूप परिणमन, ज्ञानगुणका ज्ञानरूप परिणमन और चारित्रगुणका चारित्ररूप परिणमन आच्छादित रहता है और उन मिथ्यात्व आदि मैलोंका सम्बन्ध दूर हो जाने पर उनका यथार्थ परिणमन प्रकट हो जाता है। जिस तरह वस्त्रकी सफेदी उसकी उसीमें रहती है उसी तरह आत्माके सम्यक्त्वादि गुण उसके उसीमें रहते हैं। जिस प्रकार मैलका सम्बन्ध दूर हो जाने पर वस्त्रकी सफेदी स्वयं प्रकट हो जाती है, कहीं बाहरसे नहीं आती उसी प्रकार आच्छादक अथवा विकार उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका सम्बन्ध दूर होने पर सम्यक्त्वादि गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, कहीं बाहरसे नहीं आते ॥१५७॥१५८॥१५९॥

अब कर्म स्वयं बन्धरूप है, यह सिद्ध करते हैं—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।
ससारसमावण्णो ण विजाणादि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

अर्थ—वह आत्मा स्वभावसे सबको जानने वाला और देखने वाला है तो भी अपने शुभाशुभ कर्मरूपी रजसे आच्छादित हो रहा है, अतएव संसार अवस्थाको प्राप्त हुआ सबको सब रूपसे नहीं जानता है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्माका स्वभाव ऐसा है कि वह समस्त पदार्थोंको सामान्य और विशेषरूपसे देख-जान सकता है तथापि अनादिकालसे स्वकीय आत्माके अपराध अर्थात् रागादि परिणतिसे प्रवर्तमान कर्मरूपी मलसे आच्छादित होता हुआ बन्ध दशाका अनुभवकर रहा है और उस बन्धदशामे सबरूपसे अपने सम्पूर्णरूपको नहीं जानता हुआ निरन्तर

अज्ञानी होकर ही रहता है, इससे निश्चय हुआ कि शुभाशुभकर्म ही स्वयं बन्धरूप हैं, अतः त्यागने योग्य हैं।

यहाँ कोई यह आशङ्का करे कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता तब कर्मरूपी रजने सर्वदर्शी आत्माको अज्ञानी कैसे बना दिया ? तो उसका उत्तर यह है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता' इसका इतना ही अर्थ है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं कर सकता, निमित्त-नैमित्तिक भावकी दृष्टिमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके विभाव परिणमनमें निमित्त अवश्य होता है, इसका निषेध नहीं है।

अब कर्म मोक्षके हेतु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका आच्छादन करने वाले हैं, यह दिखाते हैं—

सम्मत्त-पडिणिबद्ध मिच्छत्त जिणवरेहिं परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरेहिं परिकहिय ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सम्यक्त्वको रोकने वाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये।

ज्ञानको रोकने वाला अज्ञान है, ऐसा श्री जिनवरके द्वारा कहा गया है, उस अज्ञानके उदयसे यह जीव अज्ञानी नाम पाता है, यह जानना चाहिये।

चारित्रको घातने वाला कषाय है, ऐसा भगवान्का आदेश है, उस कषायके उदयसे यह जीव अचारित्र होता है, यह जानना चाहिये।

विशेषार्थ—आत्माका जो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव-भूत है उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है वह स्वयं कर्म ही है। जब उसका उदयकाल आता है तब ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपन रहता है। इसी तरह आत्माका जो ज्ञान है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अज्ञान है वह स्वयं कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानके अज्ञानपन होता है। इसी तरह आत्माका जो चारित्रगुण है, वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसको रोकनेवाला कषाय है, वह कषाय स्वयं कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानका अचारित्र भाव होता है। इसीलिये मोक्षके कारणोंका तिरोधायक-आच्छादक होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है।

आत्मा अनाद्यनन्त चैतन्यगुणविशिष्ट एक द्रव्य है। परन्तु अनादिकालसे कर्मोंके साथ एकमेक जैसा हो रहा है। इसमें जिस तरह चेतना असाधारण गुण है उसी तरह सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य भी असाधारण गुण हैं। किन्तु उन गुणोके विकासको रोकनेवाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादिसे ही इसके साथ लग रहे हैं। उन कर्मोंमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं जो कि आत्माके असाधारण अनुजीवी गुणोंको घातते है। अघातियाकर्म आत्मगुण घातक नहीं है, केवल उनके अभावमे प्रतिजीवी गुणोंका ही उदय होता है। घातियाकर्मोंमे ज्ञानावरण और दर्शनावरण चेतना-गुणके विकासमें बाधक हैं अर्थात् जब ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है तब आत्माका ज्ञान नहीं प्रकट होता है और दर्शनावरणके उदयमे दर्शन नहीं होता, अन्तरायके उदयमे वीर्य (शक्तिका) विकास नहीं होता है। इनके क्षयोपशममे आंशिक ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य प्रकट होते हैं, क्षयमें पूर्णरूपसे ज्ञानादिक गुणोका विकास हो जाता है। मोहनीय कर्मकी तरह इनका सर्वथा उदय नही रहता, अन्यथा आत्माके ज्ञानगुणका सर्वथा अभाव होनेसे उसके अस्तित्वका ही लोप हो जाता, सो हो नहीं सकता। मोहनीयकर्म आत्माके सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको घातता है। यहाँ पर घातका यह आशय है कि गुणके विकासको रोकता तो नहीं है, किन्तु उसका विरुद्ध परिणमन करा देता है। जैसे कामला रोगी देखता तो है परन्तु श्वेतशङ्खका पीतरूप देखता है। अतः परमार्थसे देखा जावे तो यही घात आत्माका अहित करने वाला है। इन्ही ज्ञानावरणादि कर्मोंमे पापकर्म और पुण्यकर्मका विभाग है, घातिया कर्मोंकी जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पापरूप ही हैं। परन्तु अघातिया कर्मोंमे कुछ पापप्रकृतियाँ है और कुछ पुण्यप्रकृतियाँ है। कषायके मन्दोदयमे पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध होता है और कषायके तीव्रोदयमे पापप्रकृतियोका बन्ध होता है। पुण्यप्रकृतियोंके विपाक कालमे सांसारिक सुखकी प्राप्ति होती है और पापप्रकृतियोंके उदयकालमे सासारिक दुःख-की ही प्राप्ति होती है। कषायके मन्दोदयमें होने वाला जो शुभाचरण है वह भी पुण्यकर्मके बन्धमें साधक होनेसे पुण्यकर्म कहलाता है और कषायके तीव्रोदयमे होने वाला जो अशुभा-चरण है वह भी पापकर्मके बन्धमे साधक होनेसे पापकर्म कहलाता है। इनमे पापकर्म तो मोक्षका बाधक है ही, परन्तु पुण्यकर्म भी मोक्षका बाधक है। इसलिये मोक्षार्थी मनुष्यको इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग करना चाहिये ॥१६१-१६३॥

यही कलशामें कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०९ ॥

अर्थ—'मोक्षके अभिलाषी मनुष्यके द्वारा ये सभी कर्म छोड़ देनेके योग्य है' इस आदेशसे जब सब कर्म छोड़ दिये तब पुण्य और पापकी क्या चर्चा रह गई? पुण्य और

पाप तो कर्मकी विशिष्ट अवस्थाएँ हैं। जब सामान्यरूपसे कर्मका त्याग हो गया तब पुण्य पापका त्याग तो उसी त्यागमें अनायास गर्भित हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके छूट जानेसे जब इस जीवकी निष्कर्मा अवस्था हो जाती है तब इसके सम्यक्त्वादि गुणोंका निज स्वभावरूप परिणमन होने लगता है और तभी उससे सम्बन्ध रखनेवाला शक्तिशाली ज्ञान मोक्षका हेतु होता हुआ स्वयं दौड़कर आता है।

भावार्थ—जब पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्म छूट जाते हैं तब एक ज्ञान ही मोक्षका हेतु होता है तथा सम्यक्त्वादि गुणोंका स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। उस समयका यह ज्ञान इतना उद्धतरस—शक्तिशाली होता है कि इसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। शुद्धोपयोगकी भूमिकामे क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर जब यह जीव पुण्यपाप-कर्मोंके जनक समस्त रागादिक विकल्पोंको दशमगुणस्थानके अन्तमे क्षय कर देता है तब उसका ज्ञान नियमसे अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञानरूप हो जाता है ॥१०९॥

अब यह आशङ्का होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोमे जब तक कर्मका उदय है और ज्ञान रागादिजन्य विकल्पपरिणतिसे रहित नहीं हुआ है तब तक ज्ञान ही मोक्षका मार्ग कैसे हो सकता है ? तथा कर्म और ज्ञान साथ-साथ किस तरह रह सकते है। इसके समाधानके लिये कलशा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११० ॥

अर्थ—जबतक कर्म उदयको प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञानकी, रागादिकके अभावमे जैसी निर्विकल्प परिणति होती है वैसी परिणति नहीं हो जाती है, तबतक कर्म और ज्ञान दोनोंका समुच्चय भी कहा गया है, इसमे कोई हानि नहीं है, किन्तु इस समुच्चयकी दशामें भी कर्मोदयकी परतन्त्रतासे जो कर्म होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह बन्धके लिये ही होती है—उसका फल बन्ध ही है, मोक्षके लिये तो स्वतः—स्वभावसे परसे शून्य अतएव ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतुरूपसे स्थित है।

भावार्थ—चतुर्थगुणस्थानसे लेकर दशमगुणस्थान तक कर्म और ज्ञान दोनोंका समुच्चय रहता है क्योंकि यथासंभव चारित्रमोहका उदय विद्यमान रहनेसे रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मोंमे प्रवृत्ति अवश्यभावी है तथा दर्शन-मोहका अनुदय हो जानेसे ज्ञानका सद्भाव है। इस समुच्चयकी दशामे इन गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंको मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी, यह आशङ्का उठ सकती है ? उसका उत्तर यह है कि इस दशामे कर्मोदयकी बलवत्तासे जीवोंकी जो कर्ममें प्रवृत्ति होती है उससे

तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जो उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्षका कारण है क्योंकि ज्ञान बन्धका कारण नहीं हो सकता। यही कारण है कि इन गुणस्थानोंमें गुणश्रेणी निर्जरा भी होती है और देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध भी होता है। इस वास्तविक अन्तरको गौण कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्तिको मोक्षका कारण कहने लगते हैं और रत्नत्रयको तीर्थंकरप्रकृति, आहारकशरीर तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंके बन्धका कारण बताते हैं ॥११०॥

आगे कर्मनय और ज्ञाननयके एकान्ती संसार-सागरमें निमग्न रहते है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वय
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

अर्थ—जो ज्ञानको नही जानते हैं तथा केवल कर्मनयके अवलम्बनमे तत्पर रहते हैं वे डूबते है। इसी प्रकार जो ज्ञाननयके इच्छुक होकर भी धर्माचरणके विषयमें अत्यन्त स्वच्छन्द और मन्दोद्यम रहते हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो निरन्तर स्वय ज्ञानरूप होते हुए न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमादके वशीभूत होते हैं वे ही समस्त ससारके ऊपर तैरते है अर्थात् संसारसे पार होते हैं।

भावार्थ—यहाँ कर्मनय और ज्ञाननयके एकान्तियोका निरूपण करते हुए अनेकान्तसे दोनों नयोका पालन करनेवाले पुरुषोका वर्णन किया गया है। जो मनुष्य ससार-सागरके सतरणका मूलभूत उपाय जो ज्ञान है उसे तो समझते नहीं हैं केवल बाह्य क्रियाकाण्डके आडम्बरमे निमग्न रहते हैं वे ससार-सागरमे ही डूबते हैं और जो ज्ञाननयको तो चाहते हैं परन्तु बाह्य शुभाचरणमे स्वच्छन्द तथा अत्यन्त मन्दोत्साह है वे भी संसार-सागरमे ही डूबते हैं। और जो न तो कर्म करते है और न कभी प्रमादके वशीभूत हो शुभाचरणसे च्युत होते हैं वे स्वयं ज्ञानरूप होते हुए विश्वके ऊपर तैरते हैं ॥१११॥

आगे सब प्रकारके कर्मोंको नष्ट करनेपर ज्ञानज्योति प्रकट होती है, यह कहते हैं—

भेदोन्मादभ्रमरसभराण्नाटयत्पीतमोह
मूलोन्मूल सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योति कवलिततम प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त हुए मनुष्यको भेदके उन्मादसे उत्पन्न भ्रम-रसके भारसे नृत्य करा रहा है ऐसे सभी प्रकारके कर्मको बलपूर्वक जड़सहित उखाड़कर

वह ज्ञानज्योति जोरसे प्रकट होती है जो अनायास प्रकट होते हुए केवलज्ञानरूपी परम कलाके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ करती है तथा सब अन्धकार दूर कर देती है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे मोहरूपी मदिराको पीकर उसके मदमें मत्त हो रहा है तथा उसके फलस्वरूप परपदार्थोंमे इष्टानिष्ट बुद्धि कर रहा है, ऊपरसे कर्म पुण्य-पापका भेद प्रकट कर तज्जन्य उन्मादसे उत्पन्न भ्रमरूपी रसके भारसे उसे चतुर्गतिरूप ससारमें नचा रहा है, ऐसे समस्त कर्मोंको जब यह जीव बलपूर्वक जड़से उखाड़कर नष्ट कर देता है तब अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाली वीतराग-विज्ञानतारूपी वह ज्ञानज्योति इसके प्रकट होती है जो अन्तर्मुहूर्तके भीतर अनायास प्रकट होनेवाली केवलज्ञानरूपी परमकलाके साथ क्रीडा करती है अर्थात् स्वय केवलज्ञानरूप हो जाती है ॥११२॥

इस प्रकार जो कर्म पुण्य और पापके रूपमे दो पात्र बनकर नृत्य कर रहा था, अब वह एक पात्र होकर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमे पुण्य-पापका वर्णन करनेवाले
तृतीयाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

●

४ आस्रवाधिकार

अब आस्रवका प्रवेश होता है—

वास्तवमें जीव और पुद्‌गल भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। अनादिकालसे इनकी विजातीय अवस्थारूप बन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ परका कर्ता बनकर अनन्त संसारी हो रहा है। बन्धावस्थाके जनक जिस आस्रवसे संसार होता है वह केसा है ? यह दिखाते है—

द्रुतविलम्बितछन्द

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

अर्थ—वह आस्रव महामदके अतिशयसे भरा हुआ है। अतएव मन्थर चाल चल रहा है तथा समररूपी रङ्गभूमिमे आ पहुँचा है, ऐसे आस्रवको यह दुर्जय बोधरूपी धनुर्धर सहज ही जीत लेता है, जो उदार, गम्भीर और महान् उदयसे सहित है ॥११३॥

अब उस आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

(जुगलम्)

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये जो चार आस्रव है वे भावास्रव और द्रव्यास्रवके भेदसे चेतनके भी विकार है और अचेतन—पुद्‌गलके भी। इनमे जो चेतनके विकार है, वे जीवमें बहुत अवान्तर भेदोंको लिये हुए हैं तथा जीवके ही अनन्य परिणाम हैं। वे मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणाम, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोंके कारण हैं और उन मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणामोंका कारण रागद्वेषादि भावोको करने वाला जीव ही है।

विशेषार्थ—इस जीवमे राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है, तथा उनके होनेमें स्वपरिणाम ही निमित्त हैं, क्योंकि उन रागद्वेषादि परिणामोंमें अजडपन है, अतएव वे चिदाभास हैं।

---

१. भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतना । (ता. वृ)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये पुद्गलके परिणाम है तथा ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मों के आस्रवमे निमित्त होनेसे आस्रव कहलाते है। उन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गलके परिणामोमें जो ज्ञानावरणादिक कर्मोंके आस्रवणका निमित्तपन है उसका भी निमित्तकारण रागद्वेषमोहरूप जीवके अज्ञानमय भाव है, इसलिये आस्रवणमे निमित्तपनेका निमित्त होनेसे राग-द्वेष-मोह ही परमार्थसे आस्रव है और ये भाव अज्ञानी जीवके ही होते हैं यह बात अपने आप सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि इस जीवके अनादिकालसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यप्रत्यय साथमे लगे हुए हैं। ये द्रव्यप्रत्यय पुद्गलद्रव्यके परिणाम है तथा अचेतन है। जब इनका विपाककाल आता है तब इनके उदयमे ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्मोंका आस्रव होता है। इसतरह ज्ञानावरणादिक कर्मोंके आस्रवमे निमित्त पडनेसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप जो पुद्गलके परिणाम है वे आस्रव कहलाते है।[1] अब यहाँ यह विचार आता है कि यदि मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोका उदय ही ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवका कारण है, तो सामान्यतया उनका उदय सदा विद्यमान रहता है, इसलिये सदा ही आस्रव होता रहेगा तब ससारका अभाव किस तरह होगा? इसपर आचार्य कहते है कि उन पुद्गल परिणामोंके विपाककालमे जो जीवके रागद्वेषमोहरूप अज्ञानमय भाव होते है वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवमे निमित्त है। इसतरह उदयकी अपेक्षा पुद्गलपरिणाम ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवमे निमित्त हैं और उन पुद्गल परिणामोके निमित्त जीवके रागद्वेषमोहरूप अज्ञानमय भाव है। फलस्वरूप यह बात सिद्ध हो गई कि परमार्थसे रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं तथा वे अज्ञानी जीवके ही होते हैं। यहाँ अज्ञानीसे तात्पर्य मिथ्यादृष्टिका है। तब क्या सम्यग्दृष्टिके रागादिक नहीं होते? होते है, परन्तु सम्यग्दृष्टिका उनमे स्वामित्व नहीं रहता अर्थात् वह उन्हें आत्माका स्वभाव नही मानता ॥१६४-१६५॥

अब ज्ञानी जीवके उन आस्रवोका अभाव दिखाते है—

णत्थि दु आसव-बधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
सते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबधतो ॥१६६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके आस्रव और बन्ध नहीं है, किन्तु आस्रवका निरोध है अर्थात् सवर है और जो पहलेके बँधे हुए कर्म सत्तामे विद्यमान है, उन्हें वह नवीन बन्ध न करता हुआ जानता है।

---

१ अयमत्र भावार्थ —द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावना त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति, नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बन्धो भवति ? तदा सर्वदा ससार एव। कस्मादिति चेत्? ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बन्धकारण न भवतीति चेत्, तन्न, निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्त भवति। निश्चयेन पुन अशुद्धोपादन-कारण स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति। (ता वृ)

विशेषार्थ—अज्ञानमय भावोंके द्वारा ही अज्ञानमय भाव होते हैं, ज्ञानी जीवके अज्ञान-भावोंकी अनुत्पत्ति है। अतएव उसके अज्ञानमय भावोका निरोध हो जाता है। इसीसे आस्रव-भूत रागद्वेषमोहरूप अज्ञानमय भावोंका अभाव होनेके कारण ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध स्वतः सिद्ध है, अतएव ज्ञानी जीव आस्रवके कारणभूत पुद्गलकर्मोंको नहीं बाँधता है, किन्तु नित्य ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्मोंको नहीं बाँधता हुआ पूर्वबद्ध-सदवस्थारूप जो कर्म है, उन्हें ज्ञानस्वभाव होनेसे केवल जानता ही है।

यहाँ जो सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बन्धका अभाव बताया है, वह वीतराग सम्यक्त्वकी अपेक्षा बताया है। सरागसम्यग्दृष्टि जीवके चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आगमप्रति-पादित पद्धतिके अनुसार बन्ध होता ही है, उसका निषेध नही हे। अथवा चतुर्थादि गुण-स्थानोमे जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका उदय निकल जानेसे अनन्त-ससारका कारण नहीं होता, अप्रत्याख्यानावरणादिके उदयमे जो बन्ध होता है उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है ॥१६६॥

अब रागद्वेषमोहभाव ही आस्रव हैं, ऐसा नियम करते हैं—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बधगो भणिदो ।
रायादिविप्पमुक्को अबधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

अर्थ—जीवके द्वारा किया हुआ जो रागादियुक्त भाव है वह बन्धका ही करनेवाला कहा गया है और रागादिसे विमुक्त जो ज्ञायकभाव है, वह अबन्धक कहा गया है अर्थात् जहाँ रागादिकसे कलुषित आत्माका परिणाम है, वहीं बन्ध होता है और जहाँ अन्तरङ्गमे रागादिककी मलिनतासे रहित ज्ञायकभाव है वहाँ बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ—इस आत्मामे निश्चयसे रागद्वेषमोहके सपर्कसे जायमान जो भाव हैं वे अज्ञानमय ही है। जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके सपर्कसे उत्पन्न भाव, लोहकी सूचीको हलन-चलन आदिरूप कार्य करनेके लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अज्ञानमयभाव आत्मा-का कर्मबन्ध करनेके लिये प्रेरित करता है अर्थात् वह आत्मामे ऐसी विभावता उत्पन्न कर देता है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। परन्तु रागादिकके भेदज्ञानसे जो भाव होता है, वह ज्ञायकभाव है, जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके असपर्कमे होनेवाला भाव लोहकी सूचीको हलन-चलन आदि क्रियासे रहित रखता है, उसी प्रकार वह ज्ञायकभाव स्वभावसे ही आत्माको कर्मबन्ध करनेमें अनुत्साह-रूप रखता है अर्थात् रागादिरूप विभावताके अभावमे आत्मा स्वभावस्थ रहता है, जिससे ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध नहीं हो पाता है। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि रागादिसे मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्मके कर्तृत्वमे प्रेरक होनेसे बन्धका करनेवाला है और रागादिसे न मिला हुआ ज्ञायकभाव केवल स्वभावका प्रकट करनेवाला होनेके कारण किञ्चिन्मात्र भी बन्धका करनेवाला नहीं है ॥१६७॥

अब आत्माके रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञायकभावका होना संभव है, यह दिखाते हैं—

पक्के फलम्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

अर्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल एक बार डण्ठलसे पतित होनेपर फिर डण्ठलके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार जीवका कर्मभाव अर्थात् कर्मोदयसे जायमान रागादिभाव एक बार नष्ट होनेपर फिर उदयको प्राप्त नहीं होता।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल डण्ठलसे एक बार जुदा होनेपर डण्ठलके साथ फिर सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार कर्मोदयसे होनेवाला भाव एक बार जीवके भावसे जुदा होनेपर फिर जीवभावको प्राप्त नहीं होता। इस तरह रागादिकसे असकीर्ण ज्ञानमय भाव संभव है।

अनादि कालसे जीवकी रागादिरूप परिणति हो रही है। उस परिणतिसे असकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावरूप परिणति कभी हुई ही नहीं। इसलिये साधारण जीवोंको ऐसा प्रतिभास होता है कि रागादिकसे असकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावका होना सभव नही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। रागादिकरूप जो परिणति है, वह जीवकी स्वभाव परिणति नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वादिक द्रव्यकर्मके उदयमे होनेवाली विभाव परिणति है। द्रव्यकर्म अपना फल देकर अवश्य निर्जराको प्राप्त होते हैं। साता-असाता आदि द्रव्यकर्म जब अपना फल देते है तब सुख-दुःखका अनुभव होता है, अज्ञानी जीव उसमे हर्ष-विषाद करता हुआ नवीन कर्मबन्धको प्राप्त होता है, परन्तु ज्ञानी जीव उस कर्मफलमें हर्ष-विषाद नहीं करता। इसलिये उसके पूर्वबद्ध कर्म फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं, नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है, इसतरह ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा होते-होते दशम गुणस्थानके अन्तमे रागादिकभावोंको उत्पन्न करनेमे निमित्तभूत मोहनीयकर्मका अत्यन्त क्षय हो जाता है और यह नियम है कि जिस प्रकार एक बार डंठलसे टूटा फल फिरसे डंठलके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक बार क्षयको प्राप्त हुआ कर्म जीवके साथ फिरसे सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इस नियमानुसार जिस जीवके मोहनीय कर्मका अत्यन्त क्षय हो गया है, उसके फिर मोहनीय कर्मका बन्ध नही हो सकता और जब मोहनीयकर्म नहीं रहा तब उसके उदयमें जायमान रागादि विकारीभाव कैसे रह सकेगे? इसतरह बारहवे गुणस्थानकी प्राप्तिकालके बाद अनन्त काल तक इस भव्यात्माकी एक ज्ञायकभावरूप ही परिणति रहती है। चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक इस जीवका ज्ञायकभाव यद्यपि रागादिकसे सकीर्ण रहता है, तो भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके निकल जानेसे जीवका रागादिक परिणति और ज्ञायक भावरूप परिणति इन दोनो परिणतियोंका अन्तर अनुभवमे आ जाता है। अपने-अपने पदानुसार चारित्रमोहका उदय होनेसे उसके रागद्वेष उत्पन्न होते है और उन रागद्वेषोंके सद्भावमे जो कार्य होते हैं, उन्हें भी वह करता है, तो भी ये रागादिकभाव मेरे हैं, ऐसी उसकी श्रद्धा नहीं होती, वह उस सकीर्ण दशामे भी शुद्ध ज्ञायकभावका ही अनुभव करता है॥१६८॥

अब अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा जीवके ज्ञानमयभावका वर्णन करते हैं—

शालिनीतछन्द

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघा-
नेषोऽभाव सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अर्थ—रागद्वेषमोहके बिना जीवका जो भाव है, वह ज्ञानसे रचा गया है अर्थात् वह ज्ञानमय ही भाव है। वह भाव सम्पूर्ण द्रव्यकर्मके आस्रवके समुदायको रोकनेवाला है और यही भाव सम्पूर्ण भावास्रवोके अभावरूप है।

भावार्थ—आत्मामें जो राग, द्वेष, मोहरूपभाव हैं, वे भावास्रव कहलाते हैं और उनके निमित्तसे कार्मणवर्गणारूप पुद्‌गलद्रव्यका जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, वह द्रव्यास्रव है दशम गुणस्थानके ऊपर जीवका जो भाव होता है, वह रागद्वेषमोहसे रहित होता है, उसका वह भाव ज्ञानसे रचा जाता है, इसलिये ज्ञायकभाव कहलाता है। यह ज्ञायकभाव सर्व प्रकारके भावास्रवोके अभावस्वरूप है तथा द्रव्यकर्मके आस्रवोके समूहको रोकनेवाला है। ग्यारहवे गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तक योगके निमित्तसे एक सातावेदनीयका आस्रव होता है। पर स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है ॥११४॥

आगे ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह दिखाते हैं—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

अर्थ—उस ज्ञानी जीवके पहलेकी अज्ञानावस्थामें बँधे हुए जो प्रत्यय—कर्म है, वे पृथिवीके पिण्डके समान है। ज्ञानी जीवके वे सभी प्रत्यय कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए हैं, जीवके साथ नहीं।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो पहले एक अज्ञानभावके ही द्वारा बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामक द्रव्यास्रवस्वरूप प्रत्यय हैं, वे ज्ञानी जीवके लिये पृथक् द्रव्यस्वरूप, अचेतन पुद्‌गलद्रव्यके परिणाम होनेसे पृथिवीके पिण्डके समान हैं तथा वे सभी प्रत्यय स्वभावसे ही कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए हैं, जीवके साथ नही। अतः ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह स्वभावसे ही सिद्ध है ॥१६९॥

इसी अभिप्रायको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

अर्थ—यह ज्ञानी जीव भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है। इसलिये द्रव्यास्रवोंसे स्वयमेव भिन्न है। क्योंकि ज्ञानी सदा एक ज्ञानमय भावसे ही युक्त रहता है। अतः वह निरास्रव है और एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव, रागादिकका अभाव होनेसे भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है और पुद्गलद्रव्यके परिणमनरूप होनेके कारण द्रव्यास्रवोंसे अपने आप भिन्न है ही, इस तरह ज्ञानी जीव दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित होता हुआ एक ज्ञायक ही रहता है तथा सदा एक ज्ञानमयभावका ही धारक होता है। ज्ञानी जीवकी यह निरास्रवदशा दशमगुण-स्थानके बाद तो पूर्णरूपसे बनती है और चतुर्थादि गुणस्थानोंमें अपने-अपने पदानुसार यथा कथंचित् संभवती है ॥११५॥

अब ज्ञानी निरास्रव कैसे है? यह दिखाते हैं—

चहुविह अणेयभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधो त्ति णाणी दु ॥१७०॥

अर्थ—जिस कारण पूर्वमें निरूपण किये गये जो मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योगरूप चार द्रव्यास्रव हैं, वे ज्ञानदर्शन गुणोंके द्वारा समय समयमें अनेक भेदोंको लिये हुए कर्मोंको बाँधते है। इसलिये ज्ञानी अबन्ध है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—ज्ञानीके पहलेसे ही आस्रव-भावनाका अभिप्राय नहीं है। इसलिये वह निरास्रव ही है। फिर भी उसके द्रव्यप्रत्यय जो प्रत्येक समय अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको बाँधते है, उसमें ज्ञानगुणका परिणाम ही कारण है।[1] तात्पर्य यह है कि जब द्रव्यप्रत्यय उदयमें आते है तब वे जीवके ज्ञानदर्शनगुणोंको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणमा देते हैं, उस समय रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण बन्धके कारण होते हैं, वास्तवमें रागादिक-अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण अज्ञान ही कहलाते हैं। इस तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय ही ज्ञानदर्शनगुणको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत करके नवीन कर्मोंको बाँधते हैं। इसलिये परमार्थसे ज्ञानी अबन्धक ही है ॥१७०॥

१ दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः ? इति चेत् अयमत्र भावः—द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सन्तो जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति। तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शन-गुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते।
(ता. वृ.)

आगे ज्ञानगुणका परिणाम बन्धका कारण किस तरह है, यह दिखाते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्त णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

अर्थ—जिस कारण ज्ञानगुण, जघन्यज्ञानगुणसे फिर भी अन्यरूप परिणमता है। इस कारण वह ज्ञानगुण कर्मबन्धका करने वाला कहा गया है।

विशेषार्थ—जब तक ज्ञानगुणका जघन्यभाव है तब तक अन्तर्मुहूर्तमे परिणमनशील होनेसे उसका बार-बार अन्य भावरूप परिणमन होता रहता है और वह अन्यभावरूप परिणमन यथाख्यातचारित्रकी अवस्थाके नीचे अवश्यभावी रागका सद्भाव होनेसे बन्धका हेतु ही होता है।

क्षयोपशमज्ञान एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रहता है, पश्चात् ज्ञेयान्तरका अवलम्बन करता है। इसका मूल कारण मोहोदय है, जो एक ज्ञेयसे ज्ञेयान्तरमें भ्रमण कराता है। अतएव यथाख्यातचारित्रके पहले रागादिकका सद्भाव होनेसे उस ज्ञानके परिणमनको जघन्य कहा गया है तथा बन्धका कारण भी कहा है। परमार्थदृष्टिसे क्षयोपशमज्ञान न तो बन्धका कारण है और न अबन्धका कारण है। रागादिभावोका सद्भाव ही बन्धका कारण है। ग्यारहवे, बारहवे गुणस्थानमे क्षयोपशमज्ञान भी मोहका अभाव होनेसे बन्धका कारण नहीं है ॥१७१॥

यदि ऐसा है तो ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर स्वय आचार्य देते है—

दंसणणाणचरित्त ज परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेग दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

अर्थ—जिस कारण दर्शनज्ञान और चारित्र जघन्यभावसे परिणमन करते हैं, उस कारण ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंसे बंधता है।

विशेषार्थ—वास्तवमे जो ज्ञानी है, उसके अभिप्रायपूर्वक रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावोका अभाव हो जाता है। इसलिये वह निरास्रव ही है। किन्तु वह ज्ञानी भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टरूपसे देखने, जानने और अनुचरण करनेमें अशक्त होता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और अनुचरता है तबतक उसके भी जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्तिके कारण अनुमान किये गये अबुद्धिपूर्वक रागादिक भावोका सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्मका बन्ध होता रहता है। अतएव तबतक ज्ञान देखने, जानने और अनुचरण करनेके योग्य है जबतक कि उसका जितना पूर्णभाव है उतना अच्छी तरह देख लिया जाता है, जान लिया जाता है और अनुचरित कर लिया जाता है। तदनन्तर साक्षात् ज्ञानी हुआ सब प्रकारसे निरास्रव ही होता है। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि यथाख्यातचारित्रकी दशामें जब दर्शनज्ञानचारित्रका उत्कृष्ट परिणमन होता है तब ज्ञानी सब प्रकारसे

निरास्रव ही है और यथाख्यातचारित्रसे नीचेकी अवस्थामें जब दर्शनज्ञानचारित्रगुणका जघन्य परिणाम होता है तब उससे अल्प आस्रव होता है। परन्तु वह आस्रव स्वभावकृत न होकर रागादिविभावकृत होता है। इसलिये उस समय भी स्वभावकी अपेक्षा ज्ञानी निरास्रव ही कहा जाता है ॥१७२॥

आगे इसी अभिप्रायको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारं वारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अर्थ—जब ज्ञानी आत्मा निजबुद्धिपूर्वक आनेवाले समस्त रागको अपने आप निरन्तर दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक आनेवाले रागको भी जीतनेके लिये बार-बार अपनी शक्तिका स्पर्श करता है तथा ज्ञानकी समस्त विकल्परूप परिणतिका उच्छेद करता हुआ पूर्ण होता है अर्थात् दर्शनज्ञानचारित्रकी उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होता है तब सदाके लिये निरास्रव हो जाता है ॥ ११६ ॥

अब आगेकी गाथाओंकी भूमिकाके लिये प्रश्नरूप कलशा कहते है—

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

अर्थ—अब यहाँ आशंका होती है कि ज्ञानी जीवके जब सम्पूर्ण द्रव्यप्रत्ययोंकी सन्तति विद्यमान हैं तब वह नित्य ही निरास्रव कैसे हो सकता है ? ११७ ॥

आगे इस आशंकाका उत्तर कहते हैं—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥
संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्वमें बाँधे हुए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय विद्यमान हैं तथापि विपाकावस्था द्वारा उपभोगमे आने पर ही वे रागादि भावोंसे नवीन कर्मोंको बाँधते है। जिस प्रकार बाला स्त्री जबतक निरुपभोग्य रहती है तबतक वह पुरुषको स्नेहपाशसे नही बाँधती, परन्तु वही स्त्री तरुणी होकर जब उपभोगके योग्य हो जाती है तब पुरुषको स्नेहपाशसे बाँध लेती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि प्रत्यय जबतक निरुपभोग रहते हैं अर्थात् विपाकावस्थाको प्राप्त नहीं होते है तबतक वे बन्ध नहीं करते, परन्तु जब निरुपभोग्य रहकर पीछे विपाकावस्थामे आनेसे उपभोग्य हो जाते हैं तब वे रागादिभावोंके द्वारा सात या आठ प्रकारके ज्ञानावरणादिकर्मोंका बाँधने लगते है अर्थात् जब आयु कर्मके बंधका अवसर होता है तब आठ कर्मोंका और उसके अनवसारमें सात कर्मोंको बाँधने लगते है। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है क्योंकि रागादिरूप जो आस्रवभाव हैं उनके अभावमे प्रत्यय बन्धक नही कहे गये है।

विशेषार्थ—जैसे तत्कालकी विवाही बालस्त्री पहले तो उपभोग योग्य नही होती परन्तु वही स्त्री जब तरुणावस्थाको प्राप्त हो जाती है तब उपभोग योग्य होनेसे पुरुषको अपने प्रेमपाशमे बाँध कर नाना प्रकारके बन्धनमे डाल देती है। इसी प्रकार पहले बाँधे हुए कर्म जबतक सत्तामे विद्यमान रहते है तबतक भोगने योग्य न होनेसे नवीन बन्धके कारण नहीं होते। परन्तु पीछे चलकर आबाधा काल पूर्ण होने पर जब उदयावलीमें आनेसे उपभोगके योग्य हो जाते है तब वे उपभोगके अनुरूप नवीन पुद्गलकर्मका बन्ध करने लगते हैं। इसतरह सत्तामे विद्यमान जो प्रत्यय हैं वे कर्मोदयके कार्यस्वरूप जीवके रागादि भावोंके सद्भावसे ही नवीन बन्ध करते है। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि यदि ज्ञानी जीवके पहलेके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय है, तो रहें, फिर भी वह निरास्रव ही है क्योंकि कर्मोदयके कार्यभूत रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नहीं हैं ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते है—

मालिनीछन्द

विजहति न हि सत्ता प्रत्यया पूर्वबद्धा
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपा ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन कर्मबन्ध ॥११८॥

अर्थ—यद्यपि पहलेके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय समयका अनुसरण करते हुए अर्थात् उदयावलीमें आनेके कालकी प्रतीक्षा करते हुए सत्ताको नही छोडते हैं तथापि समस्त रागद्वेषमोहका अभाव हो जानेसे अथवा उनके स्वामित्वका अभिप्राय निकल जानेसे ज्ञानी जीवके कभी कर्मबन्ध नहीं होता ॥११८॥

अनुष्टुप्छन्द

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

अर्थ—क्योंकि ज्ञानी जीवके राग, द्वेष और मोहका अभाव रहता है, इसीलिये उसके बन्ध नहीं होता। वास्तवमें बन्धके कारण राग, द्वेष और मोह ही हैं ॥११९॥

आगे यही भाव गाथाओंमें प्रकट करते हैं—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहरूप आस्रव नहीं है, इसलिये आस्रवभावके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नहीं हैं। वे मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय आठ प्रकारके कर्मोंके कारण कहे गये हैं और उन प्रत्ययोंके भी कारण रागादिक कहे गये हैं। सम्यग्दृष्टिके रागादि परिणामोंके अभावमें कर्मबन्ध नहीं होता है ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहभाव नहीं होते हैं। अन्यथा सम्यग्दृष्टिपन ही नहीं हो सकता। उन रागद्वेषमोहके अभावमें द्रव्यप्रत्यय पुद्‌गलकर्मकी हेतुताको नहीं धारण करते हैं क्योंकि द्रव्यप्रत्ययोंमें जो पुद्‌गलकर्मकी हेतुता है वह रागादिभावहेतुक है अर्थात् रागादिक भावोंके रहते हुए ही द्रव्यप्रत्यय नवीन पुद्‌गलकर्मोंका बन्ध करते हैं। क्योंकि हेतुके अभावमें कार्य नहीं होता, ऐसी प्रतीति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। अतः ज्ञानी जीवके बन्ध नहीं है।

यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जब सम्यग्दृष्टि जीवके सत्तामें द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तब वह बन्धरहित कैसे होता है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि द्रव्यप्रत्यय सत्तामें रहने मात्रसे बन्धके कारण नहीं होते, किन्तु उदयावलीमें आनेपर जब रागादिक भाव होते हैं तब उनके द्वारा वे बन्धके कारण होते हैं। इसतरह द्रव्यप्रत्ययोंमें पुद्‌गलकर्मके प्रति जो कारणपन है उसमें रागादिकभाव कारण पड़ते हैं और सम्यग्दृष्टि जीवके इन रागादिक भावोंका अभाव हैं, इसलिये उसके बन्धका अभाव कहा गया है ॥१७७॥१७८॥

अब बन्धसे रहित शुद्ध आत्मतत्त्वका अवलोकन कौन करते हैं? यह बताते हुए शुद्धनयकी महिमाका गान कलशा द्वारा करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

अर्थ—जो महानुभाव उद्धत ज्ञानरूपी चिह्नसे युक्त शुद्धनयको अंगीकार कर निरन्तर एकाग्रताका ही अभ्यास करते हैं वे रागादि निर्मुक्त चित्तवाले होते हुए सदा बन्धसे रहित समयसार—शुद्धात्मस्वरूपका अवलोकन करते हैं ॥१२०॥

आगे शुद्धनयसे च्युत होने वाले पुरुषोंकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्धनयसे च्युत होकर अज्ञानी होते हुए फिरसे रागादिके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवोंके द्वारा नानाप्रकारके विकल्पजालको उत्पन्न करनेवाले कर्मबन्धको धारण करते है ॥१२१॥

आगे दृष्टान्त द्वारा यही दिखाते हैं—

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मस-वसा-रुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
वज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥

(युगलम्)

अर्थ—जिसप्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार जठराग्निसे संयुक्त होता हुआ अनेकप्रकार मांस, वसा तथा रुधिर आदि भावोंरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध प्रत्यय अनेक प्रकारके कर्मोंको बांधते हैं, परन्तु उस समय वे जीव शुद्धनयसे च्युत होते है ।

विशेषार्थ—जिस समय ज्ञानी जीव शुद्धनयसे च्युत हो जाता है उस समय उसके रागादिक विकृत परिणामोंका सद्भाव होनेसे पूर्वके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय पुद्‌गलकर्मके बन्धको ज्ञानावरणादिरूप परिणमाने लगते हैं अर्थात् बन्धके कारण हो जाते हैं, क्योंकि कारणके रहते हुए कार्यकी उत्पत्ति अनिवार्यरूपसे होती है और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पुरुषके द्वारा गृहीत आहारका जठराग्निके द्वारा रस, रुधिर, मांस और वसा (चर्बी) रूप परिणमन देखा जाता है ॥१७९-१८०॥

अब फिर भी शुद्धनयकी महिमा दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेवात्र तात्पर्यं हेय शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्ध एव हि ॥१२२॥

अर्थ—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय छोड़ने योग्य नहीं है क्योंकि उसके न छोडनेसे बन्ध नहीं होता और उसके छोडनेसे बन्ध नियमसे होता है ॥१२२॥

अब उसी शुद्धनयका प्रभाव दिखाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृति
त्याज्य शुद्धनयो न जातु कृतिभि सर्वंकष कमणाम् ।
तत्रस्था स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद् बहि
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचल पश्यन्ति शान्त मह ॥१२३॥

अर्थ—धीर और उदार महिमावाले अनादिनिधन ज्ञानमे जो धीरताको धारण करानेवाला है तथा कर्मोंको सर्वतोभावेन निर्मूल करनेवाला है ऐसा शुद्धनय पुण्यपुरुषोंके द्वारा कदापि त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि उसमे स्थिर रहनेवाले ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमे जानेवाले अपनी किरणोंके समूहको शीघ्र ही समेटकर पूर्णज्ञानघन, अद्वितीय, अचल तथा शान्त तेजका अवलोकन करते हैं ॥१२३॥

आगे परमतत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करनेवाले पुरुषके पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, यह कलशाद्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागादाना झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणा
नित्योद्यात किमपि परम वस्तु सपश्यतोऽन्त ।
स्फारस्फारै स्वरसविसरै प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुल ज्ञानमुन्मग्नमतत् ॥१२४॥

अर्थ—सब ओरसे रागादिक आस्रवोका शीघ्र ही विलय हो जानेके कारण जो निरन्तर प्रकाशमान किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करता है ऐसे ज्ञानी जीवके अनन्तानन्त स्वकीयरसके समूहसे लोकपर्यन्त समस्त पदार्थोंको अन्तर्निमग्न करता हुआ अचल और अतुल्य ज्ञान प्रकट होता है ॥१२४॥

इस प्रकार आस्रवतत्त्व रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया ।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमे आस्रवका निरूपण करनेवाले चतुर्थ अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

●

५ संवराधिकार

मोक्षमार्गका प्रथम उपयोगी अङ्ग संवरतत्त्व है, निर्जरा तो प्रत्येक प्राणीके प्रत्येक समय होती रहती है क्योंकि 'कर्मफलानुभवनं हि निर्जरा' अर्थात् कर्मका फल भोगना ही निर्जरा है। परन्तु ऐसी निर्जरा कार्यकारिणी नहीं, संवरतत्त्वके विना निर्जराका कोई उत्कर्ष नहीं। अतः मोक्षमार्गोपयोगी सवरतत्त्वको कहते हैं।

अब संवरतत्त्वका रङ्गभूमिमें प्रवेश होता है—

आगे श्रीअमृतचन्द्रस्वामी सवरतत्त्वकी प्राप्तिमे परम सहायक भेदविज्ञानरूप चैतन्य-ज्योतिका वर्णन करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आससारविरोधिसवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजय सपादयत्सवरम् ।
व्यावृत्त पररूपतो नियमित सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वल निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अर्थ—अनादिससारसे अपने विरोधी संवरको विजयकर एकान्तसे मदोन्मत्त आस्रवका तिरस्कारकर जिसने नित्य विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको प्राप्त करानेवाला, परद्रव्य तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न, अपने स्वरूपमें स्थिर, सातिशय उज्ज्वल, स्फुरायमान तथा निजरसके भारसे पूरित चैतन्यमय ज्ञानज्योति उदयको प्राप्त होती हुई विस्तारको प्राप्त होती है।

भावार्थ—सवर अनादि कालीन नहीं है किन्तु आस्रव अनादिकालीन है, यह आस्रव संवरका विरोधी है उसे उत्पन्न ही नहीं होने दिया। अतएव उसे जीतकर विजयके उल्लासमें मदावलिप्त हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योतिका प्रकाश होता है तब उत्पन्न हुआ संवर आस्रवका तिरस्कारकर स्थायी विजयको प्राप्त करता है। वह भेदज्ञान-रूपी चिन्मय ज्योति, कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलद्रव्यसे तथा उनके निमित्तसे जायमान रागादिक चिदाभासोंसे आत्माको पृथक् करती है, अत्यन्त उज्ज्वल है और आत्मिक रससे परिपूर्ण है। जब इस ज्योतिका उदय हो जाता है तभी संवरकी प्राप्ति होती है। इसलिये सर्वप्रथम उसीकी महिमाका गान किया गया है ॥१२५॥

अब प्रथम ही समस्त कर्मोंके संवरका परम उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते है—

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मि य कम्म णोकम्म चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एयं तु अविवरीद णाणं जइया उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भाव उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—उपयोगमे उपयोग है, क्रोधादिकमें कोई भी उपयोग नहीं है, निश्चयसे क्रोधमें ही क्रोध है, उपयोगमे क्रोध नहीं है, आठ प्रकारके कर्ममें तथा शरीररूप नोकर्ममें उपयोग नहीं है और उपयोगमे कर्म तथा नोकर्म नही हैं। इसप्रकारका सम्यग्ज्ञान जब जीवको हो जाता है तब उपयोगसे शुद्ध आत्मावाला अर्थात् शुद्धोपयोगरूप होता हुआ यह जीव कुछ भी भाव—क्रोधादि विकृतभाव नहीं करता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका नहीं होता, क्योंकि दोनो द्रव्योंके भिन्न-भिन्न प्रदेश होनेसे एक सत्ता नहीं हो सकती। अतः एकद्रव्यका अन्यके साथ आधाराधेय सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण द्रव्यका स्वरूपमे प्रतिष्ठित होना ही उसका आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान, जाननरूप क्रियामें प्रतिष्ठित है क्योंकि जाननरूप क्रिया, ज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण ज्ञानमे ही रह सकती है। तथा क्रोधादिक क्रोधनरूप क्रियामें प्रतिष्ठित हैं क्योंकि क्रोधनरूप क्रिया क्रोधादिकोंसे अभिन्न होनेके कारण क्रोधादिकोंमे ही हो सकती है। क्रोधादिक भावोंमे, ज्ञानावरणादिक कर्मोंमे तथा शरीरादिक कर्मोमे ज्ञान नहीं है और न ज्ञानमें क्रोधादिकभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरादिक नोकर्म ही हैं क्योंकि इनका स्वरूप परस्परमे अत्यन्त भिन्न है इसीसे इनके परस्परमे परमार्थसे आधाराधेयभाव नहीं है। जैसे ज्ञानका जाननपन स्वरूप है वैसे क्रुद्धता स्वरूप नहीं है, इसीतरह क्रोधका जैसे क्रुद्धता-स्वरूप है वैसे जाननपन स्वरूपन ही है, ऐसी ही व्यवस्था है। इससे विपरीत व्यवस्था करनेको कोई भी समर्थ नहीं, क्योकि जानपनरूप और क्रोधपनरूप क्रिया, भावभेदसे भिन्न-भिन्न हैं, तथा इन क्रियाओमे स्वरूपभेद भी है, इससे यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इसीसे ज्ञान और अज्ञानका परस्परमे आधाराधेयभाव नहीं है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—जैसे आकाश नामक एकद्रव्य है, उसके आधाराधेयभावपर विचार कीजिये। आकाशसे भिन्न कोई महान् पदार्थ नहीं है जिसके आश्रय यह रहे, अतः आकाश ही आधार और आकाश ही आधेय है। इसीतरह ज्ञान ही आधार और ज्ञान ही आधेय है। इसी प्रकार क्रोधादिकमें भी यह नियम है। इस तरह साधु रीतिसे भेदज्ञानकी सिद्धि निर्विवाद है। इस पद्धतिसे जब इस भेदज्ञानमें विपरीतज्ञानकी कणिका भी नहीं रहती तब यह अविचलरूपसे स्थिर हो जाता है। उस कालमे यह ज्ञान शुद्धोपयोगमय आत्मरूप होता हुआ राग-द्वेष-मोहभाव-को नहीं करता है। अतएव इसी भेदज्ञानके बलसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे राग-द्वेष-मोहके अभावरूप संवर होता है ॥१८१-१८३॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा इसी भेदज्ञानका वर्णन करते है—

शार्दूलविक्रिडितछन्द

चैद्रूप्य जडरूपतां च दधतो कृत्वा विभाग द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिद मोदध्वमध्यासिता
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युता ॥१२६॥

अर्थ—ज्ञान चैतन्यरूपताको धारण करता है और राग पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण जडरूपताको धारण करता है। इस प्रकार इन दोनोंके बीचमे तीक्ष्ण छैनीके द्वारा बिभाग करके निर्मल भेदज्ञान उत्पन्न होता है। सो हे सत्पुरुषो! रागादिसे च्युत होकर इस समय शुद्धज्ञानघनस्वरूप इस एक भेदज्ञानका आश्रय कर आनन्दका अनुभव करो ॥१२६॥

अब भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस तरह होती है, यह कहते हैं—

जह कणयमग्गितविय पि कणयहाव ण त परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्त ॥१८४॥
एव जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवाद ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहाव अयाणतो ॥१८५॥

(जुग्मम्)

अर्थ—जिस प्रकार अग्निसे तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपनको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तपाया हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपनको नहीं छोडता है, ऐसा ज्ञानी जानता है। परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुआ अज्ञानी आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है।

विशेषार्थ—क्योंकि जिस जीवके पूर्वोक्त रीतिसे भेदविज्ञान हो गया है वही जीव भेदविज्ञानके सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है कि जिस प्रकार सुवर्ण प्रचण्ड अग्निसे तपाये जानेपर भी अपने सुवर्णस्वभावको नहीं त्यागता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव तीव्र कर्मविपाकसे युक्त होनेपर भी अपने ज्ञानस्वरूपको नहीं त्यागता है, क्योंकि "हजारों कारणोंके द्वारा भी किसीका स्वभाव छुडाया नहीं जा सकता।" यदि छुडाया जाने लगे तो उस स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जावेगा, सो होता नहीं, क्योकि सत् पदार्थका नाश होना असंभव है। इसी प्रकार ऐसा जानता हुआ ज्ञानी मनुष्य कर्मसे आक्रान्त होने पर भी न राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह करता है किन्तु केवल आत्माको ही प्राप्त होता है और जिस जीवके पूर्व कथित भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभावसे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होनेके कारण चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानकर राग करता है, द्वेष करता है तथा मोह करता है

तथा शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है ॥१८४॥१८५॥

अब शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर किस प्रकार होता है, यह कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो जीव नित्य ही अखण्ड धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता रहता है वह 'ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोंके आस्रवमे निमित्तभूत रागद्वेषमोहकी सतानका निरोध हो जानेसे शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और जो नित्य ही अज्ञानके द्वारा अशुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता रहता है वह, 'अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोंके आस्रवमे निमित्तभूत रागद्वेषमोहकी सन्तानका निरोध न होनेके कारण अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है। अतः शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही सवर होता है ॥१२६॥

यही भाव कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

अर्थ—यदि यह आत्मा किसी तरह धारावाहीज्ञानके द्वारा निरन्तर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता हुआ स्थित रहता है तो यह जो आत्मामे ही सब ओरसे रमण कर रहा है तथा परपरिणतिके रुक जानेसे जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसी आत्माको ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—यदि यह जीव बीचमें ज्ञेयान्तरका व्यवधान न देकर निरन्तर शुद्ध आत्माका ही ध्यान करता रहता है तो उसकी रागादिरूप परिणति नियमसे छूट जाती है और उसके छूट जाने पर वह निश्चल शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है ॥१२७॥

अब किस प्रकार संवर होता है ? यह कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१८७॥

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्त ॥१८८॥
अप्पाण झायतो दसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्क ॥१८९॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो आत्मा आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको पुण्य और पापरूप दो योगोसे रोक कर दर्शन-ज्ञानमे स्थिर भावको प्राप्त हो जाता है, अन्य पदार्थोंमे इच्छाका त्याग कर देता है, सब परिग्रहसे मुक्त होकर आत्माके द्वारा स्वीय आत्माका ध्यान करता है, कर्म और नोकर्मको नहीं चिन्तता है, चेतयिता होकर गुण-गुणीके विभागसे रहित एक-अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है और आत्माका ध्यान करता हुआ जा दर्शन-ज्ञानसे तन्मय तथा रागादिक अन्यभावोसे अतन्मय हो जाता है वह शीघ्र ही कर्मोसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है ॥

विशेषार्थ—निश्चयसे जो आत्मा राग-द्वेष-मोहमूलक शुभ-अशुभ योगोंमे प्रवृत्ति करनेवाले अपने आत्माका आत्माके ही द्वारा दृढतर भेदविज्ञानके बलसे अत्यन्त रोककर शुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्यमे प्रतिष्ठित करता है, समस्त परद्रव्योंकी इच्छाका परित्याग कर समस्त परिग्रहसे विमुक्त होता हुआ नित्य ही अत्यन्त निष्कम्प रहता है, कर्म-नोकर्मका किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श न करता हुआ आत्माके द्वारा स्वकीय आत्माका ही ध्यान करता है और स्वय सहज चेतक-ज्ञायक स्वभाव होनेसे एकत्वका ही चिन्तन करता है वह एकत्वके चिन्तन-से अत्यन्त विविक्त चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्यका प्राप्त होता है तथा शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर समस्त परद्रव्योके साथ तन्मय-पनका उल्लङ्घन करता हुआ शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मोसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है, यही सवरका प्रकार है ॥१८७।१८८।१८९॥

यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

मालिनीछन्द

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भ ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षय कर्ममोक्ष ॥१२८॥

अर्थ—जो भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्मस्वरूपकी महिमामें रत है ऐसे ही पुरुषोंको शुद्ध आत्माका लाभ होता है तथा शुद्धात्माके लाभके अनन्तर जो अन्यद्रव्यसे सर्वदा निस्पृह रहते हैं उन्हींके कर्मका अक्षय मोक्ष होता है ॥१२८॥

आगे किस क्रमसे संवर होता है ? यह कहते हैं—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाण अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मसाभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य ससारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान्ने उन पूर्व कथित राग-द्वेष-मोहभावोंके कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहें हैं। ज्ञानी जीवके इन हेतुओके अभावमे नियमसे आस्रवका निरोध हो जाता है, आस्रवभावके विना कर्मका भी निरोध हो जाता है, कर्मके निरोधसे नोकर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोंके निरोधसे ससारका निरोध अनायास हो जाता है ॥

विशेषार्थ—जीवके जब तक आत्मा और कर्ममें एकत्वका अभिप्राय है तब तक उसके मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग इन चार अध्यवसान भावोकी सत्ता है। ये अध्यवसानभाव ही रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके कारण है, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्मका मूल है और नोकर्म ससारका आदि कारण है। इस प्रकार यह आत्मा निरन्तर आत्मा और कर्ममे अभिन्नताके निश्चयसे मिथ्यात्व अज्ञान, अविरति और योगसे तन्मय आत्माका अध्यवसाय करता है, उस अध्यवसायसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावकी भावना करता है, और रागद्वेषमोहभावोको अपने माननेसे इनके द्वारा कर्मका आस्रव होता है, कर्मसे नोकर्म होता है, और नोकर्मसे ससार होता है। परन्तु जब आत्माके आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान हो जाता है तब उसके बलसे शुद्ध चैतन्यचमत्कारमय आत्माकी प्राप्ति होती है, आत्माकी प्राप्तिसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप, आस्रवके हेतुभूत अध्यवसानोका अभाव होता है, इनके अभावसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव हो जाता है, इन आस्रवभावोंके अभावसे कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मका अभाव होने पर नोकर्मका अभाव होता है और नोकर्मके अभावसे ससारका अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह संवरका क्रम है ॥१९०।१९१।१९२॥

आगे कलशा द्वारा भेदविज्ञानकी महिमा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

सपद्यते सवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

अर्थ—निश्चयकर शुद्धात्मतत्त्वके उपलम्भसे साक्षात् सवर होता है और शुद्धात्माका उपलम्भ भेदविज्ञानसे होता है। इसलिये वह भेदविज्ञान निरन्तर भावना करने योग्य है ॥ १२९ ॥

अब भेदविज्ञान कब तक भावने योग्य है ? यह कहते है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ—यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न रूपसे तब तक भावना करने योग्य हैं जब तक ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञानमे स्थिर नहीं हो जाता ॥१३०॥

अब भेदविज्ञान ही सिद्धपदकी प्राप्तिका कारण है, यह कहते है—

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई सिद्धपदको प्राप्त हुए है वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और जो कोई इस ससारमें बँधे है वे सब इसी भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे है ॥१३१॥

आगे सवरसे कैसा ज्ञान प्राप्त होता है ? यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां सवरेण ।
बिभ्रत्तोष परमममलालोकमम्लानमेक
ज्ञान ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अर्थ—भेदज्ञानकी प्राप्तिसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे रागसमूहका प्रलय हुआ और रागसमूहके प्रलयसे कर्मोका सवर हुआ तथा कर्मोंके सवरसे यह ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ जो कि परम सतोषको धारण कर रहा है, निर्मल प्रकाशसे सहित है, कभी म्लान नहीं होता है, एक है, ज्ञानमे स्थिर रहता है, और नित्य ही उद्योतरूप रहता है।

भावार्थ—अनादि कालसे यह जीव अज्ञानवश नानाप्रकारके दुःखोंसे आकीर्ण संसारमे भ्रमता हुआ आकुलताका पात्र रहता है। परन्तु जब इस जीवका संसार अल्प रह जाता है तब पहले इसे अज्ञानका अभाव होनेसे स्वपरका भेदज्ञान होता है, तदनन्तर उसीका निरन्तर अभ्यास करता है, पश्चात् उस दृढ अभ्यासकी सामर्थ्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है, अनन्तर उस शुद्ध आत्माके बलसे रागादिकरूप विभावभावोंके समुदायका

नाश हो जाता है और रागादिकोंके नाशसे कर्मोंका बन्ध न होकर संवर होता है। तदनन्तर परम संतोषको धारण करने वाले ऐसे ज्ञानका उदय होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त निर्मल है, जो अम्लान है, एक है, ज्ञानमे ही स्थिर है, और नित्य उद्योतसे सहित है। अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानमें यह सब विशेषताएँ नहीं थीं, जो अब केवलज्ञानमे प्रकट हुई हैं॥ १३२॥

इस तरह संवर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इसतरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमे सवरतत्त्वका वर्णन करने वाले पञ्चम अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ॥ ५॥

•

६ निर्जराधिकार

अनन्तर निर्जराका प्रवेश होता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरा धृत्वा पर सवर
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थित ।
प्राग्बद्ध तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृत न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ।।१३३।।

अर्थ—उधर रागादिक आस्रवोंके रुकनेसे निजधुराको धारणकर उत्कृष्ट सवर, आगामी सभी कर्मोंको अपने अतिशयसे दूरसे ही रोकता हुआ स्थित था, इधर अब पहलेके बँधे हुए कर्मोंको जलानेके लिए निर्जरारूप अग्नि विस्तारको प्राप्त हो रही है। इस तरह सवर और निर्जराके द्वारा ज्ञानज्योति इस प्रकार प्रकट होती है कि जिससे वह रागादिकके द्वारा फिरसे मूर्च्छित नही होती।

भावार्थ—राग-द्वेष आदिक आस्रवको रोककर जब संवर अपनी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट होता है तब वह अपनी सामर्थ्यसे आगामी कर्मोंको दूरसे रोक देता है अर्थात् सवरके होनेपर आगामी कर्मोंका आगमन रुक जाता है। और पहलेके बँधे हुए जो कर्म सत्तामे रहते है उन्हें नष्ट करनेके लिये निर्जरा आगे आती है। इस तरह सवरपूर्वक निर्जराके होनेपर इस जीवके वह ज्ञानज्योति—वह वीतराग विज्ञानता प्रकट होती है कि जो फिरसे रागादिकसे मूर्च्छित नहीं होती।।१२३।।

आगे सम्यग्दृष्टिकी सभी प्रवृत्तियाँ निर्जराका निमित्त हैं, यह कहते हैं—

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जरणिमित्तं ।।१९३।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि चेतन और अचेतन पदार्थोंका इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करता है वह सब निर्जराका ही कारण होता है।

विशेषार्थ—रागरहित मनुष्यका उपभोग निर्जराके लिये ही होता है, और रागादिकभावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिजीवके जो चेतन-अचेतन द्रव्योंका उपभोग है वह बन्धका ही निमित्त है। वही उपभोग रागादिकभावोंका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जराका ही निमित्त होता है। इस कथनसे यहाँ द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहा गया है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा वचनके अगम्य है, सम्यग्दर्शन होते ही गुणश्रेणी निर्जराका प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोंके द्वारा जो चेतन-अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है उसमे उसकी अन्तरङ्गसे विरक्ति रहती है। चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे वह विषयोंके उपभोगमे प्रवृत्त होता है। पर अन्तरङ्ग उसका उस ओरसे विरक्त ही होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कर्म, विपाकावस्था आनेपर अपना फल देकर खिर तो जाते हैं पर नवीन बन्धके कारण नहीं बनते ॥१९३॥

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

अर्थ—परद्रव्यके उपभुक्त होनेपर नियमसे सुख और दुःख उत्पन्न होता है, उदयमें आये हुए उस सुख और दुःखको यह जीव अनुभवता है, फिर आस्वाद देकर वह कर्म द्रव्य-निर्जराको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जिस कालमें परद्रव्यका उपभोग होता है उस कालमें उसके निमित्तसे साता अथवा असाताका अतिक्रमण न कर जावके या तो सुखरूप वेदन होता है अथवा दुःखरूप वेदन होता है, यह नियम है। जिस समय उसका वेदन होता है उस समय मिथ्यादृष्टि जीवके रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे बन्धका निमित्त होकर निर्जीर्यमाण होकर भी अनिर्जीर्यमाण होता हुआ बन्ध ही होता है और वही वेदन सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिकभावोंका अभाव होनेसे बन्धका निमित्त न होकर निर्जीर्यमाण होता हुआ निर्जराको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यके उपभोगके समय सुख अथवा दुःखका होना अवश्यभावी है। मिथ्यादृष्टि जीव रागादिक विकारीभावोंके कारण उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव जानकर आगामी नवीन बन्ध करता है। इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होनेपर भी अनिर्जीर्यमाण जैसा रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव अनन्त संसारके कारणभूत रागादिक विकारीभावोंका अभाव होनेसे उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव नहीं समझता है, इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होकर निर्जराको ही प्राप्त होता है, आगामी बन्धका कारण नहीं होता है। ज्ञानकी इस महिमाका वर्णन कलशा द्वारा करते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अर्थ—यह ज्ञानकी ही सामर्थ्य है अथवा निश्चयकर वीतरागभावकी महिमा है कि कोई जीव (सम्यग्दृष्टिजीव) कर्मका उपभोग करता हुआ भी कर्मोंके द्वारा नहीं बँधता है ॥१३४॥

अनन्तर ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते है—

जह विसमुवभुजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुग्गलकम्मस्सुदय तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ।।१९५।।

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्मके उदयको भोगता है तो भी कर्मसे नही बँधता है ।

विशेषार्थ—जैसे कोई विषवैद्य, परके मरणका कारण जो विष है उसे खाता हुआ भी अमोघ विद्याके बलसे विषकी मारकत्व शक्तिके रोक देनेसे मरणको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अज्ञानी जीवोंके रागादिक भावोंका सद्भाव होनेसे जो पुद्गलकर्मका उदय बन्धका कारण है उसीका उपभोग करता हुआ ज्ञानी जीव, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्यसे रागादिक भावोंका अभाव हो जानेपर बन्धकी सामर्थ्य रुक जानेसे बन्धको प्राप्त नही होता। केवल क्रिया बन्धका कारण नहीं, जबतक रागादिक परिणाम न हो तबतक वह स्थिति और अनुभाग बन्धमे निमित्त नही । जेसे विच्छूका डक निकल जानेके बाद उसका काटना विषका कारण नहीं होता ।।१९५।।

अब वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ।।१९६।।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बिना रागभावके मदिराको पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता । ऐसे ही ज्ञानी जीव अरतिभावसे द्रव्योका उपभोग करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष मदिराके प्रति अत्यन्त अरत है अर्थात् मदिरापानमे रुचि नहीं रखता है, कदाचित् किसी कारणवश वह मदिराका पान भी करले, तो भी उसके मदिरापानकी तीव्र अरुचि होनेसे वह मदिरा उसे मतवाला बनानेमे असमर्थ रहती है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव परपदार्थको किञ्चिन्मात्र भी नहीं भोगना चाहता, किन्तु सयमभावका अभाव होनेसे सातादि पुण्यप्रकृतियोंके उदयसे प्राप्त उपभोग-सामग्रीका भोग भी करता है, तो भी रागादिकभावोंका अभाव होनेसे बँधता नहीं है—कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता है ।।१९६।।

आगे कलशा द्वारा ज्ञानी विषयोंका सेवक होने पर भी असेवक है, यह दिखाते हैं—

रथोद्धताछन्द

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फल विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक. ।।१३५।।

अर्थ—जिस कारण ज्ञानी पुरुष विषयोंका सेवन होने पर भी विषय सेवनके अपने फलको नहीं प्राप्त होता है उस कारण ज्ञानके वैभव और वैराग्यके बलसे वह विषयोंका सेवन करनेवाला होकर भी सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य विषयोंका सेवन करने पर भी उसके फलको प्राप्त नहीं होता है। सो यह उसके ज्ञानवैभव और विरागताकी ही अद्भुत सामर्थ्य है। इसी सामर्थ्यसे वह विषयोंका सेवक होकर भी असेवक ही कहा जाता है।

अब यही दिखाते हैं—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ॥१९७॥

अर्थ—कोई विषयोंका सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवन करता है। जैसे किसी मनुष्यके प्रकरणकी चेष्टा तो है अर्थात् कार्यका व्यापार तो है परन्तु वह प्राकरणिक नहीं है—उस कार्यका करानेवाला स्वामी नहीं है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष किसी विवाह आदि कार्योंमें काम आदि तो करता है परन्तु उसका स्वामी न होनेसे उसके फलका भोक्ता नहीं होता है और जो उस कार्यका स्वामी है वह उस कार्यके करनेमें अव्यापृत है तो भी उसका स्वामी होनेसे फलभोक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव पूर्व कर्मोदयसे सम्पन्न भोगोंको भोगता हुआ भी रागादिकभावोंके अभावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेके कारण नहीं भोगनेवाला है और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन न करता हुआ भी रागादिकभावोंके सद्भावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला है ॥१९७॥

यही भाव कलशामें दरशाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्व वस्तुत्व कलयितुमय स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिद तत्त्वतः स्व पर च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है। अतएव यह स्वकीय वस्तुस्वरूपका अभ्यास करनेके लिये स्वीयरूपकी प्राप्ति और पररूपके त्याग द्वारा वास्तवमें यह मेरा स्व है और यह पर है, इस वृत्तको अच्छी तरह जानकर अपने स्वरूपमें ठहरता है और परद्रव्यस्वरूप सब प्रकारके रागयोगसे विरत होता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यका होना अवश्यंभावी है, इसलिये ज्ञानके

द्वारा वह सर्वप्रथम स्व और परके भेदज्ञानको प्राप्त होता है अर्थात् उसे इस बातका अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि यह तो मेरा आत्मद्रव्य है और यह मुझमे परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विकारी परिणमन है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही परद्रव्य हैं। परन्तु कर्मकी विपाकदशामे जायमान जो रागादिक विकारी भाव हैं वे भी परद्रव्य ही है। मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य है वही मेरा स्वद्रव्य है। भेदविज्ञानके द्वारा जब उसे इस प्रकारका निर्णय हो जाता है तब वैराग्यशक्तिकी महिमासे वह शुभ-अशुभ सभी प्रकारके रागयोगसे निवृत्त होकर अपना उपयोग अपने आपमे ही स्थिर कर लेता है ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यसे स्व और परको इस प्रकार जानता है—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

अर्थ—कर्मोंका उदयविपाक (उदयरस) जिनेश्वरदेवने नानाप्रकारका कहा है। परन्तु वे कर्मविपाक मेरे स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—कर्मोदयके रससे जायमान जो ये नानाप्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नही हैं। मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला हूँ।

सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसी श्रद्धा होती है कि यह जो ज्ञायकभाव है वह तो मेरा स्व है और उसके साथ मिल रहे रागादिकभाव पर हैं ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे स्व और परको इस प्रकार जानता है

पुग्गलकम्म रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

अर्थ—राग नामका पुद्गलकर्म है। उसके विपाकोदयमें यह रागपरिणाम आत्माका होता है, सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मै तो केवल ज्ञायकभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—निश्चयसे राग नामक पुद्गलकर्मकी प्रकृति है। उसका जब उदयकाल आता है तब आत्मामे रागभावकी उत्पत्ति होती है। किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि मै तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाववाला हूँ। इसीप्रकार रागपदका परिवर्तनकर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा, और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोकी व्याख्या करनी चाहिये। इसी पद्धतिसे और भी ऊहापोह करना चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता हुआ और परको त्यागता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है ॥१९९॥

आगे यही भाव गाथामे प्रकट करते हैं—

एव सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहाव ।
उदय कम्मविवागं य मुअदि तच्च वियाणतो ॥२००॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्वको जानता हुआ उदयको कर्मविपाक जानकर छोडता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य और विशेषरूपके द्वारा परस्वभावरूप समस्तभावोंसे पृथक् टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावको ही आत्माका तत्त्व जानता है और उसतरह तत्त्वको जानता हुआ स्वभावके उपादान और परभावके अपोहन (त्यागसे) उत्पन्न हुए अपने वस्तुत्वका प्रसार करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे जायमान सभी भावोंको छोड़ता है। इसलिये यह नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकस्वभावको तो आत्माका परिणमन जान ग्रहण करता है अर्थात् उसे उपादेय मानता है और कर्मोंके उदयसे जो रागादिक भाव होते हैं उन्हे पर जानकर उनका परित्याग करता है। पर वस्तुका परित्याग तब तक नहीं होता जब तक उसमे परत्वका निश्चय न हो जावे। सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञानके द्वारा स्वको स्व और परका पर जानने लगता है। इसलिये वह स्वको ग्रहण करता है और परका परित्याग करता है ॥२००॥

अब जिन्हें आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं है वे सम्यग्दर्शनसे शून्य है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टि स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अर्थ—कोई जीव ऐसा विचार करे कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध नही होता। इसतरह रागी होनेपर भी अहंकारसे प्रफुल्लित मुखको ऊपर उठाते हुए आचरण करें तथा समितियोंके पालनमे तत्परताका आश्रय लेवे तो आज भी वे पापी है, क्योंकि आत्मा और अनात्माका ज्ञान न होनेसे वे सम्यक्त्वसे शून्य है।

भावार्थ—कोई मनुष्य इस कथनीको सुनकर ऐसा विचार करे कि हम तो सम्यग्दृष्टि हैं। हमको बन्ध तो होना ही नहीं। अतः जो नानाप्रकारकी स्वेच्छाचारमें प्रवृत्तिकर आनन्दसे जीवन बितावे, उसे आचार्य भगवान् कहते है कि तुम्हारी तो कथा ही दूर रही। जो महाव्रत तथा समितिमे सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं किन्तु निजपरके ज्ञानसे शून्य है तो वे भी अभी पाप जीव ही है।

शास्त्रोंमे सम्यग्दर्शनका मूलकारण स्वपरका भेदविज्ञान बताया है। जब तक यह नही हो जाता है तब तक यह जीव सम्यक्त्वसे शून्य ही रहता है और सम्यक्त्वकी शून्यतामे महाव्रतोंका आचरण और समितियोंका पालन करता हुआ भी यह जीव पाप जीव कहलाता

है क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान् पाप है। जो जीव कर्मोदयसे जायमान रागको आत्मद्रव्य मानता है उसे स्वपरका भेदज्ञान नहीं है और उसके न होनेसे वह सम्यक्त्वसे शून्य ही कहलाता है ॥१३७॥

अब रागी सम्यग्दृष्टि क्यो नहीं होता है, यह दिखाते हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो ॥२०२॥

(युग्मम्)

अर्थ—निश्चयसे जिस जीवके रागादिक भावोंका लेशमात्र भी अभिप्राय है अर्थात् अणुमात्र भी रागादिकमें जिसके उपादेय बुद्धि है वह सम्पूर्ण आगमका ज्ञानी होकर भी आत्माको नहीं जानता है और जो आत्माको नहीं जानता है वह अनात्माको भी नहीं जानता है, इस तरह जो जीव और अजीवको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—जिसके रागादिक अज्ञानभावोंका लेशमात्र भी सद्भाव विद्यमान है वह श्रुतकेवलीके सदृश होकर भी ज्ञानमय भावोंके अभावसे आत्माको नहीं जानता है और जो आत्माको नहीं जानता है वह अनात्माको भी नहीं जानता है क्योंकि जीवादिक किसी भी द्रव्यका निश्चय स्वरूपकी सत्ता और पररूपकी असत्तासे होता है। अतः आत्माकी स्वरूप-सत्ताका अज्ञानी अनात्माका भी अज्ञानी है। इससे जो आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है वह जीव अजीवको भी नहीं जानता है और जो जीव अजीवके भेदज्ञानसे शून्य है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। इस तरह रागी जीव भेदज्ञानके अभावसे सम्यग्दृष्टि नहीं है।

यहाँ जो फलितरूपसे सम्यग्दृष्टि जीवके परमाणुमात्र भी रागका अभाव बताया है सो उसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि लेशमात्र रागको भी आत्माका स्वभाव नही समझता और न उसे उपादेय मानता है। अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहकी प्रकृतियोके उदयसे होनेवाला राग अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तकके जीवोंके यथासभव विद्यमान रहता है तो भी उन गुणस्थानोंमें रहने वाले जीवोंके सम्यक्त्व मे बाधा नही है क्योंकि रागके रहते हुए भी वे रागको आत्माका स्वभाव नहीं मानते हैं। रागी होते हुए रागको आत्माका मानना जुदी बात है और रागी होते हुए भी रागको आत्मा-का न मानना जुदी बात है। मिथ्यादृष्टि जीव रागी होता हुआ उस रागको आत्माका ही परिणमन मानता है और सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे रागी होता हुआ भी उस रागको आत्माका परिणमन नहीं मानता ॥२०१।२०२॥

अब कलशा द्वारा यह प्रकट करते हैं कि राग इस जीवका पद नहीं है किन्तु चैतन्य ही इसका पद है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अर्थ—अनादिसंसारसे पद-पदपर नित्य मत्त हुए ये रागी प्राणी जिस पदमे सो रहे हैं अर्थात् रमणकर रहे हैं वह आत्माका पद नही है, पद नही है (दो बार कहनेसे आचार्य महाराजकी अतिकरुणा सूचित होती है) अरे अन्धे प्राणियो ! जागो, यहाँ आओ, यहाँ आओ, यह तुम्हारा पद है, यह तुम्हारा पद है, जहाँपर चैतन्य धातु शुद्ध है, शुद्ध है तथा स्वरसके भारसे स्थायिभावको प्राप्त हो रही है।

भावार्थ—यह प्राणी अनादिकालसे—रागादिकोंको अपना निजभाव मान रहा है। इसीसे उनकी सिद्धिके अर्थ परपदार्थोंके संयोग—सग्रह और वियोगमे अपना सर्वस्व लगा देता है और निरन्तर उन्हींकी रक्षाके लिये प्रयत्न करता है उसे श्री गुरु समझाते है—रे अन्ध ! जिन वस्तुओंमे तुम अपने स्वरूपको भूलकर मोहित हो रहे हो, यह तुम्हारा अज्ञानभाव है, अब अपने निजस्वरूपको जानो, जहाँपर चेतनाका पिण्ड, सर्व विकल्पजालोंसे रहित सुख और शान्तिसे स्थायीपनको प्राप्त करता है वही तुम्हारा पद है।

आगे वह पद कौन है, यह कहते हैं—

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

अर्थ—आत्मामें परनिमित्तसे जायमान अपदरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म है, उन्हें त्यागकर स्वभावसे उपलभ्यमान, स्थिर तथा एकरूप इस चैतन्यभावको जिसतरह यह नियत है उसीतरह ग्रहण करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस भगवान् आत्मामें उपलब्ध बहुतसे द्रव्यरूप तथा भावरूप भावोंके मध्यमे जो अतत्त्वभावसे उपलभ्यमान, अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक तथा व्यभिचारी भाव हैं वे सभी स्वयं अस्थायी होनेके कारण स्थाता जो आत्मा उसके स्थान होनेके लिये असमर्थ होनेसे अपदभूत हैं, और जो तत्त्वभावसे उपलभ्यमान, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य तथा अव्यभिचारी भाव है वह एक ही स्वयं स्थायी होनेके कारण स्थाता जो आत्मा उसका स्थान होनेके लिये समर्थ होनेसे पदभूत है। इसलिये सम्पूर्ण अस्थायीभावों-को छोड़कर स्थायीभावभूत तथा परमार्थ रसरूपसे आस्वादमें आता हुआ यह एक ज्ञान ही आस्वाद करनेके योग्य है ॥२०३॥

यही भाव कलशामें कहते हैं—

एकमेव हि तत्स्वाद्य विपदामपद पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुर ॥१३९॥

अर्थ—जो विपत्तियोंका अपद है—अस्थान है, और जिसके आगे अन्य सब भाव अपद ही भासमान होते हैं वही एक पद आस्वाद करनेके योग्य है।

भावार्थ—निश्चयसे वह एक ज्ञानरूपपद आस्वाद करनेके योग्य है क्योंकि वह सम्पूर्ण आपदाओंका अपद है तथा उसका आस्वाद आनेपर अन्य निखिल भाव अपद भासने लगते है। ऐसा नियम है कि नकली रूप रात्रिमे ही चमत्कारजनक होता है किन्तु जहाँ सूर्यका उदय हुआ वहाँ ऊपरी चमकको सब आभा जाती रहती है ॥१३९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एक ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वाद समासादयन्
स्वाद द्वन्द्वमय विधातुमसह स्वा वस्तुवृत्ति विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषादय
सामान्य कलयत्किलैष सकल ज्ञान नयत्येकताम् ॥१४०॥

अर्थ—जो एक ज्ञायकभावसे पूरित महास्वादको प्राप्त हो रहा है, जो रागादिकसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादका आस्वादन करनेमे असमर्थ है, जो अपनी वस्तुपरिणतिको जानता है, तथा जो आत्मानुभवकी महिमासे विवश हो रहा है, ऐसा यह आत्मा विशेषके उदयसे रहित सामान्यभावको प्राप्त समस्त ज्ञानकी एकरूपताको प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जब यह आत्मा, आत्मद्रव्यकी परिणतिको जानने लगता है अर्थात् उसे जब ऐसा दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्माकी परिणति सदा आत्मरूप ही रहती है, अन्यरूप नहीं होती तब वह रागादिसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादको छोड देता है अर्थात् रागादिकको आत्मासे पृथक् समझता है, 'मैं एक ज्ञायक ही हूँ' अर्थात् पदार्थोंका जानना ही मेरा स्वभाव है, उनमे इष्टानिष्टका विकल्प करना मेरा स्वभाव नहीं है, इस प्रकार एक ज्ञायकभावका ही जब आस्वाद लेता है तथा आत्मानुभवकी महिमासे विवश होकर अन्य पदार्थोंके अनुभवकी ओर जब इसका लक्ष्य नहीं जाता तब विशेषोदयसे रहित सामान्यरूपताको प्राप्त जो ज्ञान है उसे एकरूप ही कर देता है अर्थात् ज्ञानके नानाविकल्पोंको गौण कर देता है ॥१४०॥

आगे ज्ञानकी एकरूपताका ही समर्थन करते हैं—

आभिणिसुदोहिमणकेवल च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो ज लहिदु णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानके भेद एक ही पदरूप होते हैं अर्थात् सामान्यरूपसे एक ज्ञान ही है। यह सामान्यज्ञान ही परमार्थ है जिसे प्राप्तकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और जो ज्ञाननामा एक पद है यही परमार्थ है और यही मोक्षका साक्षात् कारण है। इसके जो मतिज्ञानादिक पाँच भेद हैं वे इस लोकमें ज्ञानरूपी एकपदका भेदन करनेमे समर्थ नहीं हैं किन्तु उसी एक पदका समर्थन करते हैं। जिस प्रकार इस ससारमें मेघपटलसे आच्छादित सूर्य, उस मेघपटलका क्रम-क्रमसे विघटन होनेपर जब प्रकटरूपताको प्राप्त होता है और उस समय उसके जो हीनाधिक प्रकाशके भेद प्रकट होते हैं वे सूर्यके प्रकाशस्वभावका भेदन नहीं करते। तात्पर्य यह है कि जब मेघपटलसे सूर्य आच्छादित हो जाता है तब उसका प्रकाश मेघपटलोसे व्यक्त नहीं होता और जैसे-जैसे मेघपटल दूर होते जाते है वैसे-वैसे उसका प्रकाश व्यक्त होता जाता है। उन प्रकाशोके द्वारा सूर्यके स्वभावकी वृद्धि ही होती है। इसीप्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला है। परन्तु अनादिकालसे ही कर्मपटलसे आच्छिन्न होनेके कारण उसका वह स्वभाव व्यक्त नही होता। जैसे-जैसे कर्मपटलका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे आत्माके ज्ञानदर्शनगुणोका विकास होता जाता है, वे विकासरूप ज्ञानदर्शन, आत्माके ज्ञानस्वभावका भेदन नही करते किन्तु उसीका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये समस्त अवान्तर भेदोंसे रहित आत्माका स्वभावभूत जो एक ज्ञान है उसीका आलम्बन लेना चाहिये। उसीके आलम्बनसे पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्ति नष्ट होती है, आत्मलाभ होता है, और अनात्माका परिहार होता है, उसके होनेपर कर्म वृद्धिको प्राप्त नहीं होते, राग-द्वेष-मोह उपद्रव नही करते, फिर कर्मका आस्रव नहीं होता, आस्रवके अभावमें कर्मबन्ध नहीं होता, पूर्वका बँधा हुआ कर्म अपना रस देकर निर्जीर्ण हो जाता है और इस रीतिसे सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष हो जाता है ॥२०४॥

आगे इसी भावको कलशामे प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति यदिमा सवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर ॥१४१॥

अर्थ—जिसकी ये अतिशय निर्मल, सवेदन—व्यक्तियाँ—ज्ञानकी अवान्तर विशेषताएँ अपने आप उछलक रही हैं और इस तरह उछल रही हैं मानो अतिशयरूपसे पिये हुए समस्त पदार्थोंके समूहरूप रसके बहुतभारी बोझसे मतवाली ही हो रही हों, जो एक अभिन्न रसका धारक है, तथा अनेक आश्चर्योंकी निधि है, ऐसा यह भगवान चैतन्यरूपी रत्नाकर—आत्मारूपी समुद्र, एक होकर भी अनेक रूप होता हुआ ज्ञानके विकल्परूप तरङ्गोसे चञ्चल हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ आत्माको रत्नाकर अर्थात् समुद्रकी उपमा दी है। सो जिस प्रकार समुद्रमें अत्यन्त निर्मल लहरे स्वयमेव उछलती है उसी प्रकार इस आत्मामे भी ज्ञानके विकल्प-

रूप अनेक लहरे स्वयमेव उठ रही हैं। ज्ञानके ये विकल्प अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अनेक पदार्थोंके समूहको जानते है। जिसप्रकार समुद्र अभिन्नरस अर्थात् जलसे तन्मय होता है उसीप्रकार यह आत्मा अभिन्नरस अर्थात् ज्ञानसे तन्मय है, जिसप्रकार समुद्र अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है उसीप्रकार यह आत्मा भी अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है और जिसप्रकार समुद्र सामान्यरूपसे एक होकर भी तरङ्गोंके कारण अनेकरूप दिखाई देता है उसीप्रकार यह ज्ञानरूप आत्मा भी सामान्यरूपसे एक होकर भी अनेकरूप जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूप आत्मा परमार्थसे एक है। परन्तु मतिज्ञानादिके विकल्प से अनेकरूप भासमान होता है ॥१४१॥

आगे कलश द्वारा कहते हैं कि ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानगुणके विना दुर्लभ है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखै कर्मभि -
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इद निरामयपद सवेद्यमान स्वय
ज्ञान ज्ञानगुण विना कथमपि प्राप्तु क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थ—मोक्षके उद्देश्यसे किये हुए अत्यन्त कठिन कार्योंके द्वारा कोई स्वयं ही क्लेश उठावे तो भले ही उठावे अथवा महाव्रत और तपके भारसे पीड़ित हुए अन्य लोग चिरकाल तक क्लेश सहन करे तो भले ही करे। परन्तु साक्षात् मोक्षरूप निरामयपद—निरुपद्रव स्थान तो यह ज्ञान ही है, इसका स्वय स्वसवेदन हो रहा है, यह स्वय अनुभवमे आ रहा है। ऐसे इस ज्ञानरूप पदको ज्ञानगुणके बिना प्राप्त करनेके लिये कोई किसी भी तरह समर्थ नहीं है।

यहाँपर ज्ञानगुणको प्रधानता देकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्षके लिये आवश्यक नहीं है। भेदविवक्षामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्ष-प्राप्तिके अङ्ग है। परन्तु यहाँपर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका ज्ञानमे गतार्थ कर दिया है। ज्ञानकी जो दृढता है वही सम्यग्दर्शन है और ज्ञानमे कषायोदयके कारण जो चञ्चलता आती थी उसका अभाव हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥१४२॥

आगे यही भाव गाथामे दिखाते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पय बहू वि ण लहंति ।
त गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तुम सब ओरसे कर्मोंसे छुटकारा चाहते हो तो उस निश्चित ज्ञानको ग्रहण करो क्योंकि ज्ञानगुणसे रहित अनेकों प्राणी इस पदको प्राप्त नहीं कर पाते है।

विशेषार्थ—क्योंकि कर्ममे ज्ञानका प्रकाश नहीं है। अतः निखिल कर्मके द्वारा ज्ञानकी

उपलब्धि असभव है। ज्ञानमें ज्ञानका प्रकाश है अतः केवल ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानका लाभ होता है। इसी कारणसे अनेक पुरुष ज्ञानशून्य हाकर अनेक प्रकारके कर्मों द्वारा इस ज्ञानरूप निरामय पदको नहीं पा सकते हैं और इसके अलाभमे वे मनुष्य कर्मोंसे नही छूट सकते है। इसलिये जो मनुष्य कर्मोंसे छूटनेकी इच्छा करते है उन्हे मात्र ज्ञानके आलम्बनसे इस निश्चित पदको प्राप्त करना चाहिये ॥२०५॥

आगे यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

पदमिद ननु कर्मदुरासद
सहजबोधकलासुलभ किल ।
तत इद निजबोधकलाबलात्
कलयितु यततां सतत जगत् ॥१४३॥

अर्थ—यह पद कर्मके द्वारा तो दुष्प्राप्य है और सहजबोधकला—स्वाभाविकज्ञान कलासे सुलभ है। इसलिये जगत् इस ज्ञानपदको सहज ज्ञानकलाके बल प्राप्त करनेका निरन्तर यत्न करे।

भावार्थ—यह ज्ञानरूप आत्मपद केवल क्रियाकाण्डसे सुलभ नही है किन्तु स्वाभाविक ज्ञानकी कलासे सुलभ है। यहाँ ज्ञानके साथ सहज विशेषण दिया है। उससे यह सिद्ध हाता है कि मात्र द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है क्योकि ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वका पाठी होकर भी यह जीव अनन्त ससारका पात्र बना रहता है। यहाँ आवश्यकता मोहजन्य विकारसे रहित आत्मज्ञानकी है। प्रारम्भमे वह आत्मज्ञान क्षायोपशमिक अवस्थामे कलारूप ही होता है। परन्तु वह कलारूप आत्मज्ञान भी इस जीवको अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त करानेकी सामर्थ्य रखता है। जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया वह नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें या अधिकसे अधिक देशोन कोटि वर्ष पूर्वमे समस्त कर्मोंसे मोक्षको प्राप्त करता है॥ १४३ ॥

यही बात फिर भी कहते हैं—

एदह्मि रदो णिच्च सतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तम सोक्ख ॥२०६॥

अर्थ—इस ज्ञानमें ही नित्य रत होओ, इसी ज्ञानमें नित्य संतुष्ट होओ, इसी ज्ञानसे तृप्त होओ, ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा।

विशेषार्थ—जितना ज्ञान है उतना ही तो आत्मा है अर्थात् ज्ञानादिगुणोंका अविष्वग्भावरूप जो विलक्षण सम्बन्ध है वही आत्मा है, इस प्रकार निश्चयकर शुद्ध ज्ञानमे ही रति को प्राप्त होओ, क्योंकि इतना ही कल्याण है, इससे भिन्न और कल्याण कोई वस्तु नहीं।

ज्ञाता-द्रष्टा ही आत्मा है, जहाँ ज्ञान केवल परपदार्थको जानता है, रागादिक औपाधिक-भावरूप नहीं परिणमता, यही तो सम्यक्चारित्र है। अतः आचार्योंका कहना है कि ज्ञानका ज्ञानरूप रहना ही तो कल्याण है, अतिरिक्त कल्याणकी कल्पना करना मोहजभाव है, ऐसा निश्चयकर शुद्धज्ञानके द्वारा ही नित्य संतोषको प्राप्त होओ। और जितना ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभव है अर्थात् ज्ञेयभिन्न शुद्धज्ञानमें जो ज्ञानका अनुभवन है वही तो ज्ञानका निज-रूप है—ऐसा निश्चयकर ज्ञानमात्रसे ही नित्य तृप्तिको प्राप्त करो। इस प्रकार जो आत्मा अपने आपमे रत होगा, अपनेमें ही तृप्त होगा और आत्मामें ही संतुष्ट होगा उसके जो सुख होगा वह वचनके अगोचर होगा। वह सुख जिस क्षणमें होगा उसको यह आत्मा स्वयमेव देखेगा, अन्यसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं ॥२०६॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामें कहते हैं—

उपजातिछन्द

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ? ॥१४४॥

अर्थ—वह आत्मदेव स्वयमेव अचिन्त्य शक्तिवाला है, चिन्मात्र चिन्तामणि है, उसके सर्व अर्थकी सिद्धि स्वयं होती है अतः ऐसे ज्ञानी पुरुषको अन्य परिग्रहके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥१४४॥

अब यहांपर कोई आशङ्का करता है कि ज्ञानी परको ग्रहण क्यों नहीं करता ? इसीका उत्तर नीचे गाथामे देते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गह तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

अर्थ—जो नियमसे आत्माको ही आत्माका परिग्रह जान रहा है ऐसा कौन ज्ञानी पण्डित कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ?

विशेषार्थ—क्योंकि ज्ञानी पुरुष नियमसे ऐसा जानता है कि जिसका जो आत्मीय असाधारण स्वरूप है वही उसका स्व है और वह उसका स्वामी है। इस प्रकार तीक्ष्णतर-दृष्टिके अवलम्बनसे आत्मा ही आत्माका परिग्रह है। इसलिये यह जो परकीय वस्तु है वह मेरा स्व नहीं है और न मैं उसका स्वामी हूँ। यही कारण है कि ज्ञानी आत्मा परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता है। संसारमें यह नियम है कि जो चतुर, विज्ञ तथा भद्र मनुष्य हैं वे पर-पदार्थको न तो अपना जानते ही हैं और न उसे स्वीकार ही करते हैं। इसी पद्धतिका अनु-सरण करके सम्यग्ज्ञानी जीव अपने निज स्वभावको ही स्वकीय धन जानते हैं और उसीको ग्रहण करते हैं। पर पदार्थको अपना धन ,नहीं मानते हैं और न उसको ग्रहण करनेका प्रयास करते हैं। यही मुख्य हेतु है कि षट्खण्डाधिपति होकर भी वे अणुमात्र भी उसमें अपना नहीं मानते, इसीसे निरन्तर कमलपत्रकी तरह अलिप्त रहते हैं ॥२०७॥

आगे इसी अर्थको युक्तिसे दृढ़ करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवद तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

अर्थ—यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जावे तो मै अजीवपनको प्राप्त हो जाऊँ। क्योंकि मैं तो ज्ञानी हूँ, इसलिये परिग्रह मेरा नहीं है।

विशेषार्थ—यदि मैं परद्रव्यरूप अजीवको ग्रहण करूँ तो निश्चय ही यह अजीव मेरा स्वीयधन हो जावे और मै इस अजीवका निश्चयसे स्वामी हो जाऊँ। परन्तु एसा होता नहीं, यदि ऐसा होने लगे तो वस्तुकी मर्यादाका ही लोप हो जावेगा, और यह इष्ट नहीं। अतः जो अजीवका स्वामी है वह निश्चयसे अजीव ही है यदि मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँ तो निश्चयसे मेरे अजीवपन आ जावेगा, परन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्वीयधन है और इसी एक ज्ञायकभावका मैं स्वामी हूँ। इसलिये मेरे अजीवपन न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, अत. परद्रव्यको नही ग्रहण करता हूँ, यह मेरा दृढ निश्चय है ॥२०८॥

आगे इसी अर्थको और भी दृढ़ करते है—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके ऐसा दृढ निश्चय है कि परिग्रह छिद जावे भिद जावे, अथवा कोई उसे ले जावे, अथवा वह नष्ट हो जावे अथवा जिस किसी तरहसे चला जावे तो भी परिग्रह मेरा नहीं है।

विशेषार्थ—जब सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर चुका कि परवस्तु हमारी नही है तब उसकी कुछ भी अवस्था हो, उससे हमे क्या प्रयोजन है? वह छिद जावे, अथवा भिद जावे, अथवा चली जावे, अथवा नष्ट हो जावे, अथवा जिस किसी अवस्थाको प्राप्त होवे उसमे मेरा अणुमात्र भी नहीं है, अतएव मै परिग्रहको नहीं ग्रहण करता हूँ क्योकि परद्रव्य मेरा स्वीयधन नहीं है, इसीसे मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्यका आत्मीयधन है और परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मेरा जो स्व है वह मैं ही हूँ और अपना स्वामी मै स्वयं आप हूँ, इस प्रकार यह ज्ञानी आत्मा जानता है ॥२०९॥

अब यही भाव कलशामें प्रकट करते है—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्थ परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यत स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमय प्रवृत्त ॥१४५॥

अर्थ—इस प्रकार सामान्यरूपसे समस्त परिग्रहका त्यागकर अपने और परके अविवेकका कारण जो अज्ञान है उसे त्याग करनेका जिसका अभिप्राय है, ऐसा यह ज्ञानी विशेषरूपसे परिग्रहके त्याग करनेमें प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव सामान्यरूपसे सभी परिग्रहका त्यागकर धर्म, अधर्मभाव तथा भोजन-पान आदि विशिष्ट परिग्रहके त्याग करनेके लिये प्रवृत्त होता है, क्योंकि अज्ञानदशामे वह निज और परको एक समझता रहा है। परन्तु ज्यों ही ज्ञानी दशा प्रकट होती है त्यो ही इसे अनुभव होने लगता है कि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है। उसके सिवाय अन्य समस्त द्रव्य मेरे नहीं है। अतः उसमें स्वीयबुद्धिका त्याग करना ही कल्याण करनेवाला है ॥१४५॥

अब कहते है कि ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्म ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रहसे रहित है। अतएव उसके परिग्रहकी इच्छा भी नहीं है, इसीसे वह धर्मको नहीं चाहता है। जिस कारण उसके धर्मका परिग्रह नहीं है तिस कारण वह धर्मका ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छाका अर्थ परिग्रह है अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है। जिस जीवके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमयभाव है और ज्ञानी जीवके अज्ञानमयभावका अभाव है। ज्ञानी जीवके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छाके असद्भावसे धर्मकी इच्छा नहीं करता है, इसी हेतुसे ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावसे यह धर्मका केवल ज्ञायक ही है।

इच्छा और परिग्रहका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ इच्छा है वहीं परिग्रहका सद्भाव है। इच्छा मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण अज्ञानमयभाव है इसलिये स्वसंवेदनज्ञानी जीव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्मको छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म—अर्थात् पुण्यको इच्छा नहीं करता। यद्यपि अपने पदके अनुकूल ज्ञानी जीवके पुण्यरूप परिणाम होते हैं तो भी 'यह पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसा निश्चय होनेसे वह पुण्यसे तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार कोई दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बका ज्ञायक होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव अपने आत्मामें आये हुए पुण्य-परिणामका ज्ञायक ही होता है, पुण्यपरिणामरूप अपने आपको नहीं मानता है ॥२१०॥

आगे ज्ञानीके इसी प्रकार अधर्मका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

अर्थ—ज्ञानी जीव इच्छा रहित है, अतः परपदार्थके परिग्रहसे रहित है, ऐसा कहा गया है, इसीसे ज्ञानी जीव अधर्मकी इच्छा नहीं करता। यही कारण है कि ज्ञानी जीवके अधर्मका परिग्रह नहीं है। वह तो केवल उसका ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छा है वह परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। इसीसे ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावात्मक इच्छाके अभावसे अधर्मको नहीं चाहता है। इसीलिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावसे यह केवल अधर्मका ज्ञायक है। इसी पद्धतिसे अधर्मपदको परिवर्तित कर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह पद रखकर सोलह सूत्रोंकी व्याख्या करनी चाहिये।

यहाँ विषय-कषायरूप पाप-परिणामको अधर्म कहा गया है। ज्ञानी जीव जब धर्मको अपना स्वीयपरिणाम नहीं मानता, तब अधर्मको स्वीयपरिणाम कैसे मान सकता है? यद्यपि ज्ञानी जीवके भी चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थानमे विषय-कषायरूप परिणाम होते हैं परन्तु वह उन्हें 'ये परिणाम मेरे हैं' ऐसा नहीं मानता। उसकी श्रद्धा है कि चारित्रमोहके उदयसे जो ये विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं है। जैसे दर्पण, प्रतिबिम्बसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमें उससे तन्मय नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा इन विकारीभावोंसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमें उनसे तन्मय नहीं है। अतएव जिसप्रकार कोई दर्पणके प्रतिबिम्बका ज्ञाता होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव इस अधर्म परिणामका ज्ञाता होता है॥ २११॥

आगे ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

> अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असण।
> अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

अर्थ—जो इच्छावान् नहीं है वही परिग्रहसे रहित कहा गया है। ज्ञानी भोजनको नहीं चाहता है, इसलिये उसके भोजनका परिग्रह नहीं है, यही कारण है कि ज्ञानी महात्मा भोजनका ज्ञायक है।

विशेषार्थ—इच्छाका अर्थ परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके होता नहीं है, ज्ञानीके तो एक ज्ञानमय ही भाव होता है, इसीसे ज्ञानी आत्मा अज्ञानमयभावरूप इच्छाका अभाव होनेके कारण आहारकी इच्छा नहीं करता, इसलिये ज्ञानीके अशन (आहारका) परिग्रह नहीं है। ज्ञानात्मक ज्ञायकभावका सद्भाव होनेसे यह ज्ञानी केवल ज्ञायक ही होता है।

यद्यपि ज्ञानी जीवकी छठवे गुणस्थान तक शरीरकी स्थिरताके लिये आहारमें प्रवृत्ति

होती है तो भी वह आहारको आत्माका स्वभाव नहीं मानता, इसलिये आहार करता हुआ भी आहारके परिग्रहसे रहित है वह केवल आहारका ज्ञायक ही होता है ।।२१२।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाण ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१३।।

अर्थ—इच्छारहित ही परिग्रहरहित कहा गया है, ज्ञानी जीव पानकी इच्छा नहीं करता है, इसलिये उसके पानका परिग्रह नहीं है वह तो पानका ज्ञाता ही है ।

विशेषार्थ—इच्छा ही परिग्रह है । जिस पवित्र आत्माके इच्छा नहीं है उसके परिग्रहका अभाव है । इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी आत्माके होता नहीं है, ज्ञानीके एक ज्ञानमय भावका ही सद्भाव है, इसलिये ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे पानकी इच्छा नहीं करता है, इसीसे उस जीवके पानका परिग्रह नहीं है । उसके तो एक ज्ञानमय ज्ञायक भाव ही है । अतः वह केवल पानका ज्ञायक है ।

यद्यपि आहारकी तरह पानमें भी प्रवृत्ति छठवें गुणस्थान तक होती है तो भी ज्ञानी जीव उसे आत्माका स्वभाव नहीं मानता । असाता वेदनीयकी उदीरणासे प्रेरित होकर शरीरकी स्थिरताके लिये ज्ञानी जीव यद्यपि आहार और पानको ग्रहण करता है तो भी तद्विषयक इच्छाका अभाव होनेसे वह पानके परिग्रहसे रहित है वह केवल पानका ज्ञायक ही होता है ।।२१३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी तरह अन्य भावोंकी भी इच्छा नहीं करता है—

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ।।२१४।।

अर्थ—इनको आदि लेकर और भी जो विविध प्रकारके सर्व भाव हैं ज्ञानी जीव उनकी इच्छा नहीं करता है । अतएव निश्चयसे उसके ज्ञायकभाव ही है, अन्य सब विषयोंमें तो वह उसके निरालम्ब है ।

विशेषार्थ—इस प्रकार इन भावोंके अतिरिक्त अन्य भी जो अनेक प्रकारके परद्रव्य सम्बन्धी भाव हैं ज्ञानी जीव उन सबकी इच्छा नहीं करता, इसलिये ज्ञानी जीवके परद्रव्य सम्बन्धी सभी भावोंका परिग्रह नहीं है । इस प्रकार ज्ञानी जीवके अत्यन्त निष्परिग्रहपन सिद्ध होता है । इसतरह आत्मातिरिक्त निखिल पदार्थोंके परिग्रहका अभाव होनेसे जिसने समस्त अज्ञानभावको उगल दिया है, ऐसा ज्ञानी जीव सभी पदार्थोंमें अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावका धारक होता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का ही अनुभव करता है ।।२१४।।

अब यही भाव कलशमें प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

अर्थ—पूर्वबद्ध निजकर्मके विपाकसे यद्यपि ज्ञानी जीवके परपदार्थोंका उपभोग होता है तथापि रागके वियोगसे वह उपभोग परिग्रहपनको नहीं प्राप्त होता है ।

भावार्थ—अज्ञानावस्थामें बाँधे हुए कर्मोंका उदय तीव्र, मन्द या मध्यमरूपसे ज्ञानी जीवके भी होता है और उस उदयानुसार ज्ञानी जीवके नाना भाव भी होते हैं। परन्तु वह उन भावोंको आत्माका स्वभाव नहीं मानता, इसलिये वे परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होते ॥ १४६ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह नहीं है—

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्च ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके वर्तमानमे कर्मविपाकसे जो भोग प्राप्त हुआ है वह निरन्तर वियोग बुद्धिसे ही प्रवर्तता है अर्थात् उसका उपभोग करते हुए भी ज्ञानी जीवका सदा ऐसा अभिप्राय रहता है कि यह आपत्ति कब पृथक् हो और अनागत (भविष्य) कालमें होने वाले उदयकी आकांक्षा ज्ञानी नहीं करता है । इसतरह वर्तमान और भविष्यत्काल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह ज्ञानीके नहीं है तथा अतीतकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह अतीत हो जानेके कारण अभावरूप है ही । इसप्रकार ज्ञानी जीव त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगके परिग्रहसे रहित है ।

विशेषार्थ—कर्मके उदयसे जो उपभोग प्राप्त होता है वह अतीत, वर्तमान और अनागतके भेदसे तीन प्रकारका है । उनमे जो अतीत है वह तो अतीत हो जानेके कारण ही परिग्रह भावको नहीं धारण करता है और अनागत भोग आकाङ्क्षा करनेसे ही परिग्रहभावको प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं, सो ज्ञानी जीवके अनागत—आगामी भोगकी इच्छा नहीं है । इसलिये वह भी परिग्रहभावको नहीं प्राप्त होता है । तथा वर्तमानमे जो उपभोग प्राप्त है उसे अन्तरङ्गसे भोगना नहीं चाहता है अर्थात् उससे निरन्तर विरक्तबुद्धि रहता है, क्योंकि ज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है । अतः वर्तमान उपभोग उसके परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है । अनागत भोगकी ज्ञानीके इच्छा ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानी जीवके अज्ञानमयभावरूप इच्छाका अभाव है इसलिये अनागतकर्मके उदयका उपभोग भी ज्ञानीके परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है ॥ २१५ ॥

आगे ज्ञानी भविष्यत् कालमे होने वाले भोगको क्यों नहीं चाहता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कया वि ।।२१६।।

अर्थ—जो भाव अनुभव करता है उसे वेदकभाव कहते हैं और जो अनुभव करने योग्य है उसे वेद्यभाव कहते हैं। यह दोनो भाव क्रमसे होते हैं, एक समयमे नहीं होते अर्थात् जिस कालमे वेदकभाव है उस कालमें वेद्यभाव नहीं है और जिस कालमे वेद्यभाव है उस कालमे वेदकभाव नहीं है अर्थात् दोनों ही समय-समयमें नष्ट हो जाते है। उन्हे जाननेवाला ज्ञानी जीव कदापि दोनोको भी नहीं चाहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव स्वभावभावके ध्रुवपनसे नित्य ही टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है और वेद्यवेदकभाव उत्पन्न तथा विनाशस्वभावपनसे अनित्य है। इन दोनोंमे जो भाव आकाक्षा करता है कि मै इच्छामे आये हुए भावका वेदन करूँगा। सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होता है उसको पहले जिस भावका वेदन करना चाहता था, वह वेद्यभाव विलयका प्राप्त हो जाता है, उसके विलीन होनेसे वेदकभाव किसको वेदै ? कदाचित् कहो कि वेदक-भावके पश्चात् होनेवाला जो वेद्यभाव है उसे वेदै, सो जबतक आकांक्षाका विषय वेद्यभाव उत्पन्न होता है तबतक यह वेदकभाव नष्ट हो जाता है कौन वेदै ? कदाचित् वेद्यभावके पश्चात् होनेवाला वेदकभाव उसे वेदन करेगा सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होगा तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जावेगा। इसप्रकार अनवस्थिति होनेसे अभीष्टकी सिद्धि होना असभव है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उभयभावकी अभिलाषासे शून्य हैं ।।२१६।।

यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

स्वागताच्छन्द

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

अर्थ—वेद्य और वेदकभाव दोनों ही क्षणिक हैं। इसीसे जो कांक्षित भाव है वह कदापि वेदनेमे नहीं आता, इसीलिये ज्ञानी जीव कुछ भी आकांक्षा नहीं करता, प्रत्युत सर्वभावोसे विरक्तिभावको प्राप्त होता है।

भावार्थ—परमार्थसे यह जीव बाह्य भोग-उपभोगका अनुभव नहीं करता है, किन्तु भोग-उपभोगकी आकाक्षा करने वाले आत्मपरिणामका ही अनुभव करता है। इस स्थितिमें आत्मा ही वेद्य है और आत्मा ही वेदक है। आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य कहलाता है और जो भाव अनुभव करता है वह वेदक कहलाता है। आत्माका यह वेद्य-वेदकभाव क्रमवर्ती है अर्थात् जिस समय वेद्यभाव होता है उस समय वेदकभाव नहीं होता

और जिस सयय वेदकभाव होता है उस समय वेद्यभाव नहीं होता। यह वेद्यवेदकभाव कर्मोदयसे जायमान होनेके कारण आत्माका विभाव कहलाता है, स्वभाव नहीं। विभाव होनेसे वह क्षणभङ्गुर है। अतः आत्माका वेदकभाव जिस वेद्यभावकी इच्छा करता है वह क्षणभङ्गुर होनेसे वेदन करनेमें नहीं आता। जब वेदन करनेमे नहीं आता तब ज्ञानी जीव उसकी इच्छा ही क्यों करेगा ? वह तो सब ओरसे विरक्तिको ही प्राप्त होता है ॥१४७॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीवके भोग-उपभोगमे राग नहीं होता है—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
ससारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

अर्थ—बन्ध और उपभोगके निमित्त जो अध्यवसानके उदय हैं वे सब संसारविषयक तथा देहविषयक हैं उनमें ज्ञानी जीवके राग नहीं उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें निश्चयसे जो अध्यवसानके उदय हैं उनमे कितने तो ऐसे हैं जिनका विषय ससार है और कितने ही ऐसे हैं जिनका विषय शरीर है। जितने संसार-विषयक हैं वे बन्धके निमित्त हैं और जितने शरीरविषयक हैं वे उपभोगके निमित्त हैं। जो बन्धके निमित्त हैं वे राग-द्वेष-मोह आदिक हैं और जो उपभोगके निमित्त है वे सुख-दुःख आदिक हैं। इन सभी भावोंमें ज्ञानी जीवके राग नहीं होता है क्योंकि ये सभी भाव नाना-परद्रव्योंके सम्बन्धसे जन्य हैं और ज्ञानी जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला है। अतएव ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

मोहनीयकर्मके उदयसे जो मोह-राग-द्वेष तथा हर्ष-विषादादिक भाव होते हैं उन्हें अध्यवसानभाव कहते हैं। इन अध्यवसानभावोंमें जो मोह-राग-द्वेष भाव हैं वे ससारविषयक हैं अर्थात् इन्हीं भावोंका निमित्त पाकर आत्माकी संसृति-परम्परा होती है और यही भाव आगामीकर्मबन्धमें निमित्त पड़ते हैं। तथा जो हर्ष-विषादादिक भाव हैं वे शरीर विषयक हैं और उपभोगके निमित्त हैं अर्थात् शरीरमें सुखादिक द्वारा उपक्षीण हो जाते हैं। इनसे ससार-सन्ततिका प्रवाह नहीं चलता, क्योंकि जब तक इनके साथ रागादिक परिणाम न हों तब तक वे स्वयं बन्धके जनक नहीं होते। अतएव जो सम्यग्ज्ञानी जीव हैं उनके इन अखिल अध्यवसानादिक भावोंमे रागभाव नहीं है ॥ २१७ ॥

यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

स्वागताछन्द

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभाव
कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अर्थ—रागरूपी रससे रहित होनेके कारण ज्ञानी जीवकी क्रिया परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि हर्रा, फिटकरी आदिसे उत्पन्न कषायलापनसे रहित वस्त्रमे जो रङ्ग दिया जाता है वह स्वीकृत होने पर भी बाहर ही बाहर रहता है, अन्तरङ्गमे प्रवेश नहीं करता ॥१४८॥

स्वागताछन्द

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशील ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवका ऐसा सहज स्वभाव है कि उसकी आत्मामे स्वयमेव रागकी उत्पत्ति नहीं होती। इसीसे ज्ञानी जीव कर्ममध्यमे पतित होकर भी कर्मोंसे लिप्त नही होता है ॥१४९॥

आगे दृष्टान्त द्वारा इसी बातका समर्थन करते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दम-मज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम-मज्झे जहा लोहं ॥२१९॥
(युग्मम्)

अर्थ—ज्ञानी जीव सब द्रव्योंमें रागका त्याग करनेवाला है, इसलिये वह मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमे पडा हुआ भी कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह कि कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ सुवर्ण जङ्गसे लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी जीव सब द्रव्योंमे राग करता है, इसलिये वह मन, वचन, कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमे पडा हुआ कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त होता है जिस तरह कि कर्दमके मध्यमे पड़ा हुआ लोहा जङ्गसे लिप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार निश्चयसे सुवर्ण कर्दमके मध्यमें पडा हुआ होनेपर भी कर्दमसे लिप्त नही होता, क्योंकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमे अर्थात् मन, वचन, कायके व्यापारके बीचमें पडा हुआ होनेपर भी कर्मसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागका त्यागी होनेसे कर्मसे लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। जिसप्रकार लोहा कर्दमके मध्यमे पडकर कर्दमसे लिप्त हो जाता है क्योकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमे पड़कर कर्मसे लिप्त होता है क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागसे युक्त होनेके कारण कर्मोंसे लिप्त होना उसका स्वभाव है।

सुवर्णका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह कितने ही कालपर्यन्त कर्दममे पड़ा रहे, परन्तु उसके वर्णमे विकार नहीं होता। इसी तरह ज्ञानी जीवका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबन्धसे रहित रहता है। कर्मबन्धका कारण रागपरिणति है और ज्ञानी जीवके वह रागपरिणति छूट जाती है। इसलिये केवल क्रियासे उसके बन्ध नहीं होता। परन्तु अज्ञानी जीवकी परिणति इससे विलक्षण है। जिस प्रकार लोहा कर्दममे डाल दिया जावे तो वह उसके सम्बन्धसे जगालसे लिप्त हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मके मध्यमे पड जावे अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप व्यापार करे तो वह कर्मोंसे लिप्त हो जाता है क्योकि कर्मबन्धका प्रमुख कारण रागभाव है और वह उसके विद्यमान है ही ॥२१८-२१९॥

आगे जिसका जो स्वभाव है वह वैसा ही रहता है यह कलशा द्वारा कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

> यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य
> कर्तुं नैष कथचनापि हि परैरन्यादृश शक्यते।
> अज्ञान न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञान भवत्सतत
> ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

अर्थ—जिस वस्तुका जो जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है, वह किसी भी तरह दूसरोके द्वारा अन्यथा नही किया जा सकता। इसी पद्धतिसे ज्ञान भी कभी अज्ञान नहीं हो सकता। अतएव आचार्यका उपदेश है कि हे ज्ञानी जीव ! कर्मोदयसे जो कुछ उपभाग प्राप्त हुआ है उसे उदयजनित सामग्री जान अहंकार बुद्धिसे रहित होकर भोग, यदि इस नीतिसे उदासीनभावसे भोगेगा तो परापराधजनित बन्ध तुझे नहीं होगा।

भावार्थ—इस जीवके ज्ञानके साथ अनादिकालसे मोहजन्य विकारीभावोका संमिश्रण चला आ रहा है। अज्ञानी जीव उस संमिश्रणको ज्ञानका स्वभाव जान उससे कभी विरक्त नहीं होता। इसलिये उसके बन्ध सदाकाल जारी रहता है। परन्तु ज्ञानी जीव इस अन्तरको समझ जाता है, वह ज्ञानको ज्ञान और मोहजन्य रागादिक विकारोको विकार समझ लेता है, इसलिये उससे विरक्त हो जाता है। इस विरक्तिके कारण ज्ञानी जीव यद्यपि प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है तो भी उसके बन्ध नहीं होता। उसका कर्मोदय अपना फल देकर निर्जीर्ण होता जाता है, नवीन बन्धका कारण नही होता। कर्मोदय, ज्ञानी जीवके ज्ञानको अन्यथा करनेके लिये समर्थ नही है क्योकि वस्तुका ऐसा स्वभाव है कि वह सदा वस्तुके ही स्वाधीन रहता है, किसी भी तरह उसका अन्यथा परिणमन नहीं कराया जा सकता ॥१५०॥

आगे यही अर्थ दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं—

> **भुंजतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।**
> **संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्णगो काऊ ॥२२०॥**

तह णाणिम्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्स वि णाण ण सक्कमण्णाणदं णेदु ॥२२१॥
जइया स एव सखो सेदसहाव तय पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभाव तइया सुक्कत्तण पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तय पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणद गच्छे ॥२२३॥

अर्थ—जिस तरह शङ्ख यद्यपि नाना प्रकारके सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योका उपभोग करता है तो भी उसका श्वेतभाव कृष्ण नहीं किया जा सकता है। उसी तरह ज्ञानी जीव यद्यपि सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानभावको प्राप्त नहीं कराया जा सकता और जिस तरह जिस कालमे वही शङ्ख उस श्वेतभावको छोडकर कृष्णभावको प्राप्त हो जाता है उस कालमें श्वेतभावको स्वयं छोड देता है उसी तरह ज्ञानी जीव भी जिस कालमे उस ज्ञानभावको छोड देता है उस कालमे अज्ञान-भावसे परिणत हुआ अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार निश्चयसे शङ्ख यद्यपि परद्रव्यका उपभोग करता है तो भी जो उसका स्वीय श्वेतभाव है वह परके द्वारा कृष्ण नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमें परभावके प्रति निमित्तपनेकी अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपर पदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो तो भी उसका जो स्वीय ज्ञानभाव है वह परके द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमे परभावके प्रति निमित्तपनकी अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपरपदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानीके परकृत अपराधके निमित्तसे बन्ध नही होता है। और जिस प्रकार जिस समय वही शङ्ख परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, श्वेतभावको छोडकर स्वय ही कृष्णभावसे परिणमता है उस समय उसका श्वेत-भाव स्वय ही कृष्णभावको प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिस समय वही ज्ञानी परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, ज्ञानको छोडकर स्वयमेव अज्ञानभावसे परिण-मता है उस समय उसका ज्ञान स्वयं ही अज्ञानभावको प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी जीवके जो बन्ध होता है वह स्वीय अपराधके निमित्तसे ही होता है ॥२२०-२२३॥

आगे यही भाव कलशाके द्वारा दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचित किंचित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भो ।

बन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

अर्थ—हे ज्ञानी जीव ! यद्यपि तुझे कभी कर्म करना उचित नहीं है अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध करना तेरे योग्य नहीं है तो भी कुछ कहा जाता है। 'परद्रव्य मेरा कभी नहीं है' ऐसा कहता हुआ यदि तूँ उसका उपभोग करता है तो खेद है कि तूँ दुर्भुक्त ही है अर्थात् खोटा उपभोग करनेवाला ही है। जो वस्तु तेरी नहीं उसका उपभोग करना असद् उपभोग ही है। कदाचित् तूँ यह कहे कि ज्ञानी जीवके उपभोगसे बन्ध नहीं होता तो इसके उत्तरमे आचार्य कहते है कि तो क्या तेरा कामचार है अर्थात् तेरी इच्छासे बन्ध रुकनेवाला है ? अरे भाई ! ज्ञानरूप होकर निवास कर—ज्ञानके साथ मिले हुए रागादिकका दूरकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहकर कार्य कर, तभी बन्धसे बच सकता है अन्यथा निश्चित ही अपने अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा।

भावार्थ—निश्चयसे जीव परद्रव्यका न कर्ता है और न भोक्ता है परन्तु अज्ञानी होकर यह परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता बन रहा है। ऐसे जीवको आचार्य समझाते है कि हे भाई ! तूँ अपने इस अज्ञानको छोड़, तू तो ज्ञानी है अतः ज्ञानस्वभावका ही प्राप्त हो, परद्रव्य जब तेरा नहीं है तब तूँ उसका उपभोग करनेवाला कैसे बनता है ? लोकमे परका उपभोग करना असद् उपभोग कहलाता है। इसके उत्तरमे वह कहता है कि मै तो ज्ञानी हूँ, परद्रव्यके उपभोगसे मुझे बन्ध नहीं होगा अतः उपभोग करते हुए भी मेरी हानि नहीं है। तब आचार्य कहते हैं कि बन्ध होना और न होना तेरी इच्छा पर निर्भर नहीं है। इस विषयमे तेरा स्वेच्छाचार नहीं चल सकता। यदि तूँ ज्ञानी होकर रहेगा अर्थात अपने ज्ञानमे-से रागादिक विकारीभावोंको पृथक् कर देगा तब तो बन्धसे बच सकेगा, अन्यथा अपने इस अपराधसे—रागादिविकारीभावरूप परिणमनसे निश्चित ही बन्धको प्राप्त होगा ॥१५१॥

आगे रागी मनुष्य ही कर्मबन्धको प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशील मुनि ॥१५२॥

अर्थ—क्योंकि कर्म अपने करनेवाले कर्ताको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नहीं करता, किन्तु फलकी इच्छा रख कर कर्म करनेवाला प्राणी ही कर्मके फलको प्राप्त होता है। इसीलिये ज्ञानरूप होते हुए जिसने रागकी रचनाको दूर कर दिया है तथा कर्मके फलका त्याग करना जिसका स्वभाव है, ऐसा मुनि (ज्ञानी जीव) कर्म करता हुआ भी कर्मसे बद्ध नहीं होता है।

भावार्थ—वास्तवमें बन्धका कारण अन्तरङ्ग वासना है। जिनके दर्शनमोहका उपशमादि हो गया है उनके मिथ्यात्वके जानेसे स्वपरभेदज्ञान हो जाता है। वे भेदज्ञानके बलसे परको पर जानते हैं, केवल चारित्रमोहके उदयसे नहीं चाहते हुए भी औदयिक रागादिककी वेदनाके अपहारार्थ रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवनके समान बाह्य भोगोंमें यद्यपि प्रवृत्ति करते हैं तो भी स्निग्धताके अभावमें बन्धको प्राप्त नहीं होते ॥१५२॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरय सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्त ण सेवदे राय।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थ सेवए ण कम्मरय।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—इस लोकमें जिस प्रकार कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो वह राजा भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। इसी प्रकार यह जीवनामा पुरुष सुखके निमित्त कर्मरूपी रजकी सेवा करता है सो वह कर्म भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। यदि वह पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा नहीं करता है तो वह राजा उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग नहीं देता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंके लिये कर्मरूपी रजकी सेवा नहीं करता है तो वह कार्य भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग अर्थात् विषय नहीं देता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा करता है तो वह राजा उसके लिये फल देता है। उसी प्रकार जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा करता है तो कर्म उसके लिये फल देता है और जिस प्रकार वही पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिये फल नहीं देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा नहीं करता है तो कर्म उसके लिये फल नहीं देता है।

ऊपर कलशामे जो कहा गया था कि कर्म किसीको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नहीं करता, किन्तु जो फलकी इच्छा रखता हुआ कर्म करता है वही कर्मसे युक्त होता है, वही अर्थ यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्वय-व्यतिरेकसे दृढ़ किया गया है। जिस प्रकार फलकी इच्छा रखकर सेवा करनेवाले पुरुषको राजा फल प्रदान करता है और फलकी इच्छा न रखकर

सेवा करनेवालेको राजा फल प्रदान नहीं करता है। इसी प्रकार फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म फल देता है और फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म कुछ भी फल नहीं देता। तात्पर्य यह है कि इच्छापूर्वक कर्म करनेवाले पुरुषके ही कर्म बन्ध होता है और इच्छाके बिना कर्म करनेवाले पुरुषको कर्म बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य अन्तरङ्गसे रागादिको चाहता नहीं है किन्तु चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे आये हुए रागादिसे प्रेरित होकर भोगोपभोगमे प्रवृत्ति करता है, इसलिये वह बन्धसे रहित कहा गया है ।।२२४ २२७।।

इसी भावको कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्त येन फल स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वय
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतित स्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ कि न कुरुते कर्मेति जानाति क ।।१५३।।

अर्थ—जिसने कर्मका फल त्याग दिया है वह कर्म करता है, इसकी हम प्रतीति नहीं करते है किन्तु इस ज्ञानीके भी किसी कारणसे कुछ कर्म इसके वश बिना आ पड़ते है और उनके आ पडनेपर भी यह ज्ञानी निश्चल परमस्वभावमे स्थित रहता है। इस स्थितिमे ज्ञानी क्या करता है ? और क्या नहीं करता है यह कौन जानता है ?

भावार्थ—कर्मका बन्ध, कर्मफलके इच्छुक प्राणीके होता है। जिसने कर्मफलकी इच्छा छोड दी उसे कर्मका बन्ध नहीं होता। यहाँ सम्यग्दृष्टिजीवको ज्ञानी कहा गया है। यद्यपि ज्ञानीके ज्ञानचेतना है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं है फिर भी कालान्तरमे जो कर्म अर्जित किये है वे उदयमें आकर अपना रस देते है, उन्हे यह नहीं चाहता किन्तु चारित्र-मोहके सद्भावमे पराधीनतासे भोगने पडते है। भोगनेपर भी अपने परमज्ञानस्वभावमे अकम्प स्थिर रहनेसे वे कर्म, ज्ञानीका कुछ बिगाड करनेमे समर्थ नहीं होते। अतः निष्कर्ष निकला कि ज्ञानी क्या करता है ? और क्या नहीं करता है ? इसको कौन जाने ? वही जाने ।।१५३।।

आगे ज्ञानी जीव ही निर्भय होते है यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिद कर्तुं क्षमन्ते पर
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वय
जानन्त स्वमबध्यबोधवपुष बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव ही इस उत्कृष्ट साहसके करनेमें समर्थ होते है कि जिसके भयसे विचलित हुए तीन लोकके जीव अपना-अपना मार्ग छोड़ देते हैं, ऐसे वज्रके पड़नेपर भी वे

स्वभावसे निर्भय होनेके कारण सभी प्रकारकी शङ्काको छोडकर स्वयं अपने आपको दूसरेके द्वारा बाधा न जा सके, ऐसे ज्ञानशरीरसे युक्त जानते हुए ज्ञानसे च्युत नहीं होते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्कित गुणका धारक होता है, अतः वह सदा सब प्रकारके भयोंसे निर्मुक्त रहता है। जिस वज्रके पडनेपर तीन लोकके जीव भयसे विचलित हो अपना-अपना मार्ग छोड देते हैं उस वज्रके पडने पर भी सम्यग्दृष्टि सदा यही विचार करता है कि मैं तो ज्ञानशरीर हूँ अर्थात् ज्ञान ही मेरा रूप है और ऐसा ज्ञान, जो कि कभी किसीके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, ऐसा विचारकर वह सदा अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत नहीं होता ॥१५४॥

आगे यही भाव गाथामे दिखाते हैं—

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्त-भय-विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्क होते हैं, इसलिये निर्भय हैं और क्योंकि सप्तभयसे निर्मुक्त है, इसलिये निःशङ्क है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही समस्त कर्मोंके फलकी अभिलाषासे रहित होते हुए कर्मोंसे अत्यन्त निरपेक्ष वर्तते है। इसलिये ही जान पड़ता है कि ये अत्यन्त निःशङ्क तीव्र निश्चयरूप होते हुए अत्यन्त निर्भय रहते है ॥२२८॥

आगे सप्तभयके कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोक शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोक स्वयमेव केवलमयं य लोकयत्येकक ।
लोकोऽय न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी कुतो
निश्शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५५॥

अर्थ—परसे भिन्न आत्माका जो यह चैतन्यलोक है वह शाश्वत है, एक है, सब जीवोंके प्रकट है। यह एक सम्यग्ज्ञानी जीव ही स्वयं इस चैतन्यलोकका अवलोकन करता है। वह विचारता है कि हे आत्मन्! यह एक चैतन्यलोक ही तेरा लोक है, इससे भिन्न दूसरा कोई लोक तेरा नहीं है, तब तुझे उसका भय कैसे हो सकता है। ऐसा विचारकर ज्ञानी जीव निरन्तर निःशङ्करूपसे स्वाभाविक ज्ञानको स्वयं ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस काव्यमें ज्ञानीके इस लोक तथा परलोक दोनोंका भय नहीं होता है, यह कहा गया है। इस लोक अर्थात् वर्तमान पर्यायमें मुझे कष्ट न उठाना पड़े, ऐसा भय होना इस लोकका भय है और परलोक अर्थात् आगामी पर्यायमें मुझे कष्ट न भोगना पड़े, ऐसा भय होना परलोकका भय है। सो ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं समस्त कर्म, नोकर्म

आदिसे भिन्न पृथग्द्रव्य हूँ, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह चैतन्य ही मेरा लोक है, मेरा यह चैतन्यलोक शाश्वत है—कभी नष्ट होने वाला नहीं है, इसलिये मुझे न इस लोकका भय है और न परलोकका भय है। शरीर अवश्य नाशको प्राप्त होता है, पर वह मेरा कब है? मै चैतन्यका पुञ्ज हूँ और यह शरीर जड़ अर्थात् ज्ञानदर्शनसे शून्य पुद्गलद्रव्य है, इसके नाशसे मेरा कुछ नष्ट होने वाला नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव सदा निःशङ्क होकर स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपको ही प्राप्त होता है—उसी प्रकार अनुभव करता है।

संसारमे ये प्राणी निरन्तर भयभीत रहते है। न जाने ये लोक मेरी कैसी दुर्दशा करेंगे, अतः निरन्तर इनके अनुकूल रहने की प्रवृत्ति करता है। न जाने, यह राजलोक मेरे ऊपर कौनसी आपत्ति ला पटकेंगे, अतः निरन्तर उन्हे प्रसन्न करनेकी चेष्टामें मग्न रहता है। न जाने, परलोकमे कहाँ जाऊँगा, भद्रजन्म हो तो अच्छा, इसके अर्थ निरन्तर नानाप्रकारके दानादि कर परलोकमें निःशङ्क होनेकी चेष्टा करता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि मेरा तो चेतना ही लोक है, उसीका आत्माके साथ नित्य तादात्म्य है जो किसी काल और किसी शक्तिके द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः चाहे मै यहाँ रहूँ, चाहे परलोकमे जाऊँ, मेरा गुण मुझसे भिन्न नहीं हो सकता। अतः सम्यग्ज्ञानी जीवके इस लोक और परलोकका भय नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो ज्ञानगुणकी जो जानन क्रिया है वह कभी भी उसे छोड़कर भिन्न नही हो सकती और परपदार्थका उसमे प्रवेश नहीं हो सकता। मात्र ज्ञानकी स्वच्छता ही एक ऐसी अनुपम है कि उसमे ज्ञेय प्रतिभासमान होते है। अथवा ज्ञेय क्या प्रतिभासमान होते है? वह तो ज्ञानका ही परिणाम है परन्तु हम व्यवहारसे ऐसा मानते है कि हमने परपदार्थको जाना। जब ऐसी ज्ञानकी सामर्थ्य है कि उसमे परपदार्थका प्रवेश नहीं तब न कोई पदार्थ सुखका कर्ता है और न कोई पदार्थ दुःखका कर्ता है ॥१५५॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी जीवोंके यही एक वेदना है कि वे सदा निराकुल रहकर अभेदरूपसे उदित वेद्यवेदकभावके बलसे अविचल—कभी नष्ट नही होने वाले ज्ञानका स्वयं वेदन करते है अर्थात् अनुभव करते हैं। ज्ञानीके अन्य पदार्थकी वेदना नहीं है तब उसे वेदनाका भय कैसे हो सकता है? वह तो सदा निःशङ्क होता हुआ स्वाभाविक ज्ञानको ही प्राप्त होता है, उसका अनुभव करता है।

भावार्थ—इस काव्यमें वेदनाभयका वर्णन है। सुख-दुःखका अनुभव करना सो वेदना है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी जीवको ऐसा सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। यह सुख-दुःखका विकल्प स्वाभाविक न होकर मोहकर्मके उदयसे जायमान अशुद्ध अनुभूति है। ज्ञानी जीव

विचार करता है कि मोहकर्मके विपाकसे जायमान सुख-दुःख मेरे स्वभाव नहीं है, इसलिये मुझे तद्विषयक आकुलतासे क्या प्रयोजन ? अतः वह सदा निराकुल रहकर एक ज्ञानस्वभावका ही वेदन करता है और वह भी अभेद वेद्यवेदकभावकी सामर्थ्यसे अर्थात् वेदन करने वाला भी आत्मा है और जिसका वेदन करता है वह वेद्य भी आत्मा ही है। ज्ञातानुभूतिके सिवाय कर्मोदयसे आगत अन्य अनुभूति मेरा स्वभाव नहीं है, तब मुझे उस विषयका भय ही कैसे हो सकता है ? कर्मके उदयसे जो सुख-दुःखकी अनुभूति होती है उसे मै अपना स्वभाव नहीं मानता, तब मुझे उन कल्पित अनुभूतियोसे होने वाले सुख-दुःखकी चिन्ता ही क्या है। एक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, इसलिये उसीका वेदन मै करता हूँ, ऐसा विचारकर सम्यग्ज्ञानी जीव सदा वेदनाभयसे रहित होता है ॥१५६॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियत व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
ज्ञान सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रात किमस्यापरै ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
नि शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५७॥

अर्थ—जो सत् स्वरूप है वह नाशको प्राप्त नहीं होता, इस नियमसे वस्तुकी मर्यादा प्रकट है। ज्ञान सत्स्वरूप है इसलिए वह स्वय ही रक्षित है। इसके लिए दूसरे पदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? इसकी अरक्षा किसीसे नहीं हो सकती। इसलिये ज्ञानी पुरुषको भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वय सहज—स्वाभाविक ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, ऐसी निश्चयसे वस्तु-मर्यादा है और ज्ञान जो है सो स्वय ही सत्स्वरूप है। इसलिये इसकी रक्षाके अर्थ अन्यकी आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञानकी अरक्षा करनेमे कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है। अतएव ज्ञानी जीवको इसकी रक्षाके अर्थ किसीसे भी भय नही होता है। स्वय जो अपना सहज ज्ञान है उसीका अनुभव करता है। ज्ञानीके ऐसा निश्चय है कि सत्पदार्थ स्वय स्वरूपसे ही रक्षित है। कोई भी शक्ति इसका अभाव करनेमे समर्थ नहीं है। अतः इसी भावको लेकर ज्ञानीके किसीका भय नहीं रहता है। निरन्तर जो अपना स्वाभाविक ज्ञान है उसीका अनुभव रहता है।

इस काव्यमे अरक्षाभयका वर्णन है। ज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है उसको करनेकी सामर्थ्य किसीमे नहीं है। शरीरादिक परपदार्थ है—पुद्गलद्रव्यकी परिणतियाँ है। उनके नाशसे मेरे ज्ञानस्वभावका नाश नहीं होता, इसलिये मुझे अरक्षाका भय नहीं है ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्व रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्ति स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि पर प्रवेष्टुमकृत ज्ञानं स्वरूप च नु ।

अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
नि शङ्कः सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५८॥

अर्थ—निश्चयसे वस्तुका जो स्वीयरूप ह वही उसकी परमगुप्ति ह क्योंकि स्वीयरूपमे कोई भी परपदार्थ प्रवेश करनेके लिये समर्थ नहीं है। आत्माका स्वरूप अकृत्रिम ज्ञान है। इसलिये इसकी कोई भी अगुप्ति नहीं है। फिर ज्ञानी जीवको अगुप्तिका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—वस्तुका जो स्वीय स्वरूप है वही परमगुप्ति है, उसमे अन्यका प्रवेश नही हो सकता। पुरुषका स्वीयस्वरूप ज्ञान है। इसका अगुप्ति किसीके द्वारा नही हो सकती, इसीसे ज्ञानी जीवके किसीसे भी कुछ भी भीति नही रहती है। वह तो निःशङ्क होता हुआ निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभवन करता है। लोकमे मनुष्य अपनी रक्षाके अर्थ गढ, कोट, परिखा आदि बनाते हैं जिसमे शत्रुओका प्रवेश न हो और अपने धनादिकका गुप्ति रहे, परन्तु आत्माका जो धन है वह ज्ञान है, उसमे अन्य पदार्थोका प्रवेश नहीं है वह स्वय गुप्ति स्वरूप ही है। इसीसे ज्ञानी जीव निरन्तर निर्भीक होते हुए स्वात्मस्वरूपमे मग्न रहते है। ऐसा नियम है कि—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण सकमदि दव्वे।
त अण्णमसकमता कह तु परिणामए दव्व ॥

अर्थात् जो वस्तु जिस गुण अथवा द्रव्यमे वर्तती है वह अन्य द्रव्यमे सक्रमण नही करती—अन्य द्रव्यरूप पलटकर नही वर्तती। जब वह अन्य द्रव्यरूप सक्रमण नहीं करती तब उसे अन्यरूप कैसे परिणमा सकती है।

जब यह नियम है तब ज्ञानी जीव परपदार्थसे अपना उपयोग हटाकर स्वकीय ज्ञान-स्वरूपकी ओर ही लगाता है। ज्ञानीका ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट नही होता। इसलिये वह सदा अगुप्तिभयसे दूर रहता है। लोकमे धनादिका नाश होता है। पर ज्ञानी उन्हे अपना नही मानता ॥१५८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणा किलास्यात्मनो
ज्ञान तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरण न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५९॥

अर्थ—प्राणोके उच्छेदको मरण कहते है, निश्चयसे इस आत्माके प्राण ज्ञान हैं, ज्ञान स्वयमेव शाश्वत ह। इसलिये कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये ज्ञानीका कुछ भी मरण नहीं होता, फिर उसे मरणका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानका ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—प्राणोंके उच्छेदको मरण कहते है। इस आत्माका प्राण ज्ञान है, यह ज्ञान नित्य है, इसका कभी भी नाश नहीं होता, इससे जब इसका मरण ही नहीं तब सम्यग्ज्ञानीको किसका भय ? वह तो निरन्तर स्वीय ज्ञानका ही अनुभव करता है। लोकमे इन्द्रियादिक प्राणोंके वियोगको मरण कहते हैं, इन्हींको द्रव्यप्राण कहते है। यह जो द्रव्यप्राण हैं वे पुद्गल के निमित्तसे जायमान होनेके कारण पौद्गलिक है। वास्तवमे आत्माके प्राण ज्ञानादिक हैं, उन ज्ञानादिक प्राणोका कभी भी नाश नहीं होता। अतएव जो ज्ञानी जीव है, उन्हें मरणका भय नहीं होता। वे तो निरन्तर अपने ज्ञानका ही अनुभव करते है ॥१५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

अर्थ—आत्माका जो ज्ञान है वह एक है, अनादि, अनन्त और अचल है तथा स्वयं सिद्ध है वह सर्वदा ही रहता है, उसमे अन्यका उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञानमे कुछ भी आकस्मिक नही है, तब ज्ञानी जीवको उसका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—जो अनुभवमे नही आया, ऐसा कोई भयका कारण उपस्थित हो जावे, उसे आकस्मिक भय कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी जीवका ऐसा निर्मल विचार है कि हमारा जो ज्ञान-स्वभाव है वह एक अनादि, अनन्त, अचल तथा स्वय सिद्ध है। उसमे अन्यका उदय नहीं हो सकता। अतः भयके कारणोका अभाव होनेसे वह निरन्तर निर्भीक रहता हुआ अपने आत्म-स्वरूपमे लीन रहता है ॥१६०॥

मन्दाक्रान्तछन्द

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

अर्थ—टाँकीसे उकेरे हुए के समान शाश्वत स्वभावसे युक्त ज्ञानरूपी सर्वस्वको प्राप्त जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसके निःशङ्कितत्वादि लक्षण, इस जगत्मे समस्त कर्मोंको नष्ट करते है, इसलिये इस ज्ञानरूप सर्वस्वके प्रकट होनेपर सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका थोडा भी बन्ध नहीं होता है। किन्तु पूर्वोपार्जित कर्मका अनुभव करते हुए उसके निश्चितरूपसे निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—टङ्कोत्कीर्ण और स्वरससे भरे हुए ज्ञानरूप सर्वस्वका भोग करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके जो निःशङ्कता आदि गुण है वे सब कर्मोका हनन करते हैं। इसके होनेपर उसके फिर नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। पूर्वोपार्जित कर्मोके विपाकका अनुभव करनेवाला जो सम्यग्ज्ञानी जीव है। उसके रागका अभाव होनेसे निर्जरा ही होती है। नवीन बन्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोपार्जित भय आदि प्रकृतियोका उदय आनेपर भी सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे ज्ञानी जीवके स्वरूपसे विचलितता नही होती। अतः वह निरन्तर निःशङ्क रहता है। उसकी पूर्वबद्ध प्रकृतियाँ उदय देकर निर्जराभावको प्राप्त हो जाती हैं॥१६१॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीवके नि·शङ्क आदि गुणोका वर्णन करते है। उनमे सर्वप्रथम नि शङ्कगुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते है—

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबधमोहकरे।
सो णिस्सको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मबन्धके कारण मोहके उत्पादक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चारों पायोको छेदता है वह नि.शङ्कगुणका धारक सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिम कारण सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण कर्मबन्धकी शङ्का करनेवाले मिथ्यात्व आदि भावोका अभाव हो जानेसे निःशङ्क है, इसीसे इसके शङ्का द्वारा बन्ध नहीं होता ह, प्रत्युत निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका उदय आता है, परन्तु उसके आनेपर यह उसका स्वामी नहीं बनता। अतः वह कर्म अपना रस देकर झड़ जाता है, आसक्तिके अभावसे बन्धका प्रयोजक नहीं होता है॥२२९॥

आगे नि.काक्षितगुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते है—

जो दु ण करेदि कंख कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोके फलोमे तथा समस्त धर्मोमे काक्षा नहीं करता है, वह निःकाङ्क्ष गुणका धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—जो पञ्चेन्द्रियोके विषयसुख स्वरूप कर्मफलो तथा समस्त वस्तुधर्मोमे अभिलाषाको नही करता है, ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव ही निःकाक्षित अङ्गका धारी होता है।

जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाला है, इसी स्वभावके बलसे उस सम्यग्दृष्टि जीवके सम्पूर्ण कर्मफलोमे और सम्पूर्ण वस्तुधर्मोमे आकांक्षाका अभाव है। अतएव आकांक्षाकृत बन्ध उसके नहीं है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

साताकर्मके उदयमे रतिके सम्बन्धसे हर्ष होता है, इसीसे यह प्राणी साताके उदयमें सुपुत्र, कलत्रादि अनुकूल सामग्री के उदयमे रतिकर्मके सम्बन्धसे अपनेको सुखी मानता है

और निरन्तर इस भावनाको भाता है कि यह सम्बन्ध इसी रूपसे सदैव बना रहे, विघट न जावे। और जब असाताका उदय आता है तब उसके साथ ही अरतिका उदय रहनेसे विषाद मानता है अर्थात् असाताके उदयमे अनिष्ट पुत्र, कलत्रादिक प्रतिकूल सामग्रीके सद्भावमे अरतिकर्मके उदयसे अपनेको दुखी मानता है और निरन्तर यही भावना रखता है कि कब इन अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध मिट जावे? परन्तु जिस जीवके सम्दग्दर्शन प्राप्त हो जाता है वह इनके उदयमें हर्ष विषाद नहीं करता, इन्हे कर्मकृत जान इनकी अभिलाषा नहीं करता, इसीसे उसके वाञ्छाकृत बन्ध भी नहीं होता ॥२३०॥

आगे निर्विचिकित्सागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो ण करेदि जुगुप्प चेदा सव्वेसिमेव धम्माण ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्पूर्ण वस्तुधर्मोंमे ग्लानिको नहीं करता है, वह निश्चयकर विचिकित्सा—ग्लानिदोषसे रहित सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावसे तन्मयपन है उसीसे उसके सम्पूर्ण वस्तुधर्मोंमे जुगुप्सा (ग्लानि) का अभाव होनेसे निर्जुगुप्सा अङ्ग है। इसीलिये इस जीवके ग्लानिसे किया हुआ बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

जब जुगुप्साका उदय आता है तब मिथ्यादृष्टि जीव अपवित्र पदार्थोंको देखकर ग्लानि करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूपका वेत्ता होनेके कारण समदर्शी होता हुआ ग्लानिसे रहित रहता है ॥२३१॥

आगे अमूढदृष्टिगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

अर्थ—जो जीव सम्पूर्ण पदार्थोंमे असमूढ रहता है अर्थात् मूढता नहीं करता है। किन्तु सदृष्टि रहता है अर्थात् समीचीन दृष्टिसे उन पदार्थोंको जानता है। वह निश्चयसे अमूढदृष्टिअङ्गका धारक सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण निखिल पदार्थोंमे मोहाभाव होनेसे अमूढदृष्टि रहता है अर्थात् यथार्थ दृष्टिका धारक होता है। इस कारण इसके मूढदृष्टिके द्वारा किया हुआ बन्ध नही है किन्तु निर्जरा ही है।

सम्यग्ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ जानता है। अतः उसके विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता। विपरीत अभिप्रायके नष्ट हो जानेसे मिथ्यात्वके साथ होने वाला रागद्वेष नहीं होता है। इसीलिये उसके अनन्त ससारका बन्ध नहीं होता है। चारित्रमोहके उदयसे

बिना अभिप्रायके जो रागद्वेष होता है वह संसारकी अल्पस्थितिके लिये होता है तथा उत्तम गतिका ही कारण होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके तिर्यञ्च और नरक आयुका बन्ध नहीं होता है ॥२३२॥

आगे उपगूहनगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते है—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माण ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

अर्थ—जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सम्पूर्ण धर्मोका गोपन करनेवाला है। वह जीव उपगूहनअङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावका सद्भाव है। इसीसे उसके सम्पूर्ण आत्म शक्तियोंका विकास हो गया है। यही कारण है कि इस सम्यग्दृष्टि जीवके शक्ति की दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यहाँ पर सिद्ध भगवान्मे जब सम्यग्दृष्टि अपने उपयोगको लगाता है तब अन्य पदार्थोंमें उपयोगके न जानेसे स्वयमेव उसका उपयोग निर्मल हो जाता है, इससे उसके विकासकी वृद्धि होती है और इसीसे इस गुणको उपबृंहण कहते है तथा उपगूहन नाम छिपानेका है सो जब अपना उपयोग सिद्ध भगवान्के गुणोमे अनुरागी होता है तब अन्यत्रसे उसका उपगूहन स्वयमेव हो जाता है, इसीसे उसमे निर्मलता आती है। और उस निर्मलताके कारण शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बन्ध नही होता है ॥२३३॥

आगे स्थितीकरणगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते है—

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्गमे चलते हुए अपने आत्माको भी मार्गमे स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितीकरण अङ्गसे सहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावसे तन्मय होनेके कारण मार्गसे च्युत हुए अपने आपको मार्गमे ही स्थित करता है। इसलिये वह स्थितीकरण अङ्गका धारक होता है और इसीसे इसके मार्गच्यवनकृत बन्ध नही होता है अर्थात् न च्युत होता है और अतएव न बन्ध होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यदि अपना आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्गसे च्युत हो जावे तो उसे फिर उसीमें स्थित करना, इसीका नाम स्थितीकरण अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव इस अङ्गका धारक होता है, इसीसे इसके मार्गसे छूटने रूप बन्ध नहीं होता, किन्तु उदयागत कर्मोंके स्वयमेव झड़ जानेसे निर्जरा ही होती है ॥२३४॥

आगे वात्सल्यगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्त तिण्ह साहूण मोक्खमग्गम्हि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

अर्थ—जो निश्चयसे मोक्षमार्गके साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे वात्सल्यभाव करता है अथवा व्यवहारसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आधारभूत आचार्य, उपाध्याय और साधु महात्मामे वात्सल्यभावको करता है, वह वात्सल्य अङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है ।

विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय रहता है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अपने आपसे अभिन्न देखता है । इसीसे मार्गवत्सल कहलाता ह और इसीसे इसके मार्गके अनुपलम्भ प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है ।

वात्सल्य नाम प्रेमभावका है । सो जिनके मोक्षमार्गका मुख्य साधनीभूत सम्यग्दर्शन हो गया उसके मार्गमे स्वभावसे ही प्रेम है। अतः मार्गके अभावमे जो बन्ध होता है वह इसके नही होता ॥२३५॥

आगे प्रभावनागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते है

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

अर्थ—जो आत्मा विद्यारूपी रथपर चढकर मनरूपी रथके मार्गमे भ्रमण करता है, वह जिन भगवानके ज्ञानकी प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है ।

विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावसे तन्मय है, इसीसे ज्ञानकी सम्पूर्ण शक्तिके विकासद्वारा ज्ञानकी प्रभावनाका जनक है अतएव उसे प्रभावना अङ्गका धारी कहा है और इसीसे उसके ज्ञानके अपकर्षसे हुआ बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है ।

बाह्यमें प्रभावना जिनबिम्बपञ्चकल्याणक आदि सत्कार्योंसे होती है और निश्चय-प्रभावना सम्यग्ज्ञानके पूर्ण विकाससे आत्माकी जो वास्तविक दशाकी प्राप्ति है वही है ॥२३६॥

आगे इन आठ गुणोंके उपसंहारस्वरूप कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः-
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

अर्थ—इस प्रकार जो अपने आठ अङ्गोसे सहित होता हुआ नवीन बन्धको रोक रहा

है, और निर्जराकी वृद्धिसे जो पूर्वबद्ध कर्मोंके क्षयको प्राप्त करा रहा है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वय स्वाभाविकरूपसे आदि, मध्य और अन्तसे रहित ज्ञानरूप होकर आकाशके विस्ताररूप रङ्गस्थलमें प्रवेशकर नृत्य कर रहा है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिजीव नि.शङ्कितत्व आदि आठ अङ्गोके द्वारा आत्मामे विशेष निर्मलताको प्राप्त होता है। उस निर्मलताके कारण उसके नवीन बन्ध रुक जाता है और गुण-श्रेणी निर्जराकी प्राप्तिसे पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय करता जाता है। इसतरह सवर और निर्जराके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयकर वह स्वय ही उस स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप हो जाता है जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित है। आदि, मध्य और अन्तसे रहित ज्ञान केवलज्ञान है। यही ज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है। ज्ञानी जीव इसी केवलज्ञानस्वरूप होकर लोकाकाश और अलोकाकाशके भेदसे द्विविधरूपताको प्राप्त अनन्त आकाशरूपी रङ्गभूमिमे प्रवेश-कर अर्थात् लोकालोकगत ज्ञेयोंको अपना विषय बनाकर परमानन्दमे निमग्न रहता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवके जो नवीन कर्मोके बन्धका अभाव बतलाया है, वह उपशान्त-मोह, क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती जीवोकी अपेक्षा है। चतुर्थादि गुणस्थानोमे जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका अभाव हो जानेसे अनन्त ससारका कारण नहीं, इसलिये उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इस ससारमें भ्रमणका मूल कारण मोह-नीय कर्म है, उसके दो भेद है—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसी मोहके सद्भाव-को पाकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये भी आत्माके ज्ञान, दर्शन और वीर्यको घातते है। यद्यपि ज्ञानावरणकर्मके उदयमे आत्माके ज्ञानका उदय नहीं होता, अज्ञानभाव रहता है तथापि उससे आत्माकी कुछ भी मर्मभेदकरी हानि नहीं होती। किन्तु ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे आत्माके ज्ञानगुणका जो विकास हुआ है वह यदि दर्शनमोहके उदयसे जन्य मिथ्यात्वका सहकार पा जावे तब एकादशाङ्गका पाठी होकर भी मोक्षमार्गसे च्युत रहता है। यद्यपि वह तत्त्वार्थका यथार्थ निरूपण करता है, मन्द कषायके उदयसे प्रबलसे प्रबल उपसर्ग करनेवालोसे द्वेष नही करता है, ज्ञानावरणादिकर्मोंके क्षयोपशमसे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका कुछ भी मद नहीं करता है, अन्तरायके क्षयोपशमसे जो शक्तिका उदय हुआ है उसका भी कोई अभिमान नहीं करता, साता आदि पुण्यप्रकृतियोके उदयसे जो सुभगादि रूप आदि सामग्रीका लाभ हुआ है उसमे कोई अहकार नहीं करता तथा बड़े-बडे राजा आदि गुणोंके द्वारा आपपर मुग्ध हैं उसका भी कोई मद नहीं करता तथापि दर्शनमोहका उदय उसके अभिप्रायको ऐसा मलीमस करता रहता है कि मोक्षमार्गमे उसका प्रवेश नहीं हो पाता। अतएव मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये दर्शनमोहके उदयसे जन्य अभिप्रायकी मलिनताका त्याग करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है॥१६२॥

इस तरह निर्जरा रङ्गभूमिसे बाहर निकल गई।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयप्राभृतमे निर्जराका वर्णन करनेवाले छठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ॥ ६॥

७ बन्धाधिकारः

अब बन्ध प्रवेश करता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

[1]रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

अर्थ—रागद्वेषादिके उद्गार (तीव्रोदय) रूप महारसके द्वारा समस्त जगत्‌को प्रमत्तकर रसके समूहसे परिपूर्ण महानाट्यके द्वारा क्रीडा करते हुए बन्धतत्त्वको जो दूर कर रहा है, आनन्दरूपी अमृतका जो निरन्तर उपभोग करता है आत्माकी सहज—स्वाभाविक अवस्थाका जो स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है, धीर है, उदार है, आकुलता रहित है, तथा उपाधि रहित है ऐसा ज्ञान प्रकट होता है ।

भावार्थ—संसारका कारण बन्ध है और बन्धका कारण रागादिककी तीव्रता है, इस रागादिककी तीव्रतारूपी मदिराके नशासे समस्त संसार मतवाला हो रहा है, संसारमें बन्ध ही सब ओर अपना रसपूर्ण महानाट्य दिखला रहा है । इस बन्धसे मुक्ति दिलानेवाला आत्माका सहज ज्ञान है उस सहज ज्ञानके प्रकट होने पर आत्माकी सहज—स्वाभाविक दशा अनुभवमें आने लगती है तथा दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले जो विकारीभाव हैं उनसे निवृत्ति होने लगती है । अतः वह ज्ञान निरन्तर आनन्दरूपी अमृतका उपभोग करानेमें तत्पर होता है । दर्शनमोहजन्य विकारभावके निकल जानेसे वह ज्ञान धीर, उदार तथा अनाकुल होता है, तथा सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित होता है । जिस प्रकार वायुका प्रबल वेग धूलिके समूहको दूर उडा देता है उसी प्रकार यह सहजज्ञान बन्धको दूर उडा देता है । जहाँ बन्ध दूर हुआ वहाँ मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाता है । अतः सहजज्ञानको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥१६३॥

आगे राग बन्धका कारण है, यह बात दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हुए गाथा कहते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥

---

१. रागशब्द उपलक्षण तेन द्वेषमोहादीनामपि ग्रहणं, तस्य उद्गार आधिक्य स एव महारस उन्मादकरस तेन रागोद्गारमहारसेन ।

छिददि भिददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सचित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघाय ॥२३८॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्ठाहिं सेसाहि ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

अर्थ—नाम सत्यार्थमें अव्यय है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने शरीरमें तेलका मर्दन कर रेणुबहुल भूमिमें स्थित होकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है तथा ताडवृक्ष, कदलीवृक्ष और बाँसके घनीभूत पिण्डको छेदता है, भेदता है और सचित्त, अचित्त द्रव्योंका उपघात करता है। नानाप्रकारके शस्त्रोंके द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुषके जो धूलिका बन्ध हो रहा है वह किस कारणसे हो रहा है, यह निश्चयसे विचार करने योग्य है। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि उस पुरुषमें जो तेलका सम्बन्ध है उसीसे उसके धूलिका बन्ध हो रहा है, यह निश्चयसे जाननेके योग्य है। उस पुरुषकी काय आदिकी चेष्टाओं व शस्त्रोंकी क्रिया आदिसे धूलिका बन्ध नहीं हो रहा है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता किन्तु उपयोगमें रागादिको करता हुआ कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है—बन्धको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जैसे कोई पुरुष स्नेहका मर्दनकर स्वभावसे ही जिस प्रदेशमें धूलिकी प्रचुरता है वहाँपर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है और अनेक प्रकारके करणों (शस्त्रादि) द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँपर बन्धका क्या कारण है? यह विचारणीय है। स्वभावसे धूलिकी प्रचुरता जिसमें है, ऐसी भूमि बन्धका कारण नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उनके भी धूलिबन्धका प्रसङ्ग हो जावेगा। शस्त्रादिके द्वारा जो व्यायामकर्म है वह भी बन्धका कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है, उन पुरुषोंके भी शस्त्रव्यायामकर्मसे बन्धकी प्रसक्ति आवेगी। अनेक प्रकारके जो कारण हैं वे भी बन्धके कारण नहीं हैं क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उन पुरुषोंके भी उन करणोंके द्वारा बन्ध होने लगेगा। और सचित्त-अचित्त वस्तुओंका जो उपघात है वह भी बन्धका कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उनके सचित्ताचित्त पदार्थोंके घात होनेपर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्यायके बलसे यह आया कि उस पुरुषके शरीरमें जो स्नेहका अभ्यङ्ग है वही बन्धका कारण है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि, अपने आत्मा

में रागादिकको करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंके द्वारा भरे हुए लोकमें काय, वचन और मनकी क्रियाको करता है और अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ कर्मरूपी धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उस मिथ्यादृष्टिके बन्धका क्या कारण है? स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ जो यह लोक है यह तो बन्धका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस लोकमें स्थित जो सिद्ध भगवान हैं उनके भी बन्धका प्रसङ्ग आवेगा। काय, वचन और मनका व्यापार भी बन्धका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो यथाख्यातसंयमीके भी काय, वचन और मनके व्यापारसे बन्ध होने लगेगा। अनेक प्रकारके जो करण हैं वे भी बन्धके कारण नहीं हैं क्योंकि इनके सद्भावमें केवली भगवान्‌के भी बन्धकी प्रसक्ति हो जावेगी। और सचित्त तथा अचित्त वस्तुओका घात भी बन्धका हेतु नहीं है क्योंकि जो मुनि ईर्य्यासमिति आदिमे सावधान हैं उनके भी सचित्ताचित्त वस्तुका घात होनेपर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्यायके बलसे यह आया कि उपयोगमे जो रागादिकोकी एकता है वही बन्धका कारण है ।।२३७-२४१।।

यही भाव कलशामे कहते है—

पृथ्वीछन्द

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ।।१६४।।

अर्थ—न तो कर्मकी प्रचुरतासे व्याप्त जगत् ही बन्धका कारण है, न परिस्पन्दात्मक कर्म अर्थात् योग बन्धका कारण है, न अनेक प्रकारके करण बन्धके कारण है और न चित् अचित् वस्तुका घात भी बन्धका निमित्त है, किन्तु रागादिकोके साथ उपयोगकी जो एक भूमिता है वही निश्चयसे जीवोंके बन्धका कारण है।

भावार्थ—यहाँपर बन्धका वास्तविक कारण आत्माके अशुद्धभाव—रागादिकभावोंको ही कहा है और जो निमित्तकारण हैं उन्हें गौण कर दिया है। यदि तत्त्वसे देखा जावे तो यही आता है। अन्तरङ्गमे यदि मलिनता नहीं तो बाह्यमे नानाप्रकारके परिणमन होते हुए भी आत्मा नहीं बँधती। जैसे अध्यापक शिष्यको अध्ययन कराते समय नानाप्रकारके अवाच्य शब्दोंका प्रयोग करता है तथा नानाप्रकारके शारीरिक दण्ड आदिका भी प्रयोग करता है फिर भी उसे कोई अपराधी नहीं मानता, क्योंकि उसका अभिप्राय विरुद्ध नहीं है। इसी तरह मन-वचन-कायके व्यापारोंमें कषायके विना बन्धकी कारणता नहीं है ।।१६३।।

आगे यही बात व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहि वायामं ।।२४२।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सचित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघाय ॥२४३॥
उवघाय कुव्वतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो ण रयबधो ॥२४४॥
जो सो अणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्सऽरयबधो ।
णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्टाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एव सम्मादिट्ठी वट्टतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

(पचकम्)

अर्थ—जिसप्रकार फिर वही मनुष्य जब तेलादिक सम्पूर्ण वस्तुओंका अपनयन कर देता है और निःस्नेह होकर उसी रेणुबहुल प्रदेशमे शस्त्रोंके द्वारा व्यायामक्रिया करता है, तालवृक्ष, कदलीवृक्ष तथा बाँसोंके भिड़ेको छेदता है, भेदता है, तथा सचित्त-अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। नानाप्रकारके करणो द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचार करो, ऐसा कौन-सा कारण है कि जिससे उसके धूलिका बन्ध नहीं होता ? तब यही निर्धार होता है कि बन्धका कारण स्नेहका सम्बन्ध है। जिसके स्नेह है उसके बन्ध है और जिसके स्निग्धताकी सत्ता नहीं है वह धूलिसे नही बँधता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मन-वचन-कायरूप नानाप्रकारके योगोमे स्थिर रह कर भी उपयोगमे रागादिक नही करता है, इसीसे वह कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता अर्थात् उसके बन्ध नही होता।

विशेषार्थ—जैसे वही पुरुष जब सर्वस्नेहको शरीरसे पृथक् कर देता है और तदनन्तर जो स्वभावसे ही रजकी बहुलतासे विशिष्ट है उसी भूमिमे शस्त्रो द्वारा वही व्यायाम करता है और उन्हीं अनेक प्रकारके करणो द्वारा सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता है फिर भी धूलिके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होता है क्योंकि बन्धका कारण जो स्नेहाभ्यङ्ग (तैलका मर्दन) था उसका उसके अभाव है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव आत्मामे रागादिक नहीं करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंकी बहुलतासे भरे हुए लोकमे मन-वचन-कायके द्वारा वही कर्म करता है और उन्हीं नाना प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओंका घात करता है फिर भी ऐसा करता हुआ भी बन्धके कारणभूत रागादिक परिणामोंके अभावसे कर्मरूपी धूलिसे नही बँधता है ॥२४२-२४६॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशाद्वारा प्रकट करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोक कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत् ।

रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

अर्थ—कर्मोंसे व्याप्त लोक रहे, मन-वचन-कायके चलनरूप योग रहे, पूर्वोक्त करण भी रहे और वह सचित्ताचित्त वस्तुओंका व्याघात भी रहे, तो भी जो रागादिकको उपयोगकी भूमिमें नहीं ला रहा है, तथा मात्र ज्ञानरूप हो रहा है, ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे किसी भी कारणसे बन्धको प्राप्त नहीं होता। अहो ! सम्यग्दृष्टिकी अद्भुत महिमा देखो।

भावार्थ—बन्धका मूल कारण कषाय है, कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक बन्धका कारण नहीं है, मन-वचन-कायके व्यापार बन्धके जनक नहीं हैं, करण भी बन्धके कारण नहीं हैं और चित् अचित् पदार्थोंका घात भी बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव एक ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, उसे रागादिकसे मलिन नहीं होने देता। इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही अद्भुत महिमा है ॥१६५॥

पृथ्वीच्छन्द

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अर्थ—यद्यपि कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक आदिक बन्धका कारण नहीं है, यह कहा गया है तो भी ज्ञानी जनोंको स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना इष्ट नहीं है क्योंकि वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका स्थान ही है। ज्ञानी जनोंका अनिच्छापूर्वक किया हुआ जो कर्म है वह बन्धका अकारण माना गया है अर्थात् उससे बन्ध नहीं होता। जीव करता है और जानता है ये दोनों निश्चयसे क्या विरुद्ध नहीं हैं ? अर्थात् अवश्य ही विरुद्ध हैं।

भावार्थ—कोई यह समझे कि ज्ञानी जनोंको बन्ध नहीं होता, इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेमें हानि नहीं है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि रे भाई ! स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका ही स्थान है। ज्ञानी जनोंके अनिच्छापूर्वक जो कार्य होता है वह बन्धका कारण नहीं है। परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो अनिच्छापूर्वक नहीं है, वह तो स्पष्ट ही इच्छापूर्वक है। और जहाँ इच्छा है वहाँ रागादिकका सद्भाव अवश्यभावी है। इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्तिको कभी अङ्गीकृत नहीं करना चाहिये। जहाँ मात्र जानना ही रहता है, कर्तृत्व समाप्त हो जाता है वहाँ बन्ध नहीं होता। परन्तु जहाँ इच्छापूर्वक कर्तृत्व विद्यमान है वहाँ मात्र जानना नहीं रहता और इसलिये वहाँ बन्धका अभाव नहीं होता ॥१६६॥

आगे कर्तृत्व और ज्ञातृत्वका परस्पर विरोध दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्म, राग

राग स्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
मिथ्यादृश स नियत स हि बन्धहेतु ॥१६७॥

अर्थ—जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। करनेवालेका जो कर्म है वह निश्चयसे राग है और रागको अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं, मिथ्यादृष्टि जीवके यह अध्यवसाय नियमसे रहता है और वही उसके बन्धका कारण है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थको मात्र जानता है। उसके साथ रागद्वेष नही करता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थका जानता हुआ साथमे रागद्वेष भी करता है। मिथ्यादृष्टि जीवका यह रागद्वेष परमार्थसे अज्ञानमय रहता है। इसे ही आचार्योंने अध्यवसाय कहा है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टिके बन्धका कारण माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा अध्यवसाय नही रहता, इसलिये उसके बन्ध नही होता। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थको मात्र जानता है, अपने आपको उसका कर्ता नही मानता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थको जानता हुआ उसका अपने आपको कर्ता मानता है, इसलिये वह मात्र ज्ञाता नहीं होता। जहाँ मात्र ज्ञातृत्व है वहाँ बन्ध नहीं होता और जहाँ कर्तृत्व भी साथमे लगा रहता है वहाँ बन्ध अवश्य होता है ॥१६७॥

अब मिथ्यादृष्टिका अभिप्राय गाथामे कहते है—

जो मण्णदि हिंसामि य हिसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवोका मारता हूँ और परजीवोंके द्वारा मै मारा जाता हूँ, ऐसा मानने वाला जीव मूढ है तथा अज्ञानी है। परन्तु ज्ञानी जीव इससे विरुद्ध है अर्थात् न तो मै ही किसीका घात करने वाला हूँ और न परके द्वारा मेरा ही घात होता है ऐसा वह मानता है।

विशेषार्थ—मै परजीवोको मारता हूँ और परजीवोके द्वारा मै मारा जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय भाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। ऐसा अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके नहीं है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है।

जिनके आशयमे ऐसा निश्चय हो गया है कि मै परजीवोका घात करने वाला हूँ और परजीव मेरा घात करने वाले हैं, यही उनका अज्ञानभाव है क्योकि इसके अभ्यन्तरमे कर्तृत्वभावका सद्भाव होनेसे ज्ञानभावकी विकृतावस्था रहती है। इसीसे आचार्योंने इसे बन्धका पात्र बताया है ॥२४७॥

अब यह अध्यवसाय अज्ञान क्यो है ? इसका उत्तर कहते है—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउ ण हरेसि तुम कह ते मरण कय तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउ ण हरति तुह कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥
(युग्मम्)

अर्थ—जीवोंका मरण आयुःकर्मके क्षयसे होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया है। जब तुम परकी आयुका हरण करनेमे समर्थ नहीं हो, तब तुमने उन जीवोका मरण कैसे किया? आयुःकर्मका क्षय होनेसे जीवोंका मरण होता है, ऐसा जिनवरदेवोंके द्वारा कहा गया है। तुम्हारी आयुको जब अन्य हरण करनेमे समर्थ नहीं तब अन्यके द्वारा तुम्हारा मरण किस प्रकार किया गया?

विशेषार्थ—जीवोंका जो मरण है वह स्वकीय आयुःकर्मके क्षयसे होता है क्योंकि उसके अभावमे मरणका होना असम्भव है। और अन्यका अपना आयुःकर्म अन्यके द्वारा हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वकीय उपभोगसे ही उसका क्षय होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि अन्य पुरुष अन्य पुरुषका मरण किसी भी तरह नहीं कर सकता। जब यह बात है तब मै परकी हिंसा करता हूँ और परके द्वारा मेरी हिंसा की जाती है, ऐसा अध्यवसाय निश्चयसे अज्ञान है ॥२४८-२४९॥

फिर पूछते है कि मरणके अध्यवसायको अज्ञान कहा, यह तो जान लिया, अब मरणका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय हैं उसकी क्या कथा है? इसका उत्तर देते हैं—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहि ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ—जो आत्मा ऐसा मानता है कि परजीवोंको मैं जीवित करता हूँ तथा परजीवोंके द्वारा मैं जीवित किया जाता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—परजीवोंको जिवाता हूँ और परजीवोके द्वारा मै जिवाया जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चयसे अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव जिस जीवके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है।

बहुतसे जीव अहबुद्धिके वशीभूत होकर ऐसा मानते हैं कि हम परप्राणियोंकी जीवन-क्रियाके कर्ता है। यदि हम उन्हें आश्रय न देते तो उनका जीवन रहना कठिन था। ऐसे ही मोहके आवेगमे आकर यह मानने लगते हैं कि परकी सहायतासे हम जीवन-रक्षा कर रहे हैं। यदि अमुक व्यक्ति हमारी रक्षा न करते तो हमारा जीना ही कठिन था। यह सब मानना मिथ्याध्यवसाय है। परन्तु ज्ञानी जीवका विचार इससे विपरीत रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि प्राणियोंका जीवन उनके आयुःकर्मके आधीन है। परके जीवनमे हम, और हमारे जीवनमे पर, केवल निमित्तकारण है, सो भी बाह्य उपकारकी अपेक्षासे है। जैसे 'अन्नं

वै प्राणाः', 'घृत वे आयुः', 'अय मे कुलदीपकः' 'सिंहो माणवकः' आदि उपचारसे व्यवहार होता है वैसे ही यहाँ जानना चाहिये। यहाँ निमित्तकारणको गौणकर जीवन-मरणका मूल कारण जो आयुःकर्मका सद्भाव और असद्भाव है उसकी प्रधानतासे कथन किया गया है। अज्ञानी जीव मूलकारणकी ओर लक्ष्य न देकर केवल निमित्तकारणकी ओर दृष्टि देते हुए जो कर्तृत्वका अध्यवसाय करते हैं उसका निषेध करना लक्ष्य है ॥२५०॥

अब यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यो है ? इसीका समाधान करते हैं—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणति सव्वण्हू ।
आउ च ण देमि तुमं कहं तए जीविय कय तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जोवो एव भणति सव्वण्हू ।
आउ च ण दिंति तुह कह णु ते जीवियं कय तेहिं ॥२५२॥

(युग्मम्)

अर्थ—आयुः कर्मके उदयसे जीव जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते है और तुम परकी आयुको देते नहीं, फिर कैसे तुम्हारे द्वारा उन जीवो-पुरुषोका जीवन किया गया ?

आयुःकर्मके उदयसे जीवका जीवन है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते है और परजीव तुम्हारी आयु देते नहीं, तब उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया ?

विशेषार्थ—जीवोंका जीवन अपने आयुःकर्मके उदयसे ही होता है क्योंकि उसके अभावमें जीवनका होना असम्भव है और अन्यका आयुःकर्म अन्यके द्वारा नहीं दिया जा सकता, क्योकि उसका बन्ध अपने ही परिणामोसे किया जाता है। इसीसे किसी भी प्रकारसे अन्य पुरुषके द्वारा अन्य पुरुषका जीवन नही हो सकता। अतएव जो यह अध्यवसाय है कि मै किसीको जिवाता हूँ और किसीके द्वारा मै जिवाया जाता हूँ, यह निश्चित ही अज्ञान है ॥२५१-२५२॥

आगे दुःख और सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है, यह कहते है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

अर्थ—जो आत्मा ऐसा मानता है कि मैं अपने आपके द्वारा इन जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है, और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—पर जीवोको मैं दुःखी करता हूँ तथा सुखी करता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मै दुखी तथा सुखी किया जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसायभाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। यह अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है ॥२५३॥

आगे यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है ? इसका समाधान करते हैं—

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-सुहिदा कह कया ते ॥२५४॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुह कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुह कह त सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—सभी जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। तुम उनके कर्मोंको देते नहीं, तब तुम्हारे द्वारा वे दुःखी और सुखी कैसे किये गये ? सम्पूर्ण जीव स्वकीय-स्वकीय कर्मोंके द्वारा दुःखी और सुखी होते हैं, अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं, तब उनके द्वारा तुम दुःखी कैसे किये गये ?

सकल जीव निज-निज कर्मोंके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं फिर उनके द्वारा तुम सुखी कैसे किये गये ?

विशेषार्थ—सुख और दुःख जीवोंको अपने कर्मोंके विपाकसे ही होते हैं। यदि साता-असाताका उदय और सहकारी कारण रति और अरतिरूप मोहकर्मका उदय न हो, तो सुख और दुःखकी उत्पत्ति नहीं बन सकती और जिस जीवका सुख-दुःख देनेवाला जो साता और असाता कर्म है उसे अन्य जीव देनेके लिये असमर्थ है क्योंकि वह कर्म अपने ही परिणामोंसे उपार्जित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि किसी प्रकारसे भी अन्य जीवको अन्य जीव सुख-दुःख नहीं दे सकता। अतएव जो ऐसा मानते हैं कि मैं अन्य जीवोंको सुखी और दुःखी करता हूँ तथा अन्य जीव मुझे सुखी और दुःखी करते हैं उनका यह अध्यवसाय भाव है जो निश्चयसे अज्ञान है ॥२५४-२५६॥

आगे यही भाव कलशामे दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:खसौख्यम् ॥१६८॥

अर्थ—सभी कालमें प्राणियोंके मरण-जीवन-दुख-सुख आदि जो कुछ विभाव परिणमन है वह सम्पूर्ण स्वोपार्जित कर्मके उदयसे होता है और जो ऐसा मानता है कि परपुरुष परके मरण, जीवन, दुःख और सुखको करता है, इस लोकमे यह उसका अज्ञान है।

भावार्थ—संसारमें प्रत्येक प्राणीको जो जीवन, मरण, सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है वह उसके कर्मोदयके अनुसार ही प्राप्त होता है। इसमें अन्तरङ्ग कारण सबका अपना-अपना कर्मोदय है। अन्य पुरुष निमित्तकारण हैं। उसे यहाँ गौणकर कथन किया गया है ॥१६८॥

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

अर्थ—इस अज्ञानभावको प्राप्त होकर जो प्राणी परसे परका मरण, जीवन, दुःख और सुखका अवलोकन करते हैं वे अहंकार रससे मदोन्मत्त होकर कर्म करनेके इच्छुक होते हुए निश्चयसे मिथ्यादृष्टि आत्मघाती है।

भावार्थ—परजीव परको सुख-दुःख करता है, यह अज्ञान है। इस अज्ञानके वशीभूत होकर जो परद्रव्यका कर्तृत्व अपने ऊपर लेते है वे मिथ्यादृष्टि आत्माके शुद्ध स्वभावके घातक होनेसे आत्मघाती है ॥१६९॥

अब यही भाव गाथा द्वारा प्रकट करते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तह्मा ण मारिदो ण दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥
(जुगलम्)

अर्थ—जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब अपने कर्मके उदयसे होता है, इसलिये मैंने इसे मारा अथवा दुःखी किया, ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? जो नहीं मरता है तथा दुःखी नहीं होता है वह भी निश्चयकर अपने कर्मोदयसे ही। इससे तुम्हारा जो अभिप्राय है कि हमने नही मारा तथा हमने दुःखा नही किया वह क्या मिथ्या नहीं है ?

विशेषार्थ—निश्चयसे जो मरता है, जीता है, दुःखी होता है अथवा सुखी होता है वह अपने कर्मोदयसे ही इन सब अवस्थाओको प्राप्त होता है। यदि वैसा कर्मका उदय न हो तो ये सब अवस्थाएँ नहीं हो सकती हैं। इससे 'यह मेरे द्वारा मारा गया अथवा यह हमारे द्वारा जीवित किया अथवा दुःखी किया गया या सुखी किया गया' ऐसा जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है ॥२५७-२५८॥

अब यही भाव कलशामें प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥१७०॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके जो यह अज्ञानात्मक अध्यवसायभाव देखा जाता है वही स्वरूपसे विपरीत होनेके कारण बन्धका हेतु है ।

भावार्थ—परजीव, परको जिवाता है, मारता है, सुखी करता है तथा दुःखी करता है, ऐसा भाव अज्ञानमयभाव है । मिथ्यादृष्टि जीवके होता है तथा बन्धका कारण है ॥१७०॥

आगे यही अध्यवसाय बन्धका कारण है, यह कहते हैं—

एसा दु जा मई दे दुःखिद-सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तुम्हारी जो यह मति है कि मैं प्राणियोंको दुःखी अथवा सुखी करता हूँ सो तुम्हारी यही मूढमति शुभ-अशुभ कर्मको बाँधती है ।

विशेषार्थ—मैं परजीवोंको मारता हूँ अथवा नहीं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ, इसप्रकारका मिथ्यादृष्टि जीवके जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है वह स्वयं रागादिरूप होनेसे उसके शुभ-अशुभ बन्धका कारण होता है ॥२५९॥

अब अध्यवसाय ही बन्धका हेतु है, ऐसा नियम करते हैं—

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥
(युग्मम्)

अर्थ—तेरा जो यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणियोंको दुःखी अथवा सुखी करता हूँ, सो यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका बन्ध करनेवाला होता है । इसीप्रकार जो तेरा यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणियोंको मारता हूँ, अथवा जिवाता हूँ, सो तेरा यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका बन्ध करनेवाला है ।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञानसे जायमान जो यह रागमय अध्यवसानभाव है, यही बन्धका हेतु है, ऐसा निश्चय करना चाहिये । पुण्य और पापके भेदसे बन्ध दो प्रकार-का है, इसलिये बन्धका अन्य कारण खोजने योग्य नहीं है, क्योंकि इस एक ही अध्यवसाय

भावसे मैं दुःखी करता हूँ, मारता हूँ, सुखी करता हूँ, अथवा जीवित करता हूँ। इस तरह दो प्रकारके शुभ और अशुभ अहकाररससे भरे हुए होनेके कारण पुण्य और पाप दोनोके बन्ध-हेतुपनमें विरोध नहीं है।

यह जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है यही बन्धका कारण है। उसमे जहाँ जीवन-दान देने या सुखी करनेका अभिप्राय है वहाँ तो शुभ अध्यवसाय है और जहाँ मारनेका या दुःखी करनेका अभिप्राय है, वहाँ अशुभ अध्यवसाय है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे अहकार-रूप अज्ञानभावकी समानता दोनोमे है। अतः यह न जानना कि शुभ बन्धका कारण अन्य है और अशुभ बन्धका कारण अन्य है। पर अज्ञानकी अपेक्षा दोनो एक ही हैं ॥२६०-२६१॥

इसी प्रकार हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह सिद्ध हुआ, यह कहते है—

अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अर्थ—प्राणियोंको मारो, चाहे मत मारो, अध्यवसायभावसे ही बन्ध होता है, निश्चय-नयका संक्षेपसे जीवोंके बन्धके विषयमे यह निश्चित सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि प्राणी-का घात होवे अथवा मत होवे, यदि मारनेका अभिप्राय है तो नियमसे बन्ध है। यदि कोई जीव किसी जीवको मारना चाहता है और वह जीव स्वकीय आयुकर्मके निमित्तसे नहीं मरता तो भी मारनेके अभिप्रायवाला पापका भागी होता ही है।

विशेषार्थ—परजीवोंका स्वकीय कर्मोदयकी विचित्रतासे कदाचित् प्राणका वियोग होवे अथवा न होवे, किन्तु 'मै इसे मारता हूँ' ऐसा जो अहकारसे भरा हुआ हिंसाके विषयमे अध्यवसायभाव है वह भाव ही निश्चयसे उस जीवके बन्धका जनक है। परमार्थसे परके प्राण व्यपरोपणमें परकी सामर्थ्य नहीं है ॥२६२॥

आगे अध्यवसायभाव ही पुण्य और पापके बन्धका कारण है, यह दिखाते है—

एवमलिये अदत्ते अबमचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाण ज तेण दु वज्झए पाव ॥२६३॥
तहवि य सच्चे दत्ते बमे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं ज तेण दु बज्झए पुण्ण ॥२६४॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिसप्रकार हिंसाका अध्यवसाय कहा, उसीप्रकार मिथ्याभाषण, अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पाप बन्ध होता है तथा सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके विषयमे जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्य बन्ध होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार अज्ञानसे जैसा हिंसाके विषयमें यह अध्यवसायभाव किया जाता है वैसा ही असत्य, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रहके विषयमे जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पापबन्धका हेतु है और अहिंसाके विषयमें जैसा अध्यवसाय किया जाता है वैसा ही सत्य-दत्त-ब्रह्म और अपरिग्रहके विषयमे जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पुण्यबन्धका हेतु है।

भाव यह है कि जैसे हिंसामे अहकाररससे भरे हुए मलिनभावसे पापका बन्ध होता है। वैसे ही झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहमें भी अहकाररससे पूरित जो कर्तृत्वभाव है वह भी पापका जनक है। इसीतरह अहिंसामे होने वाला कर्तृत्वभाव जिसप्रकार पुण्यका जनक है उसीतरह सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी होनेवाला कर्तृत्वभाव पुण्य-का जनक है।

आगे अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है, यह कहते हैं—

वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाण ।
ण य वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बधो त्थि ॥२६५॥

अर्थ—जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह यद्यपि बाह्य वस्तुकी अपेक्षा होता है फिर भी बाह्य वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानभावके ही द्वारा बन्ध होता है।

विशेषार्थ—अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं होती। बाह्य वस्तु, बन्धका कारण जो अध्यवसानभाव है उसके हेतुपनसे ही चरितार्थ होती है। जिसप्रकार इन्द्रियॉ ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं परन्तु अज्ञानकी निवृत्तिमे ज्ञान ही कारण है। इसीप्रकार बाह्य वस्तु अध्यवसानकी उत्पत्तिमे कारण है परन्तु बन्धमें अध्यवसानभाव ही कारण है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब बाह्य पदार्थ बन्धमे कारण नहीं तब उनका प्रतिषेध करनेसे क्या लाभ है? इसका उत्तर यह है कि अध्यवसानके निषेधके अर्थ बाह्य पदार्थों-का निषेध है क्योंकि अध्यवसानभावका आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है। बाह्य पदार्थके आश्रयके विना अध्यवसान अपने आत्मलाभको नहीं कर सकता है। यदि बाह्य वस्तुके आश्रयके विना भी अध्यवसानभावकी उत्पत्ति हो जावे तो जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मै वीर-जननीके पुत्रको मारूँ वैसे ही बन्ध्या पुत्रको मै मारूँ, ऐसा भी अध्यवसानभाव होने लगेगा। परन्तु ऐसा अध्यवसानभाव होता नहीं, क्योंकि वीरजननीके पुत्रकी तरह बन्ध्यापुत्रका सद्भाव नहीं। अतः वीरप्रसविनी माताके पुत्रको जैसे मैं मारूँ, ऐसा अध्यवसानभाव होता है वैसा वन्ध्यापुत्रको मारनेका अध्यवसानभाव नहीं होता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र अलीक है और अलीकका अध्यवसान नहीं होता। इससे यह नियम है कि निराश्रय अध्यवसानभाव नहीं होता। अतः अध्यवसानका आश्रयभूत बाह्य वस्तुका अत्यन्त प्रतिषेध आचार्योंने बताया है, क्योंकि हेतुके निषेधसे हेतुमान्‌का भी निषेध हो जाता है। यद्यपि बाह्य वस्तु बन्धके कारणका

कारण है तो भी बाह्य वस्तु बन्धका जनक नहीं है। जैसे ईर्यासमितिमें सावधान यतीन्द्रके पदसे कोई कालका प्रेरा सूक्ष्म जीव यदि मरणको भी प्राप्त हो जावे तो भी ईर्यासमितिमें सावधान यतीन्द्रके तन्मरण सम्बन्धी बन्ध नहीं होता। अतः बाह्य वस्तु बन्धके हेतुमे नियमरूपसे हेतु भी नहीं है क्योंकि यहाँपर बाह्य क्रिया तो हो गयी परन्तु अध्यवसान नहीं हुआ। अतएव बाह्य पदार्थ जीवका तद्भाव न होनेसे बन्धका कारण नहीं है, अध्यवसान ही जीवका तद्भाव है। अतः वही बन्धका कारण है ॥२६५॥

इसप्रकार बन्धके कारणपनसे निर्धारित जो अध्यवसानभाव है, उसके स्वार्थ क्रियाकारित्वका अभाव होनेसे मिथ्यापनको दिखाते है—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधेमि तह विमोचेमि ।
जा एमा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अर्थ—हे जीव ! तेरी जो यह मूढ बुद्धि है कि मैं जीवोंको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छोड़ता हूँ, यह सब निरर्थक है, अतएव निश्चयसे मिथ्या है।

विशेषार्थ—परजीवोंको मैं दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बन्धनमे डालता हूँ तथा छोड़ देता हूँ यह जो अध्यवसानभाव हैं सो वे सभी अध्यवसानभाव परपदार्थमे अपना व्यापार करनेको असमर्थ है। इसीसे इसके स्वार्थक्रियाकारित्वका अभाव है। अतएव इस अध्यवसानभावके 'आकाशके फूलको चयन करता हूँ' इस अध्यवसानकी तरह मिथ्यारूपता ही है और वह केवल आत्माके अनर्थके लिये ही है ॥२६६॥

अब अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी क्यो नहीं है यह दिखाते है—

अज्झवसाणणिमित्त जीवा बज्झति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुम ॥२६७॥

अर्थ—यदि जीव अध्यवसानके निमित्तसे कर्मोंके द्वारा बन्धको प्राप्त होते है और यदि मोक्षमार्गमे स्थित होकर कर्मोंसे छूट जाते है तो तू क्या करता है ?

विशेषार्थ—निश्चयकर मै बँधता हूँ अथवा छुडाता हूँ ऐसा जो अध्यवसानभाव है इसकी स्वार्थक्रिया जीवोको बँधाना और छुडाना है, परन्तु जीव तो इस अध्यवसायभावका सद्भाव होनेपर भी स्वकीय, सराग, वीतराग परिणामोके अभावसे न बँधता और न छूटता है अर्थात् किसी जीवने यह अध्यवसायभाव किया कि यह बन्धको प्राप्त हो जावे अथवा ऐसा भाव किया कि अमुक जीव कर्मबन्धनसे छूट जावे, परन्तु उस जीवके उसप्रकारका भाव न होनेसे न तो वह जीव बँधता है और न छूटता है और यदि उन जीवोंके सराग तथा वीतराग परिणाम हो जावे, तो इस अध्यवसायभावका अभाव होनेपर भी वे जीव बँध जाते हैं और छूट जाते हैं, अतएव यह अध्यवसानभाव परमें अकिञ्चित्कर होनेसे स्वार्थ-क्रियाकारी नहीं है, इसीसे मिथ्या है ॥२६७॥

अब इस निष्फल अध्यवसानका कार्य बतानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहित ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मान करोति यत् ॥१७१॥

अर्थ—इस निष्फल अध्यवसानभावके द्वारा मोहित हुआ आत्मा, ऐसा कुछ नहीं हे जिस रूप अपनेको न करता हो।

भावार्थ—इस अध्यवमानभावके कारण यह जीव अपने आपमें सबका कर्तृत्व प्रकट करता है ॥१७१॥

आगे **इसी अर्थको** गाथामे **कहते हैं**—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरजिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्ण पाव च णेयविह ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोय च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥
(युगलम्)

अर्थ—जीव अध्यवसानभावके द्वारा सम्पूर्ण तिर्यञ्च, नारकी, देव और मनुष्य, सभीको अपने रूप करता है और अनेक प्रकारके पुण्य-पापको तथा धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सभीको जीव अध्यवसानके द्वारा आत्मस्वरूप करता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार यह जीव जब हिंसाका अध्यवसान करता है अर्थात् 'मैं इसे मारूँ' ऐसा अभिप्राय करता है तब अपनेको हिंसक बनाता है उसीप्रकार असत्यभाषण आदिके अध्यवसायसे अपनेको असत्यभाषी आदि करता है। तथा उदयमे आये हुए नारक-भावके अध्यवसानसे अपने आपको नारक, उदयमे आये हुए तिर्यञ्चके अध्यवसायसे अपने आपको तिर्यञ्च, उदयागत मनुष्यके अध्यवसायसे अपने आपको मनुष्य, उदयागत देवके अध्यवसायसे अपने आपको देव, उदयागत सुखादि पुण्यके अध्यवसानसे अपने आपको पुण्य और उदयागत दुःखादि पापके अध्यवसानसे अपने आपको पाप करता है। इसीप्रकार ज्ञायमान अर्थात जाननेमे आये हुए धर्मके अध्यवसानसे अपने आपको धर्म, ज्ञायमान अधर्मके अध्यवसानसे अपने आपको अधर्म, ज्ञायमान अन्य जीवके अध्यवसानसे अपने आपको अन्य जीव, ज्ञायमान पुद्गलके अध्यवसायसे अपने आपको पुद्गल, ज्ञायमान लोकाकाशके अध्यवसानसे अपने आपको लोकाकाश और ज्ञायमान अलोकाकाशके अध्यव-सायसे अपने आपको अलोकाकाशरूप करता है ॥२६८-२६९॥

अब इस अध्यवसायभावकी निन्दा करते हुए कलश काव्य कहते है—

इन्द्रवज्राछन्द

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषा यतयस्त एव ॥१७२॥

अर्थ—विश्वसे भिन्न होनेपर भी जिसके प्रभावसे आत्मा अपने आपको विश्वरूप करता है तथा मोह ही जिसकी एक जड है ऐसा अध्यवसानभाव जिनके नहीं है वे ही यति हैं ।

भावार्थ—यह अध्यवसानभाव समस्त अनर्थोका स्थान है । मोह अर्थात् मिथ्यात्वसे इसकी उत्पत्ति होती है । इसके प्रभावसे यह जीव अपने आपका नानारूप मानता है । जबकि वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा परसे भिन्न और स्वाय-स्वरूपसे अभिन्न है । इस अध्यवसायको जिन्होने नष्टकर दिया है वे ही यति है । उन्हीका ससार परिभ्रमणसे उपरम हुआ है ॥१७२॥

आगे कहते है कि जो मुनि इस अध्यवसायसे रहित है वे ही कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

अर्थ—ये जो पूर्वमे अध्यवसानभाव कह आये है उन्हें आदि लेकर और भी जो अध्यवसानभाव है वे सब जिनके नहीं है वे मुनिमहोदय शुभ-अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे अज्ञान, अदर्शन और अचारित्रके भेदसे अध्यवसानभाव तीन प्रकारके हैं । इनके अन्दर सकल अध्यवसानभावोंका समावेश हो जाता है । यही तीनो भाव स्वय अज्ञानरूप होनेसे शुभ-अशुभ कर्मबन्धके निमित्त है । यही दिखाते है—'मै इसको मारता हूँ' ऐसा जो यह अध्यवसानभाव है वह अज्ञानादिरूप है क्योंकि सद् अहेतुक और एक ज्ञप्तिक्रियासे युक्त आत्माका तथा रागद्वेषके विपाकसे तन्मय हननादि क्रियाओंका विशेष ज्ञान न होनेसे रागादि विभावपरिणामोसे भिन्न आत्माका बोध न होनेके कारण अज्ञानरूप है, उसीतरह रागादि विभावपरिणामोसे भिन्न आत्माका दर्शन न होनेसे मिथ्या-दर्शनरूप है, और रागादि विभावपरिणामोसे भिन्न आत्माका आचरण न होनेसे अचारित्र है । और 'यह धर्मद्रव्य जाना जाता है' इत्यादिरूप जो अध्यवसान है वह भी अज्ञानादिरूप है क्योकि सद् अहेतुक और एक ज्ञानरूप आत्मा तथा ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्योका विशेष ज्ञान न होनेसे परपदार्थसे भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेके कारण जैसे अज्ञानरूप है उसीतरह परपदार्थसे भिन्न आत्माका दर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शनरूप है, और परपदार्थसे भिन्न आत्मा-

का आचरण न होनेसे अचारित्ररूप है। इसीसे ये सब अध्यवसायभाव बन्धके ही निमित्त हैं। जिन महापवित्र आत्माओंके ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनिकुञ्जर है—श्रेष्ठ मुनिराज हैं। यही महानुभाव सद् अहेतुक एक ज्ञप्तिक्रियारूप, सद् अहेतुक एक ज्ञायकभावरूप, और सद् अहेतुक एक ज्ञानरूप शुद्ध आत्माको जानते हुए, उसीका अच्छी तरह अवलोकन करते हुए तथा उसीका अनुचरण करते हुए जिनके स्वच्छ-स्वच्छन्द और बहुत भारी अन्तर् ज्योति प्रकट हुई है ऐसे होते हुए अज्ञानादिरूपत्वका अभाव होनेसे शुभ-अशुभकर्मसे लिप्त नहीं होते अर्थात् बन्धको प्राप्त नहीं होते है ॥२७०॥

अब अध्यवसानभाव क्या है, यह दिखाते हैं—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाण मई य विण्णाण ।
एक्कट्ठमेव सव्व चित्त भावो य परिणामो ॥२७१॥

अर्थ—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थवाचक ही है ॥

विशेषार्थ—जहाँपर स्व और परका विवेक नहीं होता है वहींपर जीवके अध्यवसान भावका उदय होता है, उसीको बोधनमात्रपनसे बुद्धि कहते है, व्यवसायमात्रपनसे व्यवसाय कहते है, मननमात्रपनसे मति कहते हैं, विज्ञप्तिमात्रपनसे विज्ञान कहते है, चेतनमात्रपनसे चित्त कहते है, चित्के भवनमात्रपनसे भाव कहते हैं, और चित्के परिणमनमात्रपनसे परिणाम कहते हैं। ये जो बुद्धिको आदि लेकर आठ नाम कहे गये है वे सभी चेतनके परिणाम हैं। जब तक आत्मा और परपदार्थोंका भेदज्ञान नहीं होता हैं तब ही तक ये होते हैं, भेदज्ञानके उत्पन्न होनेसे स्वयमेव चले जाते हैं ॥२७१॥

अब सब प्रकारका अध्यवसानभाव त्यागने योग्य है, यह कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिल त्याज्य यदुक्त जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

अर्थ—सर्व पदार्थोंमें जो अध्यवसानभाव है वह त्यागने योग्य है ऐसा जिनेन्द्र-भगवान्ने कहा है। इससे हम ऐसा मानते हैं कि अन्य पदार्थोंके आश्रयसे जितना भी व्यवहार है वह सभी छुड़ाया है। अतः ये सन्त पुरुष निष्कम्परूपसे एक निश्चयका ही अच्छी तरह आलम्बन लेकर शुद्धज्ञानघन निजमहिमामें ही स्थिरताको क्यों नहीं धारण करते ?

भावार्थ—जिस प्रकार अध्यवसान भाव परके आश्रयसे होता है उसी प्रकार व्यवहार-नय भी परके आश्रयसे होता है। जिनेन्द्र भगवान्ने सभी प्रकारका अध्यवसान भाव छोड़ने

योग्य बतलाया है। उसका फलितार्थ यह निकलता है कि परके आश्रयसे होनेवाला व्यवहार-नय भी छोड़ने योग्य है। इस तरह जब व्यवहारनय छोड़ने योग्य पदार्थोंकी कोटिमें आता है तब सन्तपुरुष निश्चलभावसे एक निश्चयका ही अच्छी तरह आश्रय कर निश्चयनयके द्वारा प्रतिपादित शुद्धज्ञानघन जो निजकी महिमा है उसीमे स्थिरताको क्यों नहीं प्राप्त होते ? इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया गया है ॥१७३॥

अब निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है, यह गाथामे दिखाते है—

एव ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावति णिव्वाण ॥२७२॥

अर्थ—इस रीतिसे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है, यह जानो। जो मुनि निश्चयनयका आश्रय करनेवाले हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते है।

विशेषार्थ—जो आत्मामात्रका आलम्बनकर प्रवृत्ति करता है वह निश्चयनय है और जो पराश्रित है अर्थात् परके आश्रयसे प्रवृत्ति करता है वह व्यवहारनय है। इन दोनो नयोंमे पूर्वोक्त प्रकारसे परके आश्रयसे होनेवाला समस्त अध्यवसान बन्धका हेतु है, अतः मोक्षाभिलाषी जनको छोड़ने योग्य है। एसा उपदेश देनेवाल आचार्यने निश्चयनयके द्वारा व्यवहार-नयका ही प्रतिषेध किया है क्योंकि अध्यवसानकी तरह व्यवहार भी परके ही आश्रयसे होता है। यह व्यवहार प्रतिषेधके योग्य है भी, क्योंकि आत्माके आश्रयसे होनेवाले निश्चय-नयका आश्रय करनेवाले मुनि ही कर्मबन्धसे मुक्त होते हैं। परके आश्रयसे होनेवाले व्यवहार-नयका आश्रय तो नियमसे मुक्त न होनेवाले अभव्य जीवके द्वारा भी किया जाता है।

जिनागममे निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय प्ररूपित किये गये है। इनमे जो परपदार्थके आश्रयसे रहित आत्माका ही वर्णन करता है वह निश्चयनय है और जो पर-पदार्थके आश्रयसे होने वाली अवस्थाओंको आत्माकी अवस्थाएँ बतलाता है वह व्यवहारनय है। अपने-अपने स्थानपर दोनों नय उपयोगिताको प्राप्त हैं। परन्तु यहाँपर बन्धाधिकारके प्रकरणमें अध्यवसानभावकी समानता रखनेके कारण निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयको प्रतिषेधके योग्य बतलाया है क्योंकि बन्धकी निवृत्ति निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनियो-के ही होती है, मात्र व्यवहारनयका आश्रय तो ऐसे अभव्य जीव भी कर लेते हैं जिन्हें एकान्तसे—नियमसे कभी मुक्ति होती ही नहीं है। यहाँ निर्वाणकी प्राप्ति निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनियोंके कही गई है सो उसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि वे मुनि, व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति आदिका परित्यागकर मात्र निश्चयनयका आश्रय लेते हैं, क्योंकि अपने पदानुसार इन सब क्रियाओंको वे करते हैं। निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोंकी उपयोगिता उनकी सापेक्ष अवस्थामें ही होती है, निरपेक्ष अवस्था-मे नहीं। ज्यो-ज्यो यह प्राणी उन्नतम भूमिकामें पहुँचता जाता है त्यो त्यों इसका पराश्रितपन स्वयं छूटता जाता है और स्वाश्रितपन आता जाता है। इस दृष्टिसे यह कथन किया जाता है कि निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ॥२७२॥

आगे अभव्य द्वारा व्यवहारनयका आश्रय किस प्रकार किया जाता है ? यह कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप श्रीजिनवरदेवने कहे हैं। इनको करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ—शील और तपसे परिपूर्ण तथा तीन गुप्ति और पाँच समितियोंसे युक्त अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप जो व्यवहारचारित्र है उसे अभव्य भी कर सकता है फिर भी वह निश्चारित्र, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है क्योंकि निश्चयचारित्रके हेतुभूत ज्ञान और श्रद्धानसे वह शून्य होता है।

अभव्यजीवके दर्शनमोहनीयकर्मका उपशमादि न होनेसे न तो सम्यग्दर्शन होता है और चारित्रमोहनीयकर्मका उपशमादि न होनेसे न सम्यक्चारित्र होता है। केवल कषायोंका मन्द उदय होनेसे व्यवहाचारित्र होता है जो मोक्षमार्गका साधक नहीं, मात्र पुण्यका जनक होनेसे स्वर्गादिकके ही लाभमें निमित्त रहता है ॥२७३॥

आगे उस अभव्यके तो ग्यारह अङ्गतकका ज्ञान होता है फिर उसे अज्ञानी क्यों कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

अर्थ—मोक्षकी श्रद्धा नहीं करता हुआ जो अभव्य जीव अध्ययन करता है वह अध्ययन सम्यग्ज्ञानकी श्रद्धा न करने वाले उस अभव्य जीवके गुण नहीं करता है अर्थात् द्रव्यश्रुत हो जानेपर भी सम्यग्दर्शनके विना अभव्यजीवका पढना तथा ज्ञान मोक्षमार्गमे उपकारी नहीं होता।

विशेषार्थ—अभव्य जीव मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा नहीं करता है क्योंकि वह शुद्धज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे शून्य है। इसीसे उसके ज्ञानकी श्रद्धान हीं है क्योंकि वह शुद्धज्ञानमय आत्मज्ञानसे पराङ्मुख है। एकादशाङ्गश्रुतका अध्ययन करके भी श्रुताध्ययनके फलस्वरूप आत्मज्ञान गुणका अभाव होनेसे अभव्यजीव ज्ञानी नहीं होता। श्रुताध्ययनका गुण तो वह है कि पर वस्तुसे भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका जो ज्ञान होता है उस वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञानकी अभव्यके श्रद्धा नहीं है। इसीसे इस अभव्यके श्रुताध्ययनके द्वारा वह नहीं हो सकता अर्थात् केवल श्रुतके अध्ययनसे उस आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना अतिदुर्लभ है। इसीलिये अभव्यके उस गुणका अभाव है। अतएव ज्ञान और श्रद्धानके अभावसे वह अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है ऐसा नियम किया गया है ॥२७४॥

आगे उस अभव्यके धर्मका श्रद्धान तो होता है, इसका निषेध करते हैं—

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो हि फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अर्थ—वह अभव्य जीव धर्मकी श्रद्धा भी करता है, प्रतीति भी करता है, रुचि भी करता है और पुनः पुनः स्पर्श भी करता है परन्तु जो धर्म भोगका निमित्त है उसी धर्मकी श्रद्धा आदि करता है, कर्मक्षयका निमित्तभूत जो धर्म है उसकी श्रद्धा आदि नहीं करता ।

विशेषार्थ—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफल चेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है, नित्यज्ञान चेतनास्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि वह नित्य ही भेदविज्ञानके अयोग्य है। इसीसे वह अभव्यजीव कर्मक्षयमे निमित्तभूत ज्ञानमात्र जो भूतार्थ धर्म है उसकी श्रद्धा नहीं करता है किन्तु भोगोके निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो अभूतार्थ धर्म है उसीकी श्रद्धा करता है, इसीलिये यह अभव्यजीव अभूतार्थधर्मके श्रद्धान, प्रत्ययन, रोचन और स्पर्शनके द्वारा उपरितन ग्रैवेयक तकके भोगमात्रको प्राप्त हो सकता है। परन्तु कर्मबन्धनसे मुक्त कभी नहीं होता। इसलिये भूतार्थधर्मकी श्रद्धाका अभाव होनेसे अभव्यके श्रद्धान भी नहीं है। ऐसा होनेपर निश्चयनयके लिये व्यवहारनयका प्रतिषेध करना युक्त ही है ॥२७५॥

आगे व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहा है और निश्चयनयको प्रतिषेधक, सो ये दोनो नय कैसे हैं? इसका उत्तर कहते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

(युगलम्)

अर्थ—आचाराङ्ग आदि ज्ञान है, जीवादि पदार्थ दर्शन हैं और षट्कायके जीवोंकी रक्षा चारित्र है, यह व्यवहारनय कहता है। और मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन तथा चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही सवर है और मेरा आत्मा ही योग—ध्यान है, यह निश्चयनय कहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानका आश्रय होनेसे आचाराङ्ग आदि द्रव्यश्रुत ज्ञान है, दर्शनका आश्रय होनेसे जीवादि नौ पदार्थ दर्शन हैं और चारित्रका आश्रय होनेसे छहकायके जीवोंकी रक्षा करना चारित्र है, यह सब व्यवहारनयका कथन है। और ज्ञानका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा ज्ञान है, दर्शनका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा दर्शन है तथा चारित्रका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा चारित्र है, इसप्रकार निश्चयनयका कहना है।

यहाँपर आचाराङ्गादिको ज्ञानका आश्रय माननेसे अभव्यजीवमें अनैकान्तिकपन आता है, अतः व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। और निश्चयनय ज्ञानादिकका आश्रय शुद्ध आत्माको मानता है, अतः उसमें ऐकान्तिकपन है अर्थात् अनैकान्तिक दोषका अभाव है, इसलिये वह प्रतिषेधक है। यही दिखाते हैं—आचाराङ्गादि जो शब्दश्रुत है वह एकान्तरूपसे ज्ञानका आश्रय नहीं है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतके सद्भावमें भी अभव्यजीवोंके शुद्धात्माका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञानका अभाव है। इसीतरह जीवादि पदार्थ दर्शनके आश्रय नहीं है क्योंकि उनका सद्भाव होनेपर भी अभव्यजीवोंके शुद्धात्माका उपलब्धिका अभाव होनेसे सम्यग्दर्शनका अभाव है। और इसीतरह षट्कायके जीवोंकी रक्षा भी चारित्रका आश्रय नहीं है क्योंकि इनका सद्भाव होनेपर भी अभव्यजीवोंके शुद्धात्माका अभाव होनेसे चारित्रका अभाव है। इसके विपरीत निश्चयनयमें शुद्धआत्माका ज्ञान आदिके साथ ऐकान्तिकपन है। जैसे शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव होनेसे सम्यग्ज्ञानका सद्भाव एकान्तरूपसे नियम-रूपसे रहता ही है। इसीप्रकार शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है क्योंकि जीवादि पदार्थोंका चाहे सद्भाव हो चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव होनेसे सम्यग्दर्शनका सद्भाव एकान्तरूपसे नियमरूपसे रहता ही है। इसीतरह शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है क्योंकि छहकायके जीवोंकी रक्षाका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्धात्माका सद्भाव होनेसे सम्यक् चारित्रका सद्भाव एकान्तरूपसे—नियमरूपसे रहता ही है ॥२७६-२७७॥

आगे रागादिकका निमित्त क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जो गाथाएँ कही जानेवाली है उनकी अवतरणिकाके लिये कलश काव्य कहते है—

उपजातिछन्द

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहु ॥१७४॥

अर्थ—जो रागादिक बन्धके कारण कहे गये है वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतेजसे भिन्न हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उन रागादिकका निमित्त क्या है, आत्मा है या परद्रव्य ? इस प्रकार प्रेरित हुए आचार्य पुनः इस प्रकार कहते है ॥१७४॥

अब दृष्टान्त द्वारा रागादिकका निमित्तकारण आचार्य बताते है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

(युगलम्)

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह लाल आदि रङ्गरूप स्वयं नहीं परिणमता, किन्तु लाल आदि अन्य द्रव्योंके द्वारा तद्-तद् रङ्गरूप हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वय रागादिरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु रागादिक अन्य दोषोके कारण तद्-तद् दोषरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ—जैसे निश्चयकर स्फटिकमणि परिणामस्वभाववाला है और इस परिणमनस्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है वह लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणमन करनेमे निमित्त नहीं है। इसीसे वह स्वयं लाल आदि रङ्गरूप परिणमन नहीं करता किन्तु परद्रव्य जो जपापुष्पादि हैं वे स्वयं लाल, पीले, हरे आदिरूप हैं अतः उनकी डाँकका निमित्त पाकर स्फटिकमणि लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणम जाता है वैसे ही केवल जो शुद्ध आत्मा है वह परिणामस्वभाववाला है और इस स्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है उससे अपने आप रागादिकरूप परिणणन नहीं करता। किन्तु मोहादिक पुद्गलकर्मके विपाकका निमित्त पाकर मोह तथा राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। उस समय वह स्वयं रागादिभावको प्राप्त होकर शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमन करता है, यही वस्तुस्वभाव है।

आत्मा केवल तो शुद्ध ही है किन्तु परिणमनशील है। सो शुद्ध स्फटिकमणिकी तरह मोहादिक प्रकृतियोंके निमित्तको पाकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। इस ससारमे आत्मा और पुद्गल ये दो ही द्रव्य वैभाविकशक्तिवाले हैं। इन्ही दोनोका तिल-तेलके सदृश अनादिकालसे सम्बन्ध बन रहा है। इसी सम्बन्धसे दोनोमे विकार परिणमन हो रहा है। जीवमें जो विकाररूप रागादिक परिणाम होते हैं उनमें पुद्गलकर्मका उदय कारण है और पुद्गलमे जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है उसमें रागादिक विभावयुक्त जीव कारण है ॥२७८-२७९॥

अब यही भाव श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशामें प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मना याति यथार्ककान्त[१] ।

१ 'अर्क स्फटिकसूर्ययो' इत्यमर। मूलमें तथा आत्मख्यातिटीकामें स्फटिकोपल का ही दृष्टान्त दिया है। इसलिये यहाँ कलशामें भी 'अर्ककान्त' शब्दसे स्फटिकोपल ही लेना चाहिये, सूर्यकान्तमणि नही, क्योंकि उक्त कोषके अनुसार अर्कका अर्थ स्फटिक भी होता है।

तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

अर्थ—आत्मा स्वयं ही कभी रागादिरूप परिणमनमें निमित्तभावको प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार कि स्फटिकमणि स्वय लाल, पीले आदि विविध रङ्गरूप परिणमनमे निमित्तको प्राप्त नहीं होता। रागादिकरूप परिणमनमें तो परद्रव्यका सङ्ग ही निमित्तकारण है अर्थात् मोहादिक पुद्गलकर्मके विपाकको निमित्त पाकर आत्मा रागादिरूप परिणम जाता है। जिस प्रकार कि स्फटिकमणि लाल, पीले, आदि पदार्थोंके ससर्गसे तत् तद्रूप परिणम जाता है। यह वस्तुका स्वभाव है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। उसमें जो रागादिरूप अशुद्धता आती है उसमें निमित्तकारण मोहकर्मका विपाक है। यद्यपि आत्मामें वैभाविक शक्ति है और उस शक्तिके कारण उसमे रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है तथापि इस योग्यताके रागादिरूपसे विकसित होनेमे मोहकर्मका विपाक निमित्तकारण है। यदि रागादिक परिणतिमे केवल आत्माको ही कारण माना जावे तो रागादिक विकार नित्य हो जावेंगे, परन्तु वे नित्य नहीं हैं, इससे उन्हे निमित्तसापेक्ष माना जाता है। कार्यकी सिद्धिमें उपादान और निमित्त दोनों कारण होते है, वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है, अतः वह तर्कका विषय नहीं है ॥१७५॥

अनुष्टुप्छन्द

इति वस्तुस्वभाव स्व ज्ञानी जानाति तेन स ।
रागादीन्नात्मन कुर्यान्नातो भवति कारक ॥१७६॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानी जीव स्वकीय वस्तुस्वरूपको जानता है। इसी कारण वह रागादिकको आत्माके नहीं करता है, इसलिये उनका कर्ता नहीं है।

भावार्थ—ज्ञानी जीवकी श्रद्धा है कि रागादिक आत्माके स्वभाव नहीं हैं किन्तु मोहकर्मके विपाकसे आत्मामे उत्पन्न होते हैं, अतः वे उसके विकारीभाव है ॥१७६॥

अब यही भाव गाथामे कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाण ॥२८०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभावको नहीं करता है, इसीलिये वह उन रागादिक भावोका कर्ता नहीं है।

विशेषार्थ—यथोक्त वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी शुद्धस्वभावसे ही च्युत नहीं होता है। इसीसे वह राग-द्वेष-मोह आदि भावोंके रूप न स्वय परिणमन करता है और न दूसरेके द्वारा भी तद्रप परिणमाया जाता है। अतएव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावका धारक ज्ञानी जीव राग-द्वेष-मोह आदि भावोंका अकर्ता ही है, यह नियम है ॥२८०॥

आगे अज्ञानी जीव इस वस्तुस्वभावको नहीं जानता है, यह कहते हैं—

अनुष्टुप्

इति वस्तुस्वभावं स्व नाज्ञानी वेत्ति तेन स ।
रागादीनात्मन कुर्यादतो भवति कारक ॥१७७॥

अर्थ—अज्ञानी जीव इस प्रकारके अपने वस्तुस्वभावको नही जानता हे इसलिये वह रागादिकको आत्माके करता है अर्थात् रागादिरूप परिणमता है और इसीलिये उनका कर्ता होता है ॥१७७॥

अब रागादिरूप परिणमन करता हुआ जीव पुनः रागादिकको बाँधता है, यह कहते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

अर्थ—राग, द्वेष और कषायकर्मके हानेपर आत्माके जो भाव होते है उनरूप परिणमन करता हुआ आत्मा फिर भी उन रागादिकोंका बाँधता है।

विशेषार्थ—जैसा वस्तुका स्वभाव कहा गया है उसको नही जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसारसे शुद्धस्वभावसे च्युत है। इसीसे कर्मविपाकसे होनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि भावोंके द्वारा परिणमता हुआ राग, द्वेष, मोह आदि भावोका कर्ता होकर बन्ध अवस्थाको प्राप्त है, ऐसा निश्चय है।

अज्ञानी जीव परमार्थभूत वस्तुस्वभावको तो जानता नही, किन्तु कर्मोंके उदयसे जायमान रागादिकोंको अपना स्वरूप मानता है और आगामी उन्हींके अनुकूल सामग्री द्रव्य-कर्मोंको बाँधता है ॥२८१॥

इससे यह स्थित हुआ—

रायह्मि य दोसह्मि कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

अर्थ—राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होनेपर जो भाव आत्माके होते है उन भावोके द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा फिर उन्ही रागादिकोंके कारणभूत द्रव्यकर्मको बाँधता है।

विशेषार्थ—निश्चय कर अज्ञानी जीवके पुद्गलकर्मके निमित्तसे जो राग, द्वेष, मोह आदि परिणाम होते हैं वे ही परिणाम फिर भी राग-द्वेष-मोह आदि परिणामोंके निमित्तभूत पुद्गलकर्मके बन्धके हेतु है।

अज्ञानी जीव परमार्थसे अपने वास्तविक गुणविकासको तो जानता नहीं है किन्तु कर्मके विपाकसे जायमान रागादिकोको अपना स्वरूप मानता हुआ तद्रूप परिणमन करता

है। उसका फल यह होता है कि वह रागादिकको उत्पत्तिमें निमित्तभूत पुद्गलकर्मका बन्ध करता रहता है। इस तरह द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे रागादिक भावकर्म और रागादिक भावकर्मके निमित्तसे पुनः द्रव्यकर्मका बन्ध यह जीव अनादिकालसे करता चला आ रहा है ॥२८२॥

अब आत्मा रागादिक परिणामोका अकर्ता किस प्रकार है, यह कहते है—

अपडिक्कमणं दुविह अपचक्खाण तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमण दुविह दव्वे भावे तहा अपचक्खाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपचक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकारका जानना चाहिये और इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिये। इसी उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार हैं—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार है—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। जबतक आत्मा द्रव्य और भावमे अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह कर्ता होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—आत्मा स्वयं अनात्मीय रागादिकभावोंका अकारक ही है क्योंकि यदि स्वय रागादिकभावोका कारक होता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो दो प्रकारका उपदेश आगममे दिया है उसकी उपपत्ति नहीं बनती। निश्चयसे द्रव्य और भावके भेदसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो दो प्रकारका उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिकभावको विस्तारता हुआ आत्माके अकर्तृपनको जनाता है। इससे यह स्थिर हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्माके जो रागादिकभाव हैं वे नैमित्तिक है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान दोनोंमें जो कर्तृत्वके निमित्तपनका उपदेश है वह अनर्थक हो जावेगा और उसके अनर्थक होनेपर एक आत्माके ही रागादिभावोंके निमित्तपनकी आपत्ति आ जावेगी तथा उसके आनेपर आत्मामे नित्य कर्तृपनका अनुषङ्ग होनेसे मोक्षका अभाव हो जावेगा। इससे आत्माके रागादिकभावोंके होनेमें परद्रव्यको निमित्त मानना ठीक होगा। ऐसा माननेसे आत्मा रागादिकभावोंका अकारक ही है। किन्तु जब तक रागादिकभावोके निमित्तभूत द्रव्यका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक नैमित्तिकभूत भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है और जब तक भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक

वह उसका कर्ता ही होता है। और जिस कालमें निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है उसी कालमें नैमित्तिकभूत भावका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है। और जब भावका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान कर देता है तब आत्मा साक्षात् अकर्ता ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये दोनों दो-दो प्रकारके है—एक द्रव्य और दूसरा भाव। इसीसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेदसे दो-दो प्रकारका है। तात्पर्य यह है कि जो परपदार्थ अतीतकालमे आत्माने ममत्वभावसे ग्रहण किया था उसको जब तक अच्छा समझे तब तक उसका त्याग नहीं हो सकता। अतएव एक प्रकारका संस्कार उसके द्वारा आत्मामे होता है जिससे उसे त्याग नहीं सकता, इसीका नाम द्रव्य-अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्यके द्वारा जो रागादिकभाव आत्मामें हुए थे उनको अच्छा समझना भाव-अप्रतिक्रमण है तथा भविष्य कालमे परद्रव्यके ग्रहणका ममत्व राखे वह द्रव्य-अप्रत्याख्यान है और उससे भविष्यकालमे होनेवाले रागादिकोंकी वाञ्छा रखना यह भाव-अप्रत्याख्यान है। इस पद्धतिसे द्रव्य-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य-अप्रत्याख्यान और भाव-अप्रत्याख्यानरूपसे दो प्रकारका उपदेश है। यही उपदेश रागादिकभावोंकी उत्पत्तिमें परद्रव्यके निमित्तपनकी व्यवस्था करता है। यदि परद्रव्यको रागादिक परिणामोंके उत्पन्न होनेमे निमित्त न माना जावे तो आत्मा ही इनका निमित्त होगा। इस स्थितिमे नित्य-कर्तृपनकी आपत्ति आनेसे आत्माकी ससार अवस्थाका सर्वदैव सद्भाव रहेगा और ससारका नित्य सद्भाव रहनेसे मोक्षका अभाव हो जायेगा ॥२८३-२८५॥

आगे द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिकभावका उदाहरण कहते हैं—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्च ॥२८६॥
आधाकम्म उद्देसियं च पोग्गलमय इम दव्व।
कह त मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्त ॥२८७॥

(युग्मम्)

अर्थ—अधःकर्मको आदि लेकर जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष हैं उन्हें ज्ञानी जीव किस प्रकार कर सकता है क्योकि ये सब परद्रव्यके गुण हैं। अधःकर्म और उद्देशिक ये जो दोष हैं वे सब पुद्गलद्रव्यमय है। ज्ञानी जीव विचारता है कि ये हमारे किस प्रकार हो सकते है ? क्योंकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये है।[1]

---

१ अध कर्म और उद्देश्यसे जो आहार निष्पन्न होता है वह परिणामोकी मलिनताका निमित्त होता है क्योकि ऐसा नियम है कि जैसा अन्न खाया जावे वैसा ही उसका परिपाक होता है और उसका प्रभाव मनपर पडता है। यही कारण है कि जो अन्यायसे धनोपार्जन करते हैं वे कभी भी निर्मलताके पात्र नही होते—अतएव न्यायपूर्वक आजीविका ही गृहस्थावस्थामे हितकारिणी है।

विशेषार्थ—जो पुद्‌गलद्रव्य अधःकर्मसे निष्पन्न हुआ है अथवा जो पुद्‌गलद्रव्य उद्देश्यसे निष्पन्न हुआ है अर्थात् जो आहार पापकर्मसे उपार्जित द्रव्य द्वारा बनाया गया है है अथवा जो आहार व्यक्तिविशेषके निमित्तसे बनाया गया है, मलिनभावकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत उस आहारका जो मुनि प्रत्याख्यान नहीं करता है—त्याग नहीं करता है वह उसके निमित्तसे होनेवाले बन्धके साधक भावका प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है। इसीप्रकार सम्पूर्ण परद्रव्यको नहीं त्यागने वाला मुनि उसके निमित्तसे जायमान भावको नहीं त्याग सकता है। और जैसे आत्मा अधःकर्मादिक पुद्‌गलद्रव्यके दोषोंको नहीं करता है क्योकि ये अधःकर्मादिक पुद्‌गलद्रव्यके परिणाम होनेसे आत्माके कार्य नहीं है। इसीसे अधःकर्म और उद्देश्यसे निष्पन्न जो यह पुद्‌गलद्रव्य है वह मेरा कार्य नहीं है क्योंकि यह नित्य अचेतन है अतः इसमे मेरे कार्यपनेका अभाव है अर्थात् मैं इसका कर्ता नहीं हूँ। इसप्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्‌गलद्रव्यको त्यागता हुआ आत्मा बन्धके साधक जो नैमित्तिकभाव हैं उन्हें त्यागता है। इसीप्रकार समस्त परद्रव्योंको त्यागता हुआ आत्मा उनके निमित्तसे उत्पन्न भावको भी त्यागता है। इसतरह द्रव्य और भावमें निमित्त-नैमित्तिकभाव है।।२८७-२८७।।

आगे इसी भावको कलशामे कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्य समग्र बला-
त्तन्मूल बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तु काम समम्।
आत्मान समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसविद्युत
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१७८।।

अर्थ—इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावोंमे निमित्त-नैमित्तिकभावका विचारकर नानाभावोंकी इस परिपाटीको बलपूर्वक एक साथ उखाड देनेकी इच्छा करने वाला आत्मा नानाभावोके मूलभूत उस समस्त परद्रव्यका परित्याग करता है और उसके फलस्वरूप अतिशयरूपसे बहने वाले पूर्ण एक सवेदनसे युक्त उस आत्माको प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त कर्मबन्धको उखाड़ देने वाला यह भगवान् आत्मा अपने आपमे ही प्रकट होता है।

भावार्थ—समस्त परद्रव्यों और रागादिकभावोंमे परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपन है अर्थात् परद्रव्य निमित्त है और रागादिकभाव नैमित्तिक हैं। जो आत्मा रागादिकभावोंकी इस परम्पराको उखाड़कर दूर करनेकी इच्छा रखता है वह उन रागादिकभावोंका मूल कारण जो समस्त परद्रव्य है उसको पृथक् कर निरन्तर उपयोगरूप रहनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञानसे युक्त आत्माको प्राप्त होता है अर्थात् अरहन्त अवस्थाको प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप समस्त कर्मबन्धनको नष्ट कर भगवान् आत्मा, आत्मामे ही प्रकट होता है अर्थात् सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है ।।१७८।।

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

अर्थ—बन्धके कारण जो रागादिकभाव हैं उनके उदयको निर्दयतापूर्वक विदारण करनेवाली तथा अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली जो यह ज्ञानरूपी ज्योति है, वह रागादिकका कार्य जो नानाप्रकारका बन्ध है उसे उसी समय शीघ्र ही नष्ट कर अच्छी तरह उस प्रकार सज्जित होती है—पूर्ण सामर्थ्यके साथ प्रकट होती है कि कोई दूसरा इसके प्रसारको रोक नहीं सकता ।

भावार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धके चार भेद है। इन बन्धोंका कारण रागादिक विकारीभावोंका उदय है । सो आत्मकल्याणका इच्छुक पुरुष (क्षपकश्रेणीमे आरूढ होकर) दशमगुणस्थानके अन्तमें उन रागादिकभावोका इतनी निर्दयतापूर्वक विदारण करता है कि फिर वे उत्पन्न होनेका नाम ही नहीं लेते । रागादिकभावोका अभाव हो जाने पर कर्मोंका नानाप्रकारका बन्ध तत्काल ही नष्ट हो जाता है । यद्यपि केवल सातावेदनीयका प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है परन्तु स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है । इसतरह निर्बन्ध अवस्था होने पर बारहवे गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरण-दर्शनावरणरूपी अन्धकारको नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट तथा सदा सन्नद्ध रहनेवाली अर्थात् उपयोगरूप परिणत केवलज्ञानरूप वह ज्योति इसतरह प्रकट होती है कि कोई दूसरा पदार्थ उसके प्रसारको रोकनेमे समर्थ नहीं होता ॥१७९॥

इस प्रकार बन्ध रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया ।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यद्वारा विरचित समयप्राभृतमे बन्धपदार्थका प्ररूपण करनेवाले
सातवें बन्धाधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

८ मोक्षाधिकार

अब मोक्ष प्रवेश करता है—

अब मोक्षाधिकारके प्रारम्भमे मोक्षके पूर्व प्राप्त होनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञानकी महिमा प्रकट करते हैं—

शिखरिणीछन्द

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञान कृतसकलकृत्य विजयते ॥१८०॥

अर्थ—जो प्रज्ञारूपी करोंतके द्वारा विदारण करनेसे बन्ध और पुरुष अर्थात् आत्माको पृथक्-पृथक् कर स्वोपलब्धि—स्वानुभवसे निश्चित पुरुषको साक्षात् मोक्ष प्राप्त करा रहा है, जो प्रकट होते हुए स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्दसे सरस है, उत्कृष्ट है, तथा जो समस्त करने योग्य कार्य कर चुका है, ऐसा पूर्णज्ञान—केवलज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है।

भावार्थ—अनादिकालसे जीवकी बन्धदशा चली आ रही है, जिससे यह जीव कर्म और नोकर्मके साथ एकीभावको प्राप्त हो रहा है। भेदज्ञानके अभावमें मिथ्यादृष्टि जीव इस संयुक्त दशाको ही जीव मानता है। जब उसे परसे भिन्न शुद्ध जीवका अस्तित्व ही अनुभवमे नहीं आ रहा है तब मोक्षका लक्ष्य कैसे बन सकता है ? श्रेयोमार्गमे अग्रसर होनेवाले जीवको सर्वप्रथम प्रज्ञा अर्थात् भेदज्ञानकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार लोकमे करोंतके द्वारा काष्ठके दो भाग कर दिये जाते है उसी प्रकार यह जीव प्रज्ञाके द्वारा बन्ध और आत्माके दो भाग कर देता है अर्थात् भेदज्ञानकी महिमासे इसे अनुभव होने लगता है कि यह कर्म और नोकर्मरूप पुद्गलका बन्ध पृथक् है और पुरुष अर्थात् आत्मा पृथक् है। उस पुरुषका स्वानुभव प्रत्येक ज्ञानी पुरुषको होता है। 'मै ज्ञानवान् हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रकारके स्वानुभवसे पुरुषका अस्तित्व पृथक् अनुभवमें आता है। इस भेदज्ञानके द्वारा जीव मोक्षका लक्ष्य बनाता है और उसके लिये पुरुषार्थ करता है। उस पुरुषार्थके फलस्वरूप वह दशमगुणस्थानके अन्तमे मोहकर्मको नष्टकर वीतराग दशा प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर शेष तीन घातियाकर्मोंको नष्टकर पूर्णज्ञान—केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। यह पूर्णज्ञान सहज आत्मीय आनन्दसे युक्त होता है, सर्वोत्कृष्ट होता है और कृतकृत्य होता है। मोक्षाधिकारके प्रारम्भमें इसी पूर्णज्ञानका जयघोष आचार्यने किया है और वह इसलिये कि इसके होनेपर मोक्षकी प्राप्ति निश्चितरूपसे होती है ॥१८०॥

अब मोक्षकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह कहते हैं—

> **जह णाम को वि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिबद्धो ।**
> **तिव्व मदसहाव काल च वियाणए तस्स ॥२८८॥**
> **जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बधणवसो स ।**
> **कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्ख ॥२८९॥**
> **इय कम्मबधणाण पएसठिइपयडिमेवमणुभाग ।**
> **जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥**

(चित्रकलम्)

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकालसे बन्धनमे पडा हुआ है और वह उसके तीव्र मन्दस्वभावको तथा बन्धनके कालको जानता है तो भी यदि वह बन्धनका छेद नहीं करता है तो बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, वह बन्धनके वशीभूत होता हुआ बहुत समयमे भी बन्धनसे छुटकाराको नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबन्धनोंके प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग भेदोंको जानता है तो भी उनसे मुक्त नहीं होता, किन्तु जब यदि रागादिकको छोड़कर शुद्ध होता है तभी मुक्त होता है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धका जो द्वेधाकरण अर्थात् पृथक्-पृथक् करना है वही मोक्ष है। बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना मोक्षका हेतु है, ऐसा कोई कहते है। पर यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार बेड़ी आदिसे बद्ध पुरुषको बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना बन्धनसे छूटनेका कारण नहीं है उसीप्रकार कर्मबन्धनसे बद्ध पुरुषको बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र हो जाना बन्धसे छूटनेका कारण नहीं है, किन्तु वह उसका अकारण है अर्थात् चारित्रके विना अकेला ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है। इस कथनसे कर्मबन्धके विस्तार सहित भेद-प्रभेदोंको जानने मात्रसे संतुष्ट रहने वाले पुरुषोंका निरास हो जाता है ॥२८८-२९०॥

आगे कहते हैं कि बन्धकी चिन्ता करनेसे भी बन्ध नहीं कटता है—

> **जह बधे चिंततो बधणबद्धो ण पावइ विमोक्ख ।**
> **तह बधे चिंततो जीवो वि ण पावइ विमोक्ख ॥२९१॥**

अर्थ—जिस प्रकार बन्धनबद्ध पुरुष उन बन्धनोंकी चिन्ता करता हुआ उन बन्धनोंसे छुटकारा नहीं पाता, उसीप्रकार कर्मबन्धोंका विचार करने वाला पुरुष भी उन कर्मबन्धोंसे मुक्तिको नहीं पाता है।

विशेषार्थ—कोई ऐसा मानते है कि बन्धकी चिन्ताका जो प्रबन्ध है वह मोक्षका हेतु है परन्तु उनका ऐसा मानना असत्य है क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदिसे बद्ध पुरुषके बन्धकी चिन्ताका प्रबन्ध उस बन्धनसे छूटनेका कारण नहीं है उसीप्रकार कर्मबन्धसे युक्त पुरुषके बन्धकी चिन्ताका प्रबन्ध उस बन्धसे छूटनेका कारण नहीं है, किन्तु वह उसके प्रति

अकारण है। इस कथनसे कर्मबन्धविषयक चिन्ताके प्रवन्धरूप धर्म्यध्यानसे अर्थात् मात्र विपाकविचय धर्म्यध्यानसे अन्धबुद्धिवाले मनुष्य प्रतिबोधित हो जाते है।

भावार्थ—बहुतसे मनुष्य, केवल बन्धके भेद-प्रभेदोंके ज्ञानसे अपने आपको संसार बन्धनसे मोक्ष मानते हैं सो वे भी मोक्षके अधिकारी नहीं है ॥२९१॥

तब मोक्षका कारण क्या है ? सो कहते हैं—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्ख ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो सपावइ विमोक्ख ॥२९२॥

अर्थ—जिस प्रकार बन्धनसे बँधा हुआ पुरुष बन्धनोंको छेदकर ही उनसे मोक्षको पाता है उसीप्रकार कर्मबन्धनसे बँधा हुआ जीव भी कर्मबन्धोको छेदकर ही उनसे मोक्ष प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार बेडी आदिसे बद्ध पुरुषके उस बन्धनका छेदा जाना छूटनेका कारण है उसीप्रकार कर्मोंसे बद्ध पुरुषके कर्मबन्धका छेदा जाना उससे छूटनेका कारण है क्योकि वही एक उसका हेतु है। इस कथनसे पहले कहे गये बन्धका स्वरूप जानने वाले तथा बन्धकी चिन्ता करने वाले इन दोनोको आत्मा और बन्धके पृथक्-पृथक् करनेमे व्यापृत किया गया है अर्थात् उन्हें समझाया गया है कि बन्धका स्वरूप जानने मात्र अथवा बन्धकी चिन्ता करने मात्रसे मोक्ष होने वाला नहीं है किन्तु उसके लिये तो पुरुषार्थ पूर्वक आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् करना ही आवश्यक है ॥२९२॥

आगे क्या यही मोक्षका हेतु है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

बंधाण च सहाव वियाणिओ अप्पणो सहाव च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो विमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

अर्थ—बन्धोंके स्वभावको और आत्माके स्वभावको जानकर जो बन्धोंमे विरक्त होता है वही मोक्षको करता है।

विशेषार्थ—जो पुरुष निर्विकार चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उसके विकारको करने वाले बन्धोके स्वभावको जानकर बन्धोंसे विरक्त हो जाता है वही पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंसे मोक्षको कर सकता है। इससे यह नियम किया गया कि आत्मा और बन्धका पृथक्-पृथक् करना ही मोक्षका हेतु है ॥२९३॥

आगे आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् किसके द्वारा किये जाते हैं, इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

अर्थ—जीव और बन्ध ये दोनों निश्चित स्वकीय-स्वकीय लक्षणोंसे प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा छेदे जाकर नानापनको प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् करना कार्य है तथा इस कार्यका कर्ता आत्मा है। जब इसके करणका विचार किया जाता है तब निश्चयनयसे अपनेसे भिन्न करणका होना असंभव है। अतः भगवती प्रज्ञा ही छेदन करने वाली करण हो सकती है, उसके द्वारा छेदको प्राप्त हुए आत्मा और बन्ध अवश्य ही नानापनको प्राप्त हो जाते हैं। अतएव प्रज्ञाके द्वारा ही आत्मा और बन्धको पृथक्-पृथक् किया जाता है। भावार्थ—करण दो प्रकारका होता है—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। जहाँपर भिन्न कर्ता और भिन्न करण होते हैं वहाँपर बाह्य करण होता है। जैसे देवदत्त परशुके द्वारा काष्ठको छेदता है। यहाँ कर्तासे भिन्न करण है। और जहाँ कर्तासे भिन्न करण नहीं होता वहाँ आभ्यन्तर करण होता है। जैसे देवदत्त मनसे सुमेरुको जाता है। इस उदाहरणमें मन देवदत्तसे पृथक् नहीं है। यहाँपर प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञानरूप बुद्धि आभ्यन्तर करण है। इस प्रज्ञाको छैनीकी उपमा दी जाती है क्योंकि जिसप्रकार छैनीके द्वारा काष्ठादिकके दो भाग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। उस प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा भिन्न-भिन्न किये गये आत्मा और बन्ध नियमसे नानापनको प्राप्त होते हैं। अतः प्रज्ञा ही आत्मा और बन्धके द्विधा करनेमें करण है।

अब यहाँपर यह आशङ्का होती है कि जो आत्मा और बन्ध चेत्यचेतकभावके कारण अत्यन्त प्रत्यासत्तिसे एकरूप हो रहे हैं तथा भेदविज्ञानके अभावसे एक चेतककी तरह ही व्यवहारमें आ रहे हैं वे दोनों प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा कैसे भिन्न-भिन्न किये जा सकते हैं ?

इस आशङ्काका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा समझते हैं कि आत्मा और बन्धके जो अपने-अपने लक्षण नियत हैं उनकी सूक्ष्म अन्तः सन्धिके ऊपर इस प्रज्ञा-रूपी छैनीको बड़ी सावधानीके साथ डालनेसे दोनों ही भिन्न-भिन्न किये जा सकते हैं।

भावार्थ—आत्मा और बन्धके बीच जब तक प्रज्ञारूपी छैनीको नहीं पटका जाता है तब तक दोनों एक दिखते हैं। परन्तु जब अपने-अपने नियत लक्षणोंकी सूक्ष्म सन्धिपर प्रज्ञा-रूपी छैनीको डाला जाता है तब आत्मा और बन्ध दोनों ही पृथक्-पृथक् अनुभवमें आने लगते हैं।

अब यहाँ आत्मा और बन्धके स्वकीय-स्वकीय नियत लक्षणोंपर विचार करते हैं—

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह आत्माको छोड़कर शेष समस्तद्रव्योंमें नहीं पाया जाता है। आत्माका यह चैतन्यलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस-जिस पर्यायको व्याप्तकर प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त होता हुआ जिस-जिस पर्यायको ग्रहणकर निवृत्त होता है वह सभी सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त गुण-पर्यायोंका समूह आत्मा है। इसतरह यहाँ आत्मा लक्ष्य है और एक चैतन्यलक्षणके द्वारा वह जाना जाता है। चैतन्यलक्षण समस्त सहप्रवृत्त और

क्रमप्रवृत्त अनन्तगुण-पर्यायोमें अविनाभावरूपसे विद्यमान रहता है। अतः आत्मा चैतन्य-मात्र ही है, यह निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ—लक्षण वह है जो समस्त लक्ष्यमें रहे और अलक्ष्यमें न रहे। आत्माका चैतन्यलक्षण उसकी क्रमवर्ती समस्त पर्यायोंमें तथा सहभावी समस्त गुणोंमें अविनाभावसे रहता है अर्थात् आत्माकी कोई भी ऐसी पर्याय नहीं जो चेतनासे रिक्त हो, अतः चिन्मात्र ही आत्मा जानना चाहिये, यह निर्विवाद है।

और बन्धका स्वलक्षण रागादिक है। ये रागादिक यद्यपि आत्माको छोड़कर शेष द्रव्योंमें नही पाये जाते हैं, इसलिये आत्माके असाधारण हैं अर्थात् आत्मद्रव्यके साथ साधारणताको धारण करते हुए प्रतिभासित नही होते, किन्तु निरन्तर चैतन्य चमत्कारसे अतिरिक्त ही इनका प्रतिभास होता है। जिस प्रकार चैतन्यभाव आत्माकी समस्त पर्यायोंमें अनुस्यूतरूपसे प्रतीत होता है उस प्रकार रागादिकभाव आत्माकी सब पर्यायोमें नहीं पाये जाते, क्योंकि रागादिक-भावोंके बिना भी चैतन्यका आत्मलाभ होता है। रागादिकोका चैतन्यके साथ जो उत्प्लवन (उछलना) देखा जाता है वह चेत्य-चेतकभावकी प्रत्यासत्तिसे ही देखा जाता है, एक द्रव्य होनेसे नहीं। रागादिकभाव चेत्यमान है और आत्मा चेतक है। जिस प्रकार प्रदीप्यमान घटादिक प्रदीपकी प्रदीपकताको प्रसिद्ध करते है उसीप्रकार चेत्यमान रागादिक आत्माकी चेतकताको ही प्रसिद्ध करते है रागादिकरूपताको नहीं अर्थात् जैसे प्रदीप घटपटादिको प्रकाशित करता है परन्तु घटपटादिरूप नहीं हो जाता, इसीप्रकार आत्मा चेतक पदार्थ है और रागादिक चेत्य पदार्थ हैं। आत्मा रागादिकको चेत्य तो करता है अर्थात् उन्हें अपने ज्ञानका विषय तो बनाता है, परन्तु रागादिरूप नहीं हो जाता। ऐसा होनेपर भी आत्मा और बन्धमें अत्यन्त प्रत्यासत्ति होनेसे भेदकी संभावनाका अभाव है। इसलिये दोनोंमें अनादिकालसे एकत्वका भ्रम होता है किन्तु वह भ्रम प्रज्ञाके द्वारा नियमसे छेदा जाता है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस जीवके कर्मोंका बन्ध है और उस कर्मबन्धके उदयमें आत्माके रागादिकभावोंका उदय होता है। उससे यह जीव परपदार्थोंमे राग और द्वेषभावरूप प्रवृत्ति करता है। जो इसके अनुकूल है उनके सद्भाव और जो प्रतिकूल हैं उनके अभावकी चेष्टा करता है। वास्तवमे जो रागादिकभाव हैं वे इसके निजभाव नहीं हैं, मिथ्यादर्शनके उदयमे यह उन्हें निजभाव मानता है। परन्तु जिस कालमें मिथ्यादर्शनरूप तिमिरका अभाव हो जाता है उस कालमें इसको परपदार्थमें निजत्वबुद्धि मिट जाती है। तब जो परपदार्थके निमित्तसे रागादिक होते हैं उन्हे औपाधिकभाव जानकर उनके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है और मोहके कृश होनेपर फिर उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। उस समय आत्मा अपने स्वरूपमें ही परिणमन करता है। यही कल्याणका पथ है ॥२९४॥

आगे यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

स्रग्धराछन्द

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।

आत्मान मग्नमन्त स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्ध चाज्ञानभावे नियमितमभित कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

अर्थ—चतुर और सावधान पुरुषोके द्वारा किसी तरह पटकी हुई यह प्रज्ञारूपी पैनी छैनी आत्मा और कर्म दोनोंके बीच सूक्ष्म सन्धि-बन्धपर वेगसे पड़ती है और अन्तरङ्गमें स्थिर निर्मल शोभायमान तेजसे युक्त चैतन्यके पूरमे निमग्न आत्माको तथा अज्ञानभावमें नियत बन्धको दोनों ओर पृथक्-पृथक् कर देती है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्धके भिन्न-भिन्न करनेमे यही प्रज्ञारूपी छैनी समर्थ है। चतुर-विज्ञानी जीव सावधान होकर आत्मा और बन्धकी जो सूक्ष्म सन्धि है उसपर इसे इसतरह पटकते हैं कि जिस तरह आत्माका अंश परमे जाता नहीं और परका अंश आत्मामे रहता नहीं। प्रज्ञारूपी छैनीके पड़ते ही आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते है, पृथक् होता हुआ आत्मा तो अन्तरङ्गमे स्थिर, विशद तथा देदीप्यमान तेजसे युक्त चैतन्य-प्रवाहमे मग्न हो जाता है और बन्ध अज्ञानमे विलीन हो जाता है ॥१८१॥

आगे आत्मा और बन्धको द्विधा करके क्या करना चाहिये, ऐसी आशङ्काका उत्तर देनेके लिये गाथा कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

अर्थ—जीव और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोंके द्वारा उस तरह भिन्न-भिन्न किये जाते हैं जिस तरह कि बन्ध छेदनेके योग्य और शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य हो जता है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्ध अपने अपने नियत लक्षणोंके भेदज्ञानके द्वारा सर्वथा भिन्न-भिन्न करनेके योग्य है। तदनन्तर रागादिलक्षणसे युक्त सभी बन्ध सम्पूर्णरूपसे छोड़नेके योग्य हैं और उपयोग लक्षणवाला शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करनेके योग्य है।

आत्मा और बन्धके पृथक्-पृथक् करनेका प्रयोजन यही है कि बन्धको छोड़ा जाय और शुद्ध आत्माको ग्रहण किया जाय ॥२९५॥

आगे वह आत्मा किससे ग्रहण किया जावे? इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

अर्थ—शिष्य पूछता है कि वह आत्मा किस तरह ग्रहण किया जाता है? आचार्य उत्तर देते है कि वह आत्मा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण किया जाता है। जिसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा उसे बन्धसे विभक्त किया गया था—पृथक् किया गया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ शिष्यका प्रश्न है कि किसके द्वारा यह शुद्ध आत्मा ग्रहण किया जावे ? उसका आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है। शुद्ध आत्माके विभाग और ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है। अतएव जैसे प्रज्ञाके द्वारा आत्मा भिन्न किया गया था वैसे ही प्रज्ञाके द्वारा उसे ग्रहण करना उचित है ॥२९६॥

आगे यह आत्मा प्रज्ञाके द्वारा किस प्रकार ग्रहण किया जावे ? इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९७॥

अर्थ—जो चेतनागुणविशिष्ट है वही तो निश्चयसे मैं हूँ, यही प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य है और इससे अतिरिक्त जितने भी भाव है वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—निश्चयसे नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो चेतयिता है, वह मैं ही हूँ और अन्यलक्षणका अवलम्बन करनेवाले जो ये अवशिष्ट भाव व्यवहारमें आ रहे हैं वे सम्पूर्ण भाव मुझसे अत्यन्त भिन्न है क्योकि वे सभी भाव चेतनागुणविशिष्ट व्यापक आत्माके व्याप्यपनको प्राप्त नहीं हो रहे हैं अर्थात् आत्माके चेतनागुणके साथ उनकी कोई व्याप्ति नहीं है। अतएव मैं ही, मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिये, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मैं निश्चयसे ग्रहण करता हूँ वह आत्माकी ही एक चेतन क्रिया है। अतएव उस क्रियासे मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुएसे ही चेतता हूँ, चेतते हुएमे ही चेतता हूँ और चेतते हुएको ही चेतता हूँ अथवा गुण-गुणीकी भिन्न विवक्षा न की जावे तो न चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुएके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिये चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेचते हुएमे चेतता हूँ और न चेतते हुएको चेतता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कर्म आदिकी प्रक्रियासे भिन्न शुद्ध चिन्मात्रभाव हूँ॥ २९७ ॥

अब यही भाव कलशा द्वारा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

अर्थ—ज्ञानी कहता है कि जिसका भेद किया जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भिन्नकर चिन्मुद्रासे चिह्नित विभाग रहित महिमा वाला मैं शुद्ध चेतन ही हूँ। यदि कर्ता-कर्म आदि कारक, अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म अथवा ज्ञान-दर्शन आदि गुण भेदको प्राप्त होते हैं तो हों, परन्तु व्यापक तथा विशुद्ध चेतनभावमें तो कुछ भेद नहीं है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं शुद्ध चेतनद्रव्य हूँ और चैतन्य मेरा लक्षण है। मेरा यह चैतन्यलक्षण मुझसे कभी पृथक् नहीं हो सकता। मुझमे यद्यपि रागादिक विकारीभाव उत्पन्न हो रहे है पर वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण स्पष्ट ही मुझसे पृथक् है। प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञानकी बुद्धिसे वे स्पष्ट ही मुझसे पृथक् अनुभवमे आते हैं। अतः मैं उन्हे अपने चैतन्यस्वरूपसे भिन्न मानता हूँ। इसप्रकार रागादिक विभावभावोंसे अपनी भिन्नताका चिन्तनकर ज्ञानी जीव एक चेतनद्रव्यमे कारक, धर्म-धर्मी तथा गुण-गुणीके भेदका चिन्तन करता है। प्रथम तो वह चेतनद्रव्यको सब प्रकारकी भेद कल्पनासे रहित एक अखण्डद्रव्य अनुभव करता है, फिर उससे उतरती हुई अवस्थाका चिन्तन करता हुआ विचार करता है कि यदि प्रारम्भिक दशामें कारक, धर्म-धर्मी और गुण-गुणीका भेद रहता है तो रहे, वे सब चेतन्यगुणके ही परिणाम है। उस गुणकी अपेक्षा इनमे भेद नहीं हैं क्योंकि विशुद्ध चैतन्यभाव इन सबमें व्यापक होकर रहता है ॥१८२॥

आगे आत्मा द्रष्टा-ज्ञाता है, ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये, यह कहते है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९९॥

(युग्मम्)

अर्थ—प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो द्रष्टा है वह निश्चयसे मै हूँ और इससे अतिरिक्त जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न जानने योग्य है। इसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो ज्ञाता है वह निश्चयसे मै हूँ और इससे भिन्न जितने भी भाव है वे मुझसे भिन्न जानना चाहिये।

विशेषार्थ—चेतना दर्शन और ज्ञानके विकल्पोंका अतिक्रमण नहीं करती अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप जो विकल्प है वे चेतनाके साथ तादात्म्यसे रहते हैं, अतः चेतनपनकी तरह द्रष्टापन और ज्ञातापन आत्माके स्वलक्षण ही हैं। इसीसे मै दृष्टा जो आत्मा है उसको ग्रहण करता हूँ। निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसका अवलोकन करता ही हूँ, अवलोकन करने-वाला होकर ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके द्वारा ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके लिये ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेसे ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेमें ही अवलोकन करता हूँ।

अथवा नहीं अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करता हुआ अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके द्वारा अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके लिये अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेसे अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेमें अव-लोकन करता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कारकादिसे भिन्न शुद्ध दर्शनमात्र भाव मैं हूँ।

इसी प्रकार, ज्ञाता जो आत्मा है उसे ग्रहण करता हूँ, निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसे जानता ही हूँ, जाननेवाला होकर ही जानता हूँ, जाननेवालेके द्वारा ही जानता हूँ, जाननेवालेके लिये ही जानता हूँ, जाननेवालेसे ही जानता हूँ, जाननेवालेमे ही जानता हूँ, जाननेवालेको ही जानता हूँ। अथवा नहीं जानता हूँ, न जानता हुआ जानता हूँ, न जाननेवालेके द्वारा जानता हूँ, न जाननेवालेके लिये जानता हूँ, न जाननेवालेसे जानता हूँ, न जाननेवालेमे जानता हूँ, न जाननेवालेको जानता हूँ, किन्तु सबसे विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भावमें हूँ।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि चेतना ज्ञानदर्शनरूप विकल्पोंका अतिक्रमण क्यों नहीं करती है, जिससे चेतयिता ज्ञाता और द्रष्टा होता है ? इसका उत्तर कहते हैं—

आत्माका जोचेतनागुण है वह प्रतिभासरूप है, वह प्रतिभासरूप चेतना, सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको विषय करती है। अतः द्वैरूप्यका अतिक्रमण नहीं कर सकती है। उस चेतनाके सामान्यविशेषात्मक जो दो रूप है उन्हींका नाम दर्शन और ज्ञान है, इसीसे चेतना, दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण नहीं करती है। यदि चेतना दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण करने लगे तो सामान्यविशेषात्मक स्वरूपका अतिक्रमण करनेसे वह चेतना ही नही रह सकती। तथा उसके अभावमे दो दोषोंकी आपत्ति आवेगी, एक तो स्वकीय गुणका नाश होनेसे चेतनके अचेतनपनकी आपत्ति आवेगी और दूसरा व्यापकके अभावसे व्याप्य जो चेतन है उसका अभाव हो जावेगा। इसलिये उन दोषोके भयसे दर्शन-ज्ञानात्मक ही चेतनाको स्वीकार करना चाहिये ॥२९८-२९९॥

अब इसी भावको कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥१८३॥

अर्थ—निश्चयसे संसारमे चेतना अद्वैतरूप होकर भी यदि दर्शन और ज्ञानरूपको छोड़ देवे, तो सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे वह अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी और चेतनाका अस्तित्व छूट जाने पर चेतन जो आत्मा है उसमे भी जडपन हो जावेगा तथा व्यापक चेतनाके बिना व्याप्य जो आत्मा है वह भी अन्तको प्राप्त हो जावेगा। इसलिये चेतना निश्चित ही दर्शन और ज्ञानरूप है।

भावार्थ—सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि चेतनाका एक ही भेद है तथापि सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेसे उसका दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना इसप्रकार द्विविध परिणमन होता है। जो वस्तुके सामान्य अंशको विषय करती है वह दर्शनचेतना है और जो वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करती है वह ज्ञानचेतना है। जब वस्तु दो प्रकारकी है तब उसे

विषय करनेवाली चेतना भी दो प्रकारकी माननी आवश्यक है। सामान्य और विशेष परस्परमें सापेक्ष हैं अर्थात् सामान्यके विना विशेष नहीं रह सकता और विशेषके विना सामान्य नहीं रह सकता। इसमेसे एकका भी अभाव होगा तो दूसरेका भी अभाव अवश्य हो जायगा। इसतरह जब सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे चेतना अपना अस्तित्व खो बैठेगी तब उसके अभावमें चेतन जो आत्मा है उसमें अचेतनपन अर्थात् जड़पन आ जावेगा, जो कि किसी तरह संभव नहीं है। दूसरा दोष यह आवेगा कि व्यापक जो चेतना है उसका अभाव होने पर व्याप्य जो आत्मा है उसका भी अभाव हो जावेगा। इसलिये इन दोषोंसे बचनेके लिये चेतनाको ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनाके भेदसे दो प्रकारकी मानना ही उचित है ॥१८३॥

इन्द्रवज्राछन्द

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावा परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावा परे सर्वत एव हेया ॥१८४॥

अर्थ—चित् अर्थात् आत्माका तो एक चिन्मयभाव ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य भाव हैं वे निश्चयसे परके हैं। अतएव चिन्मयभाव ही ग्रहण करनेके योग्य है और इसके सिवाय अन्यभाव सब प्रकारसे त्यागने योग्य है।

भावार्थ—ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनारूप जो आत्माका परिणमन है वह चिन्मयभाव है। यही एकभाव आत्माका निजसे निजके निमित्तसे होनेवाला भाव है। अतएव ग्राह्य है और इसके अतिरिक्त आत्मामें जो राग-द्वेष-मोहभाव उत्पन्न होते है वे आत्मामे परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण पर है। अतः सब प्रकारसे हेय है—छोड़ने योग्य है ॥८४॥

आगे इसी भावको गाथामे कहते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो णाउ सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणति य वयण जाणंतो अप्पय सुद्ध ॥३००॥

अर्थ—सर्व परकीयभावोंको जानकर ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहते हैं कि ये मेरे हैं क्योंकि ज्ञानी जीव शुद्ध आत्माको जाननेवाला है।

विशेषार्थ—जो पुरुष निश्चयसे पर और आत्माके निश्चित स्वलक्षणके विभागमें पड़नेवाली प्रज्ञासे ज्ञानी होता है वह निश्चयसे एक चिन्मात्रभावको ही अपना जानता है और शेष सभी भावोंको परके जानता है। इसतरह जानता हुआ ज्ञानी जीव परभावोंको ये 'मेरे हैं', ऐसा कैसे कह सकता है ? क्योंकि पर और आत्मामें निश्चयसे स्वस्वामी-सम्बन्धका अभाव है। अतएव सर्वप्रकारसे एक चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य है और शेष सभी भाव त्यागनेके योग्य है, यह सिद्धान्त है ॥३००॥

यही भाव कलशामें दर्शाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि सेव्यता-
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परम ज्योति सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणा
स्तेऽह नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि ॥१८५॥

अर्थ—जिनके चित्तकी प्रवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा जो मोक्षके अभिलाषी है उन महानुभावोंके द्वारा यही सिद्धान्त सेवन करने योग्य है कि मैं निरन्तर शुद्ध चेतनागुणविशिष्ट एक परमज्योतिः स्वरूप हूँ तथा इस परमज्योति-चेतनाके अतिरिक्त पृथक् लक्षणवाले जो ये नानाप्रकारके भाव उल्लसित हो रहे है—प्रकट हो रहे है वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी इस ससारमे मेरे लिये परद्रव्य हैं।

भावार्थ—परपदार्थसे भिन्न आत्माकी शुद्ध स्वाधीन परिणतिका हो जाना मोक्ष है। इस मोक्षके जो अभिलाषी है उन्हे सदा इस सिद्धान्तका मनन करना चाहिये कि मैं तो सदा एक चैतन्य ज्योतिःस्वरूप हूँ, वही मेरी शुद्ध स्वाधीन परिणति है और उसके सिवाय मुझमें जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारीभाव उठ रहे है वे मेरे नहीं है, मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले विकारीभाव हैं, उनका नष्ट हो जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। जो महानुभाव इसप्रकार विचार करते हैं वे अवश्य ही एकदिन उन विकारीभावोंकी सत्ताको आत्मासे बहिष्कृत कर देते हैं ॥१८५॥

अनुष्टुप्छन्द

परद्रव्यग्रह कुर्वन् बध्येत सापराधवान् ।
बध्येतानपराधो स्व द्रव्ये सवृत्तो मुनि ॥१८६॥

अर्थ—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है और जो अपराधी है वह बन्धको प्राप्त होता ही है। जो स्वद्रव्यमे संवृत है वही मुनि है, वही निरपराध है। अतएव वह बन्धको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—लोकमें जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह चोरीका अपराधी कहलाता है। तथा इस अपराधके कारण बन्धनको प्राप्त होता है। परन्तु जो मनुष्य अपने द्रव्यमें ही सन्तुष्ट रहकर कभी किसीके द्रव्यका ग्रहण नहीं करता है, वह अपराधी नहीं कहलाता और इसीलिये बन्धनको प्राप्त नहीं होता। इसीप्रकार मिथ्यात्वके उदयमें जो परद्रव्यको अपना मानता है—उसकी संभालमे निमग्न रहता है वह आत्माकी आराधनासे रहित होनेके कारण अपराधी कहलाता है और इसीलिये नियमसे बन्धको प्राप्त होता है, मिथ्यात्वको धारण करनेवाला चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो, नियमसे उस गुणस्थानमें बँधनेवाली प्रकृतियोंका बन्ध करता ही है, परन्तु जो स्वद्रव्यमें ही सवृत रहता है अर्थात् आत्माको ही स्वकीय द्रव्य मानता है

और उसीकी शुद्ध परिणतिमें निमग्न रहता है, वह अपराधसे रहित है तथा परमार्थसे मुनि है—ज्ञानी है, वह बन्धको प्राप्त नहीं होता है ॥१८६॥

आगे इसी भावको गाथाओंमें प्रकट करते हैं—

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ सकिदो भमई ।
मा बज्झेज्ज केण वि चोरो त्ति जणम्मि वियरतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्सको दु जणवए भमदि ।
ण वि तस्स वज्झिदु जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥
एव हि सावराहो वज्झामि अह तु सकिदो चेया ।
जइ पुण णिरवराहो णिस्सकोहं ण बज्झामि ॥३०३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो चोरी आदि अपराधोंको करता है वह लोकमे विचरता हुआ 'मै चोर हूं, किसीके द्वारा पकड़ा न जाऊँ' ऐसी शङ्का सहित भ्रमता है और जो चोरी आदि अपराधोंको नहीं करता है, वह निःशङ्क होकर लोकमे भ्रमता है, उसको 'इसको कोई बाँध लेगा' ऐसी शङ्का कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इसप्रकार जो आत्मा सापराध है वह 'मै बँधूँगा' इस-तरह शङ्कित रहता है और यदि निरपराध है तो 'मै नहीं बँधूँगा' इस तरह निःशङ्क रहता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार इस लोकमे जो जीव परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको करता है उसीके बन्धकी शङ्का होती है और जो शुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको नही करता है उसके बन्धकी शङ्काकी उत्पत्ति नहीं होती है। उसीप्रकार जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराधको करता है उसीको बन्धकी शङ्का होती है और जो शुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप उस अपराधको नहीं करता है उसके बन्धकी शङ्का नही होती, यह नियम है। अतएव सर्वथा सम्पूर्ण परकीय भावोंका त्यागकर शुद्ध आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है क्योंकि ऐसा होनेपर ही आत्मा निरपराध होता है ॥३०१-३०३॥

आगे यह अपराध क्या है ? इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

ससिद्धिराधसिद्ध साधियमाराधिय च एयट्ठ ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अह ति जाणतो ॥३०५॥

(युग्मम्)

अर्थ—संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित, और आराधित ये सब एकार्थवाचक शब्द है। जो चेतायिता निश्चयसे राधसे रहित है वह अपराधी होता है। और जो चेतयिता निरप-

राध होता है वह निःशङ्क होता है तथा 'मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना द्वारा नित्य वर्तता है।

विशेषार्थ—परद्रव्यका त्यागकर शुद्ध आत्माकी जो सिद्धि अथवा साधना है उसीका नाम राध है और जिस जीवका यह राध अपगत हो गया अर्थात् नष्ट हो गया वह अपराध है अथवा जिस भावका राध चला गया है वह भाव अपराध है, उस भावसे सहित जो जीव है वह सापराध है। वह जो अपराधी आत्मा है, उसके परद्रव्यके ग्रहणका सद्भाव होनेसे शुद्धात्माकी सिद्धिका अभाव है तथा इसी कारण उसके बन्धकी शङ्का होनेसे स्वयं अशुद्ध होनेके कारण वह अनाराधक ही है अर्थात् उसके आराधकपन नहीं है। किन्तु जो आत्मा निरपराध है उसके सम्पूर्ण परद्रव्यका परित्याग होनेसे शुद्धात्माकी सिद्धिका सद्भाव है और इसीसे उसके बन्धशङ्काकी संभावना नहीं है। उस बन्धशङ्काका अभाव होनेपर उपयोग-रूप एक लक्षणसे युक्त शुद्ध आत्मा 'मै ही हूँ', ऐसा निश्चय करता हुआ वह शुद्धात्मसिद्धि-रूप लक्षणसे युक्त आराधनासे सहित होनेके कारण आराधक ही होता है ॥३०४-३०५॥

आगे अपराधी जीव ही बन्धको प्राप्त होता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

अर्थ—जो अपराधी है वह निरन्तर अनन्तकर्मपुद्गलपरमाणुओंके द्वारा बँधता है और जो निरपराध है वह कभी बन्धका स्पर्श नहीं करता। जो जीव अशुद्ध आत्माकी सेवा करता है वह सापराध होता है और जो शुद्ध आत्माकी सेवा करता है वह निरपराध होता है।

भावार्थ—जो रागादिविकारोंसे अशुद्ध आत्माकी उपासना करता है अर्थात् रागादि-विकारोंको आत्माकी निजपरिणति समझता है, वह सापराध है और जो इसके विपरीत रागादिविकारोंसे रहित शुद्ध आत्माकी उपासना करता है अर्थात् रागादिविकारोंको आत्मा-की निजपरिणति नहीं मानता है, वह निरपराध है। सापराध जीव मिथ्यादृष्टि है, इसीसे वह सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणुओंसे प्रत्येक समय बन्धको प्राप्त होता है और जो उक्त अपराधसे रहित है वह बन्धसे रहित होता है ॥१८७॥

अब यहाँपर कोई आशङ्का करता है कि इस शुद्ध आत्माकी उपासनाके प्रयाससे क्या लाभ है, क्योंकि प्रतिक्रमणादिकके द्वारा ही आत्मा निरपराध हो जाता है। सापराध जीव यदि प्रतिक्रमण नहीं करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको दूर करनेवाली न होनेसे विषकुम्भ कही गई है और यदि प्रतिक्रमणादि करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको

दूर करनेवाली होनेसे अमृतकुम्भ कही गई है। जैसा कि व्यवहाराचारसूत्रमें कहा गया है—

अपडिकमण अपरिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुमो ॥ १ ॥
पडिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोहा अट्ठविहो अमयकुमो दु ॥ २ ॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि इसतरह आठ प्रकारके लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त न करना विपकुम्भ है और इनके विपरीत लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण[1], प्रतिसरण[2], परिहार[3], धारणा[4], निवृत्ति[5], निन्दा[6], गर्हा[7], और शुद्धि[8] इन आठ प्रकारोसे प्रायश्चित्त करना अमृतकुम्भ है। अर्थात् इन्हींके द्वारा आत्मा निरपराध हो जावेगा। अतः शुद्धात्माकी उपासना करना निष्प्रोजन है, ऐसा व्यवहारनयवालेका तर्क है? उसका उत्तर आचार्य निश्चयनयकी मुख्यतासे देते है—

पडिकमण पडिसरण परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिकमण अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुम्भ है क्योंकि इनमे आत्माके कर्तापनका अभिप्राय है और जहाँ कर्तापनका अभिप्राय है वहाँ बन्धरूप दोषका सद्भाव ही है। तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार अमृतकुम्भ हैं क्योकि यहाँ कर्तापनका निषेध है। अतएव निरपराध है तथा इसीसे अबन्ध है।

विशेषार्थ—जो अज्ञानीजनसाधारण अप्रतिक्रमणादिक हैं वे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावस्वरूप होनेसे स्वयमेव अपराध है, इसलिये विषकुम्भ ही है। उनके विचारसे क्या लाभ

---

१ किये हुए दोषोका निराकरण करना प्रतिक्रमण है।
२ सम्यक्चारित्रादिकमे आत्माको प्रेरित करना प्रतिसरण है।
३. मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषोसे आत्माका निवारण करना परिहरण है।
४ पञ्चनमस्कारादि बाह्यद्रव्यका आलम्बनकर चित्तको स्थिर करना धारणा है।
५ बहिरङ्ग विषयकषायादिकमे जो चेष्टा है उससे चित्तकी प्रवृत्तिको रोकना निवृत्ति है।
६ आत्माको साक्षीकर दोषोको प्रकट करना निन्दा है।
७ गुरुकी साक्षीपूर्वक दोषोका प्रकट करना गर्हा है।
८. गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्तको धारण करना शुद्धि है।

है ? वे तो स्वयं त्यागने योग्य ही है। परन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं वह सम्पूर्ण अपराधरूप विषके दोषोके कम करनेमें समर्थ होनेसे यद्यपि अमृतकुम्भ भी हैं तो भी प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण अप्रतिक्रमणादिरूप तृतीय भूमिको न देखनेवाले पुरुषके स्वकीय कार्यके करनेमे असमर्थ होने तथा विपक्षकार्यके करनेके कारण वे विषकुम्भ ही हैं। वह अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीय भूमि स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिस्वरूप होनेके कारण सम्पूर्ण अपराधरूपी विषके दोषोको समूल नष्ट करनेमें समर्थ है। इसलिये स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है। इसतरहसे वह व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिकके भी अमृतकुम्भपनको सिद्ध करती है। इसी तृतीय भूमिके द्वारा आत्मा निरपराध होता है। इस तृतीय भूमिके अभावमे द्रव्यप्रतिक्रमणादिक भी अपराध ही है। अतएव तृतीय भूमिके द्वारा ही निरपराधपन होता है, यह सिद्ध होता है और उसकी प्राप्तिके लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादिक है। इससे यह नहीं मानना कि श्रुति प्रतिक्रमणादिकका त्याग करा रही है किन्तु वह द्रव्यप्रतिक्रमणादिकको छोड नहीं रही है। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणादिकके अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप शुद्धात्माकी सिद्धि ही जिसका लक्षण है, ऐसे अनिर्वचनीय अत्यन्त दुष्कर कार्यको भी कराती है।

भावार्थ—अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी निश्चयनयकी अपेक्षासे विषकुम्भ है क्योकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूपकी सिद्धि नही होती। आत्मस्वरूपकी सिद्धि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणके विकल्पसे रहित तृतीय भूमिकाके आधीन है। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शास्त्रमें प्रतिक्रमणका निषेध किया गया है। शास्त्रमें यह बताया जा रहा है कि जबतक यह जीव अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमणके कर्तृत्वसे नहीं छूटता तबतक शुद्धात्माकी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता।

प्रतिक्रमणका स्वरूप इसी ग्रन्थसे आगे सर्वविशुद्धिअधिकारमें इसप्रकार कहा गया है—

कम्म ज पुव्वकय सुहासुहमणेयविरथरविसेस।
तत्तो णियत्तए अप्पय तु जो सो पडिक्कमण ॥ इत्यादि

अर्थात् पूर्वकालमे किये हुए जो शुभ-अशुभ अनेक विस्तारविशेषरूप कर्म हैं उनसे जो चेतयिता अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमणस्वरूप है।

[1]इस कथनसे प्रतिक्रमणके विकल्पको छोड़कर प्रमादी बन सुखसे बैठे हुए लोगोंका निराकरण किया गया है, उनकी चपलता नष्ट की गई है, उनका परद्रव्यसम्बन्धी बाह्य

१　आत्मख्यातिकी इस गद्यको प्रचलित प्रकाशनोमें कलशामे शामिलकर १८८ वा नम्बर दे दिया गया है। पर वह कलशा नही है। आत्मख्यातिका गद्यांश ही है—

'अतो हता प्रमादिनो गता सुखासीनताम्, प्रलीन चापलमुन्मूलितमालम्बनम्, आत्मन्येवालानित चित्तमासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धे।'

आलम्बन उखाड़ कर दूर किया गया है और जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप आत्माकी उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक चित्तको आत्मामें ही निबद्ध किया गया है ॥३०६-३०७॥

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिकको विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमणको अमृतकुम्भ कहा है। इसलिये कोई विपरीतबुद्धि प्रतिक्रमणादिको छोड प्रमादी हो जावे तो उसे समझानेके लिये कलश कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८८॥

अर्थ—जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे पड़ता हुआ प्रमाद क्यों करता है? प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है?

भावार्थ—शुद्धात्माके अभावमें कृतदोषोंका निवारण करनेके लिये व्यवहारचारित्रमे प्रतिक्रमणादिकका करना आवश्यक बताया है। परन्तु निश्चयचारित्रमे उस विकल्पको हेय ठहराया गया है। इसका अर्थ कोई विपरीतबुद्धि यह समझे कि प्रतिक्रमण तो हेय है, विषके कलशके समान है। अतः प्रतिक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है तो उसे आचार्य महानुभावने समझाया है कि हे भाई! प्रतिक्रमणको छोड अप्रतिक्रमणमे आना तो ऊपरसे नीचे उतरना है, निष्प्रमाददशासे च्युत होकर प्रमाददशामें आना है। जहाँ प्रतिक्रमणको विषका कलश कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतका कलश कैसे हो सकता है? अप्रतिक्रमण तो हेय है ही। उसकी चर्चा ही क्या करना है। परन्तु शुद्धात्माकी सिद्धिके अभावमे केवल द्रव्यप्रतिक्रमणसे भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये उसका भी विकल्प छोड और ऊपर-ऊपरकी ओर चढकर निष्प्रमाददशाको प्राप्त होता हुआ उस उच्चभूमिको प्राप्त कर जहाँ द्रव्यप्रतिक्रमणका भी विकल्प छूट जाता है ॥१८९॥

आगे प्रमादी मनुष्य शुद्धभावका धारक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाचिरात् ॥१८९॥

अर्थ—प्रमादसे युक्त जो आलसी मनुष्य है वह शुद्धभावका धारक कैसे हो सकता है?

क्योंकि कषायके भारकी गुरुतासे जो आलस्य होता है वही तो प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरससे भरे हुए स्वभावमे स्थिर रहनेवाला मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है', निश्चयनयके इस कथनको सुनकर प्रतिक्रमणको छोड़ देता है और प्रमादी बनकर सदा आलस्यमें निमग्न रहता है। वह शुद्ध-भावसे युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् उसका भाव शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कषायकी अधिकतासे जो आलस्य होता है वह प्रमाद कहलाता है और प्रमादके रहते हुए भावकी शुद्धता होना दुष्कर कार्य है। अतः 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है' निश्चयनयके इस कथनसे यह अभिप्राय लेना चाहिये कि द्रव्यप्रतिक्रमणका विकल्प छोड़ आत्मीयरससे भरे हुए स्वभावमे लीन होना कल्याणकारी है। जो मुनि इसतरह नियमपूर्वक स्वभावमे स्थिर रहता है अर्थात् अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनोंका विकल्प छोड़ उच्चतम भूमिकामे स्थिर होता है वह अशुद्धताका कारण जो मोहकर्म है उसका क्षयकर परम शुद्धताको प्राप्त होता है और कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक देशोनकोटीवर्ष पूर्वमें अवश्य ही मुक्त हो जाता है—भवबन्धनसे छूट जाता है ॥१८९॥

अब मुक्त कौन होता है ? यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्य समग्र स्वय
स्वे द्रव्ये रतिमेति य स नियत सर्वापराधच्युत ।
बन्धध्वसमुपेत्य नित्यमुदितस्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९०॥

अर्थ—जो मनुष्य निश्चयसे अशुद्धिको करनेवाले सम्पूर्ण परद्रव्यका स्वयं त्यागकर स्वद्रव्यमे रतिको प्राप्त होता है वह नियमसे सम्पूर्ण अपराधोंसे छूट जाता है और बन्धके ध्वसको प्राप्त होकर नित्य उदयको प्राप्त स्वकीय ज्ञानज्योतिमे निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृतके प्रवाहसे पूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा शुद्ध होता हुआ मुक्त होता है—बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। परन्तु अनादि कालसे उसके साथ कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्यका जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशामे इसकी स्वरूपकी ओर दृष्टि नहीं जाकर सदा परद्रव्योंमे ही लीन रहती है तथा सब प्रकारके अपराधोंसे यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्थामें नये-नये कर्मोंका बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान-स्वभावसे च्युत हो ससार-भ्रमणका पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त परद्रव्य ही मेरी अशुद्धताके कारण है तब उनका संसर्ग छोड़कर स्वकीय आत्मद्रव्यमें प्रीति करता है, आत्मद्रव्यमें प्रीति होनेसे सब प्रकारके अपराधोंसे च्युत हो

जाता है। रागादिकभाव ही वास्तविक अपराध हैं, उनसे छूट जानेपर नये-नये कर्मोंका बन्ध स्वय रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेपर निरन्तर उदित रहनेवाली केवलज्ञानरूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागादिका समिश्रण रहनेसे ज्ञान-ज्योतिमें निर्मलताका अभाव था, पर अब रागादिकके सर्वथा दूर हो जानेसे केवलज्ञानरूप ज्योतिमे अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर छलकते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृतसे इसकी महिमा पूर्णताको प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्कसे सर्वथा रहित होनेके कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है—ससारके बन्धनसे छूट जाता है ॥१९०॥

आगे पूर्णज्ञानकी महिमाका गान करते हुए कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

बन्धच्छेदात्कलयदतुल मोक्षमक्षय्यमेत-
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीर
पूर्णं ज्ञान ज्वलितमचले स्वस्य लीन महिम्नि ॥१९१॥

अर्थ—कर्मबन्धके छेदसे जो अतुल तथा अविनाशी मोक्षको प्राप्त हुआ है जिसकी सहज—स्वाभाविक अवस्था नित्य प्रकाशसे प्रकट हुई है, जो अत्यन्त शुद्ध है, एकाकार स्वरसके भारसे अत्यन्त गम्भीर है, धीर है और अपनी अचल महिमामे लीन है, ऐसा पूर्ण ज्ञान सदा देदीप्यमान रहता है ॥१९१॥

इसप्रकार मोक्ष रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृतमे मोक्षका वर्णन
करनेवाले आठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥८॥

•

९ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है

प्रथम ही ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूत: प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते: ।
शुद्ध: शुद्ध: स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्ज: ॥१९२॥

अर्थ—जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त भावोंको अच्छी तरह विनाशको प्राप्त कराकर प्रत्येक पदमे—प्रत्येक पर्यायमें बन्ध और मोक्षकी रचनासे दूरीभूत है, द्रव्यकर्म तथा भाव-कर्मके नष्ट हो जानेसे जो अत्यन्त शुद्ध है, जो आत्मिकरसके समूहसे पूर्ण, पवित्र तथा स्थिर प्रकाशसे सहित है और जिसकी महिमा टङ्कोत्कीर्णरूपसे—स्थायिरूपसे प्रकट हुई है, ऐसा यह ज्ञानका पुञ्ज आत्मा देदीप्यमान है।

भावार्थ—सम्पूर्ण कर्तृ-कर्म आदि भावोंसे उत्तीर्ण सर्वविशुद्ध भावात्मक आत्माका इस सर्वविशुद्ध अधिकारमें वर्णन है। इसलिये सर्वप्रथम उस ज्ञानपुञ्ज आत्माका इसमें स्तवन किया गया है जिसने कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावोंका नाश कर दिया है। पहले अज्ञान अवस्थामे यह आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञानके प्रकट होनेपर अब यह अपने आपको कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नहीं मानता। पहले अज्ञानदशामें कर्मोंके बन्ध और मोक्षके विकल्पमें पड़ा हुआ था, पर अब निश्चयदृष्टि प्रकट होनेपर बन्ध और मोक्षके विकल्पसे दूर हो गया है। पहले द्रव्यकर्म और भावकर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे अशुद्ध हो रहा था, परन्तु अब उभयविध कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेसे अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हो गया है। पहले इसका क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे सपृक्त होनेके कारण अपवित्र तथा अस्थिर था, परन्तु अब इसका क्षायिकज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे सर्वथा रहित होनेके कारण पवित्र और स्थिर है। पहले इसका ज्ञानादिरूप वैभव मेघमण्डलमें छिपी विद्युल्लताके समान प्रकट होता और फिर तिरोहित होता रहता था, पर अब इसका ज्ञानादि-रूप वैभव टाँकीसे उकेरे हुएके समान सदाके लिये प्रकट हो चुका है। ऐसा यह ज्ञानपुञ्ज—अनन्तज्ञानकी राशिस्वरूप आत्मा प्रकट हो रहा है ॥१९२॥

अब आत्मामे कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारक: ॥१९३॥

अर्थ—भोक्तापनके सदृश कर्तापन भी आत्माका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे ही आत्मा कर्ता भासमान होता है और अज्ञानके अभावसे अकारक ही है—कर्ता नहीं है।

भावार्थ—जीवत्व गुणके समान कर्तृत्व आत्माका स्वभाव नहीं है क्योंकि कर्तृत्व यदि आत्माका स्वाभाविक गुण होता तो मुक्तावस्थामे भी इसका अस्तित्व पाया जाता। अतः यह प्रतीत होता है कि मोहादि विभावभावोंका निमित्त पाकर अज्ञानी आत्मा कर्ता बनता है, परमार्थसे कर्ता नहीं है। जैसे मद्यपायी मद्यके नशामें उन्मत्त बनता है स्वभावसे उन्मत्त नहीं होता। यहाँपर इसे स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण है—

एक बार एक राजा हाथीपर बैठा हुआ मन्त्रीके साथ वनक्रीडाके लिये जा रहा था। मार्गमे एक तन्तुवाय भी मद्यपानकर जा रहा था। राजाको देखकर वह कहता है कि क्यों रे हाथी बेचेगा? क्या मूल्य लेगा? राजा इस वाक्यको श्रवणकर एकदम क्रोधित हो, उसे दण्ड देनेकी आज्ञा देना ही चाहता था कि मन्त्रीने कहा—महाराज! दो घण्टेके अनन्तर ही इसे दण्ड देनेकी आज्ञा दीजिये, अभी यह वराक अपनेमे नहीं है। राजाने मन्त्रीके वाक्यको श्रवणकर 'तथास्तु' कहा। अनन्तर वह राजा वनविहारसे निवृत्त होकर जब राजसभामे सिंहासनारूढ हुआ तब मन्त्रीकी आज्ञासे वह मद्यपायी तन्तुवाय बुलाया गया। महाराजने उससे प्रश्न किया—हाथी खरीदोगे? वह बेचारा महाराजके वाक्य श्रवणकर कम्पित हो गया और कर मुकुलितकर नम्रीभूतमस्तक हो विनयके साथ उत्तर देता है—भो प्रभो! हाथी खरीदनेवाला तो अभी नहीं है, वह भाव तो तभी तक था जब तक मद्यका नशा था। इसी तरह जब तक यह आत्मा मोहमदिराके नशामे उन्मत्त रहता है तबतक ही परपदार्थोंका कर्ता बनता है। उस नशामे संसारभरके पदार्थोंका कर्ता आप तो बनता है सो ठीक ही है परन्तु निर्विकार आनन्दस्वरूप विज्ञानघन विकल्पजालविमुक्त जो परमात्मा है उनमे भी इस अज्ञानदशामे जायमान कर्तापनका आरोप करता है। अज्ञानावस्थामे जो-जो विकार न हों, सो थोड़े हैं। इसीसे कल्याणमन्दिरमें कहा है—

> त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
> किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥

अर्थात् हे विभो! अज्ञानान्धकारसे रहित आपको ही अन्यवादीजन हरि, हर आदिकी बुद्धिसे प्राप्त हुए है। आपको हरि, हर आदि समझकर आपकी उपासना करते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि हे ईश! काच और कामला रोगसे सहित लोगोके द्वारा सफेद शङ्ख भी क्या नाना-प्रकारके विपरीत वर्णोंसे युक्त नहीं ग्रहण किया जाता? अवश्य किया जाता है॥१९३॥

अब दृष्टान्तपूर्वक आत्माका अकर्तापन सिद्ध करते है—

दवियं ज उप्पज्जइ गुणेहिं त तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥३०८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥
ण कुदो चि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उसे उन गुणोंसे अभिन्न जानो। जैसे कि कटक आदि पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ सुवर्ण उन पर्यायोंसे अभिन्न होता है[1]। आगममें जीव और अजीवद्रव्यके जो परिणाम—पर्याय कहे गये हैं उस जीव और अजीवद्रव्यको उन परिणामों—पर्यायोंसे अभिन्न जानो, क्योंकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिये कार्य नहीं है और किसीको उत्पन्न नहीं करता, इसलिये कारण भी नहीं है। कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा नियम है। इस नियमको उल्लंघकर अन्य किसी प्रकार कर्ता और कर्मकी सिद्धि नहीं होती।

विशेषार्थ—निश्चयसे जीव क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं, क्योंकि सब द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। जिसप्रकार कि कङ्कण आदि पर्यायोंके साथ सुवर्णका तादात्म्य रहता है। इसतरह अपने परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सभी द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है। उसके अभावमें अजीवके जीवका कर्मपन सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध न होनेपर जीवके अजीवका कर्तापन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता और कर्म अन्यकी अपेक्षा सिद्ध न होकर स्वद्रव्यकी अपेक्षा ही सिद्ध होते हैं। इससे जीव अकर्ता ठहरता है।

---

१ यही सिद्धान्त श्रीकुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारमें कहा है—

परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्त ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

जो द्रव्य जिस कालमें जिस परिणाम कर परिणमता है वह उस कालमें उससे तन्मय हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। इसीसे जब आत्मा धर्मरूप परिणमता है तब उसे धर्म जानना चाहिये। जैसे लोहेका गोला जिस कालमें अग्निमें तपानेसे अग्निरूप परिणम जाता है उस कालमें उसे अग्नि ही, कहते हैं, वैसे ही आत्मा जिस कालमें सम्पूर्ण रागादिक विभावोंसे विहीन धर्मरूप परिणमता है उस कालमें श्रीजिनदेवने उसे धर्म कहा है।

ऐसा सिद्धान्त कुन्दकुन्ददेवने कर्तृकर्माधिकारमें भी स्पष्ट रीतिसे कहा है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।

अर्थात् जो द्रव्य जिस स्वकीय द्रव्यस्वभावमें अथवा स्वकीय गुणमें वर्तता है वह द्रव्य, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें संक्रमण नहीं कर सकता। यहाँपर ऐसा तात्पर्य जानना चाहिये कि निमित्तकारणको पाकर परिणमनशील जो पदार्थ है वह अन्यरूप नहीं होता है। जैसे कुम्भकारके योग और उपयोगके द्वारा मिट्टीका घटरूप परिणमन हो जाता है। एतावता कुम्भकार घटरूप नहीं होता, क्योंकि घटपर्यायका उपादानकारण मिट्टी है। अतः मिट्टीके अनुरूप ही घट होगा। उसीतरह जीव और पुद्गलमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी जीवके परिणाममें उपादानकारण जीव और अजीवके परिणमनमे उपादानकारण अजीव है। अतः जीवका परिणमन जीवरूप और अजीवका परिणमन अजीवरूप ही होगा ।।३०८-३११।।

इसी सिद्धान्तको श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

शिखरिणीछन्द

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ।।१९४।।

अर्थ—जो स्वभावसे शुद्ध है तथा देदीप्यमान चैतन्यरूप ज्योतिके द्वारा जिसने संसारके विस्ताररूप भवनको व्याप्त कर लिया है, ऐसा यह आत्मा परद्रव्योंका अकर्ता है, यह निश्चित है। फिर भी इस ससारमे कर्मप्रकृतियोके साथ इस जीवका जो बन्ध होता है वह निश्चयसे अज्ञानकी कोई अनिर्वचनीय गहन महिमा है।

भावार्थ—जीव स्वभावसे शुद्ध है और केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा समस्त लोक-अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, इसलिये वह कर्मोंका कर्ता नहीं है। फिर भी अनादिसे कर्मप्रकृतियोंके साथ जो इसका बन्ध हो रहा है वह अज्ञानकी ही बड़ी भारी महिमा है। निश्चयनयमे उत्पाद्योत्पादकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह उत्पाद्योत्पादकभाव एक द्रव्यमे ही बनता है, अन्य द्रव्यमे नहीं। इसलिये निश्चयनयसे जीव कर्मोंका कर्ता नहीं है। परन्तु व्यवहारनयमें निमित्त-नैमित्तिकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह निमित्त-नैमित्तिकभाव अन्य द्रव्योंमे बनता है। इसलिये व्यवहारनयसे जीव कर्मोंका कर्ता है। इस प्रकार नयविवक्षासे कथन जानना चाहिये ।।१९४।।

अब इस अज्ञानकी महिमाको प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।।३१२।।

एवं बंधो उ दुण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

(युग्मम्)

अर्थ—चेतनागुणविशिष्ट आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है और विनाशको प्राप्त होता है तथा प्रकृति भी उसी रूपसे—आत्मपरिणामभूत रागादिकके निमित्तसे उत्पन्न होती और विनशती है। इसप्रकार आत्मा और कर्म दोनोंका परस्परके निमित्तसे बन्ध होता है तथा उस बन्धसे संसार होता है।

विशेषार्थ—यह आत्मा, अनादि संसारसे प्रतिनियत जो पर और आत्माके स्वलक्षण है उनका ज्ञान न होनेसे दोनोंमें एकत्वका निश्चय करनेके कारण कर्ता होता हुआ प्रकृतिके निमित्तसे उत्पाद और विनाशको प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होती है। इसतरह आत्मा और प्रकृतिमे परमार्थसे कर्तृ-कर्मभावका अभाव होनेपर भी परस्परके निमित्त-नैमित्तिकभावसे दोनोंका बन्ध देखा गया है, उस बन्धसे ससार होता है और इसीसे उन दोनोंमें कर्तृ-कर्मका व्यवहार होता है।

यह बात आचार्य पहले भी कर्तृकर्माधिकारमे दिखा चुके हैं—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्व पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥८२॥

अर्थात् पुद्गल जीवके रागादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमन करते हैं और जीव भी पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर रागादिभावरूप परिणम जाते हैं, ऐसा परिणमन होनेपर भी जीवद्रव्य कर्मोंमें कोई गुण नहीं करता है और पुद्गलकर्म जीवमे कोई गुण नहीं करता है, किन्तु दोनोंका परस्परके निमित्तसे परिणाम देखा जाता है। इस कारणसे जीव अपने भावोंका कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत जो सम्पूर्ण भाव हैं उनका कर्ता नहीं है। ॥३१२-३१३॥

आगे कहते हैं कि जबतक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना और विनाश होना नहीं छोड़ता है तबतक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी है—

अनुष्टुप्छन्द

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३१४॥

जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥
(युग्मम्)

अर्थ—यह आत्मा जबतक प्रकृतिके निमित्तसे जायमान उपजना और विनाशको नहीं त्यागता है तबतक अज्ञानी होता हुआ मिथ्यादृष्टि और असंयमी है तथा जब अनन्त कर्मफलको छोड़ देता है तब कर्मबन्धसे रहित होता हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और संयमी होता है।

विशेषार्थ—जबतक यह आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणोंका ज्ञान न होनेसे आत्माके बन्धका निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे नहीं त्यागता है तबतक आत्मा और परमें एकपनका ज्ञान होनेसे अज्ञानी है, आत्मा और परमें एकपनके दर्शनसे मिथ्यादृष्टि है तथा आत्मा और परमें एकपनकी परिणतिसे असयत है और तभी तक पर तथा आत्मामे एकपनका निश्चय करनेसे कर्ता होता है। परन्तु जिसकालमे यही आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणोंका ज्ञान होनेसे आत्माके बन्धका निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे छोड देता है उस कालमे आत्मा और परपदार्थके भेदज्ञानसे ज्ञायक होता है, आत्मा और परको भिन्न-भिन्न देखनेसे दर्शक होता है, आत्मा और परकी भिन्न-भिन्न परिणति होनेसे सयत होता है और उसी समय पर और आत्मामें एकपनका अध्यवसाय न करनेसे अकर्ता होता है ॥३१४-३१५॥

अब कर्तृत्वकी तरह भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है, यह कलशामे दिखाते है—

अनुष्टुप्

भोक्तृत्व न स्वभावोऽस्य स्मृत कर्तृत्ववच्चित ।
अज्ञानादेव भोक्ताऽय तदभावादवेदक ॥१९५॥

अर्थ—जैसे कर्तापन आत्माका स्वभाव नहीं है वैसे भोक्तापन भी आत्माका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे ही आत्मा भोक्ता होता है और अज्ञानके अभावमे यह अभोक्ता ही है।

भावार्थ—जिस नयसे आत्मा कर्मोंका अकर्ता है उस नयसे आत्मा कर्मोंका अभोक्ता भी है और जिस नयसे कर्मोंका कर्ता है उस नयसे भोक्ता भी है ॥१९५॥

आगे यही भाव गाथामे कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफल जाणइ उदिय ण वेदेइ ॥३१६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होता हुआ कर्मफलको वेदता है—भोगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता तो है पर भोगता नहीं है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव, शुद्धात्मज्ञानका अभाव होनेके कारण निज और परके एकत्व

ज्ञानसे, निज और परके एकत्व दर्शनसे तथा निज और परमें एकत्वकी परिणति होनेसे प्रकृतिस्वभावमें—कर्मस्वभावमे स्थित है। अतः प्रकृतिस्वभावका अहम्भावसे अनुभव करता हुआ वह कर्मफलका भोक्ता होता है। परन्तु ज्ञानी जीव शुद्धात्मज्ञानके सद्भावके कारण निज और परमें भेदज्ञानसे, निज और परमें भेददर्शनसे तथा निज और परमें भिन्न परिणति होनेसे प्रकृतिस्वभावसे दूर हट चुका है। इसलिये यह एक शुद्धात्मस्वभावका ही अहम्भावसे अनुभव करता हुआ उदयागत कर्मफलको ज्ञेयमात्रपनसे जानता ही है, किन्तु अहम्भावसे उसका अनुभव करना अशक्य होनेसे उसे भोगता नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी जीव शुद्धात्मस्वभावका ज्ञान न होनेसे उदयागत कर्मफलको आत्माका स्वभाव जानकर भोगता है और ज्ञानी जीव शुद्धात्मस्वभावका ज्ञाता होनेसे उदयागत कर्मफलको जानता मात्र है, भोगता नहीं है। अज्ञानी जीवके अन्तरङ्गमें मिथ्यादर्शनके सद्भावसे यथार्थज्ञानका अभाव है, इसीसे उसके स्वपरका भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञानके अभावसे निरन्तर परपदार्थोंको अपने मानकर उनके परिणमनको अपने अनुकूल बनानेकी वह चेष्टा करता है जो कि सर्वथा असभव है। इसीसे जो कर्मफल उदयमे आता है उसका भोक्ता बनता है। किन्तु ज्ञानी जीवके मिथ्यात्वभावके अभावसे सम्यग्ज्ञानका उदय है। अतः वह भिन्न-भिन्न पदार्थोंको जानता है और उनके परिणमनसे अपने परिणमनको भी भिन्न जानता है। अतः उदयमे आये कर्मफलको जानता है अर्थात् उनके द्वारा जो सुख-दुःख होता है उसको जानता तो है पर वेदता नहीं है ॥३१६॥

आगे यही भाव कलशामें कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्य भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येव नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममयं महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥१९६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावमे रत होनेसे नित्य ही भोक्ता है और ज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावसे विरत होनेसे कदाचित् भी भोक्ता नहीं होता है। इस प्रकारके नियमको जानकर ज्ञानी पुरुष अज्ञानीपनको छोड़ें और शुद्ध एक आत्मस्वरूप तेजमे स्थिर होकर ज्ञानीपनका सेवन करे।

भावार्थ—कर्मविपाकसे जायमान विकारको अज्ञानी जीव आत्माका स्वभाव जानता है, अतः वह उसका भोक्ता बनकर हर्षविषादका अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानी जीव एक ज्ञानदर्शनरूप चिन्मात्र ज्योतिको ही आत्माका स्वभाव समझता है, इसलिये उसमे लीन रहता है, और कर्मविपाकसे जायमान रागादि विकारीभावोंको पर मानता है, इसलिये उनमें लीन नहीं रहता। ज्ञानका विषय होनेसे वह उन्हें जानता तो है, परन्तु उनका भोक्ता नहीं होता है ॥१९६॥

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

अर्थ—अभव्य जीव सम्यक्प्रकारसे शास्त्रोंका अध्ययन करके भी कर्मकी विपाकावस्थासे जायमान विभावभावोंको अपना माननेरूप स्वभावको नहीं छोड़ता, सो ठीक ही है क्योंकि साँप गुड़ और दुग्धका पान करते हुए भी निर्विष नहीं होते ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार विषधर सर्प स्वकीय विषपनको न तो अपने आप छोड़ता है और न विषमोचनमें समर्थ शर्करा सहित दुग्धपानसे ही छोड़ता है । इसीप्रकार अभव्य जीव प्रकृतिनिमित्तसे जायमान रागादिक विकारभावोंको न तो स्वयमेव छोड़ता है और न रागादिकके अपहरणमें समर्थ द्रव्यश्रुतज्ञानसे भी उन्हें छोड़ता है, क्योंकि भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञानके अभावसे वह अज्ञानी ही है । अतः नियम किया जाता है कि प्रकृतिस्वभावमें स्थित होनेसे अज्ञानी भोक्ता ही है ॥३१७॥

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं—

णिव्वेय समावण्णो णाणी कम्मप्फल वियाणेइ ।
महुरं कडुय बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

अर्थ—वैराग्यभावको प्राप्त जो ज्ञानी आत्मा है वह बहुत प्रकारके मधुर और कटुक भेदरूप कर्मफलको जानता है, इसलिये अभोक्ता है ।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव अभेदरूप भावश्रुतज्ञान नामक शुद्धात्मज्ञानका सद्भाव होनेसे परपदार्थसे अत्यन्त विरक्त है, इसलिये वह प्रकृतिस्वभावको स्वयमेव त्याग देता है, ज्ञाता होनेके कारण उदयमें आये हुए अमधुर और मधुर—अनिष्ट और इष्ट कर्मफलको केवल जानता ही है, क्योंकि इसप्रकारका ज्ञान होनेपर परद्रव्यका अहंभावसे अनुभव नहीं किया जा सकता, इसलिये भोक्ता नहीं है । अतएव प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेके कारण ज्ञानी अभोक्ता ही है ॥३१८॥

अब यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९७॥

अर्थ—ज्ञानी न तो कर्मका कर्ता है और न भोक्ता है, केवल उनके स्वभावको निश्चयसे

जानता ही है। परपदार्थको जाननेवाले ज्ञानी जीवके परपदार्थके प्रति कर्तृत्व और भोक्तृत्व-का अभाव होनेसे वह अपने शुद्धस्वभावमें नियत है, अतः मुक्त ही है।

भावार्थ—निश्चयनयसे ज्ञानी जीव अपने स्वभावका ही कर्ता और भोक्ता होता है। अतः वह कर्मरूप परद्रव्यका न तो कर्ता है और न भोक्ता है, केवल ज्ञाता ही है, इसलिये वह अपने शुद्धस्वभावमें लीन रहता है। शुद्धस्वभावमें लीन रहनेसे वह मुक्त ही कहा जाता है ॥१९७॥

आगे इसी अर्थको फिर भी कहते हैं—

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

अर्थ—ज्ञानी जीव बहुत प्रकारके कर्मोंको न करता है, न भोगता है, किन्तु कर्मफलको जानता है, बन्धको जानता है, पुण्य और पापको जानता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे ज्ञानी जीव कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित होनेके कारण स्वय न कर्ता है और न भोक्ता है। अतएव वह न तो कर्मको करता है और न भोगता है। किन्तु ज्ञानचेतनासे तन्मय होनेके कारण केवल ज्ञाता ही है। अतएव कर्मबन्ध और शुभ-अशुभ कर्मफलको केवल जानता ही है ॥३१९॥

आगे इसी बातको दृष्टान्तद्वारा पुष्ट करते हैं—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

अर्थ—जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थोंको देखता है, न तो उनका करनेवाला है और न भोगनेवाला है, वैसे ही ज्ञान बन्धको, मोक्षको, कर्मके उदयको और निर्जराको जानता है, न तो उनका करनेवाला है और न भोगनेवाला है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार इस संसारमें नेत्र देखने योग्य पदार्थसे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण उसके करने और भोगनेमें असमर्थ है। अतः वह देखने योग्य पदार्थको न करता है और न भोगता है किन्तु देखता ही है। यदि ऐसा न माना जावे तो जिसप्रकार धौंकनेवाला अग्निका कर्ता है और लोहपिण्ड जिसप्रकार स्वयं ही उष्णताका अनुभव करनेवाला है उसी-प्रकार नेत्र भी अग्निके देखनेसे उसका कर्ता हो जावेगा और स्वय ही उष्णताका अनुभव करने लगेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है। देखने मात्रका स्वभाव होनेसे वह समस्त पदार्थोंको केवल देखता ही है। उसीप्रकार ज्ञान भी स्वयं द्रष्टा होनेके कारण कर्मोंसे अत्यन्त भिन्न है। अतः वह परमार्थसे कर्मोंके करने और भोगनेमें असमर्थ होनेसे न कर्मोंको करता है और न भोगता है। किन्तु केवल, ज्ञानमात्र स्वभाव होनेसे कर्मबन्धको, मोक्षको, कर्मोदयको और निर्जराको केवल जानता ही है ॥३२०॥

आगे आत्मा कर्मोंका कर्ता है ऐसा मानना मोक्षमें बाधक है, यह भाव कलशामें दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९८॥

अर्थ—अज्ञानान्धकारसे आच्छादित हुए जो पुरुष आत्माको परका कर्ता देखते हैं। सामान्य मनुष्योंको तरह मोक्षकी इच्छा रखते हुए भी उन पुरुषोंको मोक्ष नहीं होता है।

आगे इसी अर्थको गाथाओंमें प्रकट करते हैं—

लोयस्स कुणइ विह्णू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥
लोगसमणाणमेयं सिद्धंत जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विह्णू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—लौकिक मनुष्योंकी ऐसी श्रद्धा है कि देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्य इन प्राणियोंको विष्णु करता है और इसीतरह यदि मुनियोंकी श्रद्धा हो कि षट्कायके जीवोंको करनेवाला आत्मा है तो लौकिक मनुष्य और मुनियोंका एक ही सिद्धान्त हुआ, कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, क्योंकि लौकिक मनुष्योंके मतमें विष्णु करता है और मुनियोंके मतमें आत्मा करता है। इसप्रकार लौकिक मनुष्य और मुनि इन दोनोंका कोई भी मोक्ष दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों ही देव, मनुष्य और असुरोंसे सहित लोकोंको नित्य ही करते हुए प्रवर्तते हैं।

विशेषार्थ—जो आत्माको कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर (मुनि) होकर भी लौकिकपनका उल्लङ्घन नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक ही हैं, क्योंकि लौकिकजनोंका परमात्मा विष्णु, देव-नारकी आदि कार्योंको करता है और लोकोत्तरजनोंका स्वात्मा देव-नारकी आदि कार्योंको करता है। इसतरह यह खोटा सिद्धान्त दोनोंका एक समान है। इसलिये आत्माको नित्यकर्ता माननेसे लौकिकजनोंके समान उन लोकोत्तरपुरुषोंको भी मोक्ष नहीं हो सकता है ॥३२१-३२३॥

अब आत्मा और परद्रव्यमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥१९९॥

अर्थ—परद्रव्य और आत्मामें परस्पर सम्पूर्ण सम्बन्ध नहीं है, अतः कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्ध का भी अभाव है और उसके अभावमें आत्मा परद्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥१९९॥

आगे परद्रव्य मेरा नहीं है, यह अर्थ दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जंपइ अह्म गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एवमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
तह्मा ण मे त्ति णिच्चा दोह्न वि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—जिन लोगोंने पदार्थके स्वरूपको नहीं जाना है वे व्यवहारकी भाषासे ऐसा कथन करते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है'। परन्तु जो निश्चयसे पदार्थके स्वरूपको जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणुमात्र भी 'परद्रव्य मेरा नहीं है'[1]। जिसप्रकार लोकमें कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि हमारा ग्राम है, देश है, नगर है, तथा राष्ट्र है। पर वे ग्रामादिक उसके नहीं हैं, वह मोहसे उन्हें अपना मानता है। इसीप्रकार ज्ञानी जीव भी परद्रव्यको जानता हुआ 'यह मेरा है' इस तरह उसे अपना मानने लगे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसमें शङ्काके लिये स्थान नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि इन दोनोंका परद्रव्यके विषयमें जो कर्तृत्वका व्यवसाय है उसे मिथ्यादृष्टियोंका ही व्यवसाय जानता है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव ही केवल व्यवहारमें विमूढ होकर 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा देखते हैं। परन्तु निश्चयनयके द्वारा प्रतिबोधको प्राप्त हुए ज्ञानी जीव परद्रव्यके कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते हैं। इसलिये जिसप्रकार इस लोकमें व्यवहार द्वारा विमुग्ध परकीय ग्रामवासी कोई मनुष्य दूसरेके ग्रामको 'यह हमारा ग्राम है' ऐसा देखता हुआ

---

१ अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूपी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥

मिथ्यादृष्टि है उसीप्रकार यदि ज्ञानी जीव भी किसी तरह व्यवहारमें मुग्ध होकर 'यह परद्रव्य हमारा है' ऐसा यदि देखने लगे तो उससमय वह भी निःसन्देह परद्रव्यको अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होगा। इसलिये तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको, 'सम्पूर्ण परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि दोनोंका जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण ही हो रहा है ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥३२४-३२७॥

अब इसी भावको कलश द्वारा प्रकट करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥२००॥

अर्थ—क्योंकि इस संसारमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सभी सम्बन्ध निषिद्ध किया गया है, इसलिये वस्तुभेदके रहते हुए अर्थात् दो पृथक् द्रव्योंमें कर्तृ-कर्मव्यवहारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव हे मुनियो ! और हे लौकिकजनो ! तुम तत्त्व अकर्तृरूप देखो।

भावार्थ—संसारके सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको लिये हुए स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। कोई अपने चतुष्टयको परके चतुष्टयके साथ परिवर्तित करनेके लिये समर्थ नहीं हैं, इसलिये किसी अन्य पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह दो पृथक् सिद्ध पदार्थोंमें जब सभी प्रकारके सम्बन्धका निषेध हो गया तब उनमें कर्तृ-कर्मसम्बन्ध कैसे बन सकता है ? निश्चयसे कर्तृ-कर्मसम्बन्ध सदा एक ही वस्तुमें बनता है क्योंकि जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो उसका परिणाम है वह कर्म कहलाता है। इस स्थितिमें आत्मा परपदार्थोंका कर्ता नहीं हो सकता और परपदार्थ आत्माका कर्म नहीं हो सकता। इसीलिये आचार्य महानुभावने मुनियों तथा लौकिकजनों—दोनोंको सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम आत्मतत्त्वको परद्रव्यका अकर्ता ही समझो ॥२००॥

अब भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, यह दिखानेके लिये कलश कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥२०१॥

अर्थ—आचार्य खेदपूर्वक कहते हैं कि जो पुरुष वस्तुस्वभावके इस नियमको अङ्गीकार नहीं करते हैं तथा जिनका आत्मतेज अज्ञानमें डूब गया है वे दीन हुए कर्म करते हैं। इसलिये भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, अन्य नहीं है।

भावार्थ—निश्चयनय दो विभिन्न द्रव्योंमें कर्तृ-कर्मभावका निषेध करता है, इसलिये आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है, इतना तो निश्चित हो चुका। अब रागादिक भावकर्मके कर्ताका विचार है, सो यह रागादिक भावकर्म उपादानोपादेयसम्बन्धकी अपेक्षा आत्माकी ही परिणति है क्योंकि आत्मा ही रागादिकरूप परिणमन करता है। अतः जब ये आत्माके ही परिणमन हैं तब आत्मा ही इनका कर्ता हो सकता है, अन्य द्रव्य नहीं। परन्तु ये रागादिक आत्माके स्वभाव नहीं हैं, परद्रव्यके सम्बन्धसे होनेवाले अशुद्धभाव है। अज्ञानदशामें ही आत्मा इनका कर्ता होता है, ज्ञानी दशामें नहीं ॥२०१॥

आगे इसी कथनको युक्ति द्वारा पुष्ट करते हैं—

मिच्छत्त जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाण।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्व मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्व कुणति मिच्छत्त।
तह्मा दोहिं कद त दोण्णि वि भुजति तस्स फल ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्व करेदि मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्त तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—यदि मिथ्यात्व नामक प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है अर्थात् मिथ्यात्वरूप भावकर्मको करती है तो हे [1]साख्यमती! तुम्हारे सिद्धान्तमें अचेतन प्रकृति कारकपनको प्राप्त हो जावेगी अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करता है ऐसा मानोगे तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि हुआ, जीव तो मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ अथवा जीव और प्रकृति दोनों ही मिलकर पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको करते हैं तो दोनोंके द्वारा जो कार्य किया गया है, उसके फलको दोनो ही भोगेगे, परन्तु ऐसा बन नहीं सकता क्योंकि भोक्तृपन चेतनका धर्म होनेसे जीवमें ही हो सकता है, जड प्रकृतिमें नहीं। कदाचित् यह मानो कि प्रकृति और जीव

१ साख्यमतमें आत्माको तो अकर्ता ही माना है और प्रकृतिको ही कर्ता माना है। उसी अभिप्रायको लेकर आचार्यका कहना है कि यदि आत्माको सर्वथा शुद्ध माना जावे और मिथ्यात्वादि भावोका कर्ता प्रकृति को ही माना जावे तो ऐसा माननेवाला साख्यमतका ही अनुयायी होगा।

दोनों ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यादृष्टि नहीं करते है तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहना क्या मिथ्या नहीं है ?

विशेषार्थ—जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मका कर्ता है क्योंकि यदि उसे अचेतन प्रकृतिका कार्य माना जावेगा तो उसमे अचेतनपनका प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है अर्थात् जीवमे जो मिथ्यात्वादि भावकर्मरूप परिणति होती है उसीका कर्ता जीव है। पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्म जीवके द्वारा किये जाते है, यदि ऐसा माना जावे, तो पुद्गलद्रव्यमें चेतनपनका प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्वादिभावकर्मके कर्ता है, यदि ऐसा माना जावे, तो जीवके समान अचेतन प्रकृतिके भी उसका फल भोगनेका प्रसङ्ग आ जावेगा। यदि यह कहा जावे कि जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता नहीं है तो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि इस पक्षमे पुद्गलद्रव्यसे मिथ्यात्वादि भावका प्रसङ्ग स्वभावसे ही मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिक भावकर्म जीवके ही हैं, जीव ही इनका कर्ता है और ये जीवके ही कर्म हैं।

भावकर्म रागादिक है, यह अज्ञानावस्थामे मिथ्यात्वके सद्भावसे जीवके होते है, जीव ही इनका कर्ता है, यही भाव संसारके कारण हैं। जीवाजीवाधिकारमे जो यह कहा है कि ये वर्णादिक व रागादिकभाव जीवके नहीं है, सो उसका यह तात्पर्य है—उस अधिकारमे जीवको परद्रव्यसे सर्वथा पृथक् जनानेका उपदेश है, अतः वहाँ पर उन्हीं भावोका ग्रहण है जो जीवकी सर्व अवस्थाओंमे पाये जावे। अतः ज्ञानदर्शन ही ऐसे है जा जीवत्वके साथ व्यापक होकर रहते हैं, रागादिकभाव इस तरहके नहीं हैं, वे कारणजन्य हानेसे औपाधिक भाव है, अतः जीवकी सर्व अवस्थाओमे उनकी व्याप्ति नहीं है। वस्तुके ऊपर विचार किया जावे तो जो-जो अवस्थाये वस्तुकी होती हैं उन-उन अवस्थाओका उसके साथ अभेद सम्बन्ध रहता है। जा वस्तु जिस कालमे जिस रूप परिणमती है उस कालमे वह तन्मय हो जाती है। तब जिस समय आत्मा रागादिरूप परिणमता है उस समय आत्माका रागादिकके साथ अभेद है और तज्जन्य जो आकुलता होती है उसका भोक्ता भी यही आत्मा होता है। अतः आत्माको सर्वथा रागादि रहित मानना ससार ओर मोक्ष दोनोके स्वरूपका अपलाप करना है और इसका फल अनन्त संसार ही है ॥३२८-३२९-३३०-३३१॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कार्यत्वादकृत न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञाया प्रकृते स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात् कृति ।
नैकस्या प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गल ॥२०२॥

अर्थ—रागादिक भावकर्म, कार्य होनेसे बिना किया हुआ नहीं हो सकता अर्थात् जब

वह कार्य है तब किसी न किसीका किया हुआ अवश्य होगा। जीव और प्रकृति इन दोनों-का वह कार्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जीवकी तरह अचेतन जो प्रकृति है उसके भी उस कार्यके फलके भोगनेका प्रसङ्ग आता है। केवल एक प्रकृतिका भी कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति अचेतन है, अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसलिये जीव ही इसका कर्ता है और जीवका ही यह कर्म है क्योंकि यह रागा-दिक भावकर्म चैतन्यानुगामी अर्थात् चेतन है और पुद्‌गल जडरूप है, जड़रूप होनेसे पुद्‌गल इसका कर्ता नहीं हो सकता ॥२०२॥

भावार्थ—रागादिक चेतन है, अतः उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। पौद्‌गलिक द्रव्यकर्म अचेतन है, अतः उनका कर्ता नहीं हो सकता। यह कथन उपादानकारणकी अपेक्षा है, निमित्तकारणकी अपेक्षा नहीं। रागादिकका उपादानकारण आत्मा है और निमित्त-कारण पौद्‌गलिक द्रव्य।

आगे कर्म ही रागादिक भावकर्मका कर्ता है, इसका निराकरण करते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०३॥

अर्थ—कितने हो आत्मघाती पुरुषोंने आत्माके कर्तापनका निराकरण कर तथा 'कर्म ही रागादिक भावोका कर्ता है' ऐसी तर्कणा कर 'यह आत्मा कथञ्चित् रागादिक भावोंका कर्ता है' इस निर्बाध श्रुतिको कुपित किया है। प्रचण्ड मोहसे जिनकी बुद्धि आवृत हो गई, ऐसे उन पुरुषोके ज्ञानकी शुद्धिके लिये स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त करनेवाली वस्तु-स्थिति कही जाती है।

भावार्थ—साख्यमतका अनुसरण करनेवाले कितने ही पुरुष आत्माको सर्वथा अकर्ता मान द्रव्यकर्मको ही रागादिक भावोंका कर्ता मानते है। सो ऐसा माननेवाले पुरुष 'आत्मा कथचित् रागादिक भावोका कर्ता है' इस निर्बाध जिनवाणीको कुपित करते है—उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। वैभाविक शक्तिके कारण आत्मामें रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता है, इस योग्यताकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता आत्मा है। परन्तु यह योग्यता द्रव्यकर्मके विपाकके बिना विकसित नही होती। इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टिमें रागादिकका कर्ता आत्मा नहीं है किन्तु द्रव्यकर्मका विपाक है। ऐसा जिनवाणीका कथन निर्बाध है—उसका कोई खण्डन नहीं कर सकता। जिनपुरुषोंकी बुद्धि तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे आवृत हो गई है उन्हें वस्तुका वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, अतएव उनके ज्ञानकी शुद्धिके लिये यहाँ

स्याद्वादके द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धसे—स्वच्छन्द मान्यताओंकी रुकावटसे विजय प्राप्त करनेवाली वस्तुस्थिति कही जाती है ॥२०३॥

आगे उसी वस्तुस्थितिको कहते हैं—

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्त णिज्जइ णिज्जइ असजम चेव ॥३३३॥

कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोय य ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तिय किंचि ॥३३४॥
जह्मा कम्म कुव्वइ कम्म देई हरत्ति ज किंचि ।
तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्म च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तह्मा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्म चेव हि कम्म अहिलसइ इदि भणिय ॥३३७॥
जह्मा घाएइ पर परेण घाइज्जए य सा पयडी
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥३३८॥

तह्मा ण को वि जीवो वघायओ अत्थि अह्म उवदेसे ।
जह्मा कम्म चेव हि कम्म घाएदि इदि भणिय ३३९॥
एव संखुवएस जे उ परूविंति एरिस समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्ह एय मुणतस्स ॥३४१॥

अप्पा णिच्चो असखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूप वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कह कुणइ दव्व ॥३४३॥

अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥
(त्रयोदशकम्)

अर्थ—जिसप्रकार जीव कर्मोंसे अज्ञानी किया जाता है उसीप्रकार कर्मोंसे ज्ञानी किया जाता है, जिसप्रकार कर्मोंसे सुलाया जाता है, उसीप्रकार कर्मोंसे जगाया जाता है, जिसप्रकार कर्मोंसे सुखी किया जाता है, उसीप्रकार कर्मोंसे दुखी किया जाता है। कर्मोंसे मिथ्यात्वको प्राप्त कराया जाता है, कर्मोंसे असयमको भी प्राप्त कराया जाता है, कर्मोंसे जीव ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकमे भ्रमाया जाता है तथा शुभ-अशुभ जितने कुछ भाव है वे सब कर्मोंसे किये जाते है, क्योंकि कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, जो कुछ है उसे कर्म ही करता है, इससे सम्पूर्ण जीव अकर्ता ठहरे। जब पुवेदका उदय आता है उस कालमे पुरुष स्त्रीरमणकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेदके उदयमे आत्मा पुरुपरमणकी अभिलाषा करता है। यह आचार्यपरम्परासे आई हुई श्रुति है, इसलिये कोई भी जीव हमारे सिद्धान्तके अनुकूल अब्रह्मचारी नहीं है क्योकि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है, ऐसा कहा है। जिस कारण परका घातता है अथवा परके द्वारा घाता जाता है, यह भी प्रकृति है, इसी अर्थको लेकर कहते है कि परघात नामा प्रकृति है। इसलिये हमारे सिद्धान्तके उपदेशसे कोई जीव परका घात करनेवाला नही है क्योंकि कर्म ही कर्मको घातता है ऐसा कहा गया है। इसप्रकार जो श्रमण इस परिपाटीसे साख्यमतके उपदेशका प्रतिपादन करते है उनके मतमे प्रकृति ही करनेवाली है और सम्पूर्ण आत्मा अकारक है। अब आत्माको कर्ता माननेके लिये आपका यह अभिमत है कि हमारा आत्मा स्वकीय आत्माको करता है तो तुम्हारा ऐसा मानना मिथ्या है क्योकि आत्मा आगममे नित्य और असख्यात प्रदेशी कहा गया है, उससे न तो कोई उसे अधिक कर सकता है और न हीन कर सकता है। जीवका जीवरूप विस्तारसे लोकप्रमाण जानो, ऐसा जो जीवद्रव्य है उससे हीन और अधिक कोई कैसे कर सकता है ? अथवा ऐसा माना जावे कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभावसे स्थित है तो इसी कारणसे आत्मा अपने आत्माको नहीं करता है।

विशेषार्थ—कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके उदयके बिना आत्मामें अज्ञानकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको ज्ञानी बनाता है, क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना आत्मामें ज्ञानका विकास नहीं होता है। कर्म ही आत्माको सुलाता है क्योकि निद्रा नामक कर्मके उदयके बिना आत्मामें शयनक्रियाकी उत्पत्ति नहीं होती है। कर्म ही आत्माको जगाता है क्योंकि निद्रानामक दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना आत्मामें जागरणरूप क्रियाका उपपत्ति असभव है। कर्म ही आत्माको सुखी करता है क्योंकि सातावेदनीयकर्मके उदयके अभावमे सुखका लाभ असम्भव है, कर्म ही आत्माको दुःखी करता है क्योंकि असातावेदनीयकर्मके उदयके बिना दुःखकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि बनाता है क्योंकि मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहके उदयके अभावमें

आत्मामें मिथ्यादर्शन पर्यायकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको असयमी बनाता है क्योंकि चारित्रमोहकर्मके उदय बिना आत्मामे असयमभाव नहीं होता है। कर्म ही आत्माको ऊर्द्ध, अधो और मध्यलोकमे ले जाता है क्योकि आनुपूर्वीकर्मके उदय बिना आत्माका इन स्थानोंमें गमन असिद्ध है।[1] और इनके सिवाय अन्य भी जो कुछ शुभ अथवा अशुभरूप जितने भाव है उन सभीको कर्म ही करता है क्योंकि प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग नामक कर्मके उदय बिना आत्मामे इन भावोंका अस्तित्व नही पाया जाता। जिस कारण इस पद्धतिसे स्वतन्त्र होकर कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हरता है, उस कारण सभी जीव नित्य ही एकान्तसे अकर्ता ही है ऐसा हम निश्चय करते है।

इसके सिवाय श्रुति भी, जो हमने कहा है, इसी अर्थको कहती है—पुरुषवेद नामक कर्मके उदयसे यह जीव स्त्रीकी अभिलाषा करता है, इन वाक्योंसे कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है, इसका समर्थन होनेसे और जीव अब्रह्मका कर्ता है, इसका असमर्थन होनेसे जीवके अब्रह्मके कर्तापनका निषेध अपने आप आ जाता है। तथा जो परको मारता है और परके द्वारा मारा जाता है वह परघात नामका कर्म है ऐसा जो वाक्य है उससे कर्म ही कर्मका घात करता है इसका समर्थन होनेसे तथा जीवमे परघातके कर्तापनका प्रतिषेध होनेसे जीव सर्वथा ही अकर्ता है इस बातको सिद्ध किया गया है। इसप्रकार इस साख्यसमयका स्वीय प्रज्ञाके अपराधसे सूत्रके अर्थको नहीं जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते है, सो उन श्रमणाभासोंने एकान्तसे प्रकृतिको ही कर्ता स्वीकार किया है। अतः समस्त जीवोंके एकान्त रूपसे अकर्तापनकी आपत्ति आती है और इसीसे 'जीव कर्ता है' इस श्रुतिके कोपका परिहार करना अशक्य है।

यहाँपर कोई तटस्थ यह कहता है कि कर्म आत्माके पर्यायरूप अज्ञान आदि समस्त भावोंका करता है और आत्मा द्रव्यरूप एक आत्माका ही करता है, इसलिये 'जीव कर्ता है' इस श्रुतिका कोप नही हो सकता है। सो उसका यह अभिप्राय मिथ्या ही है, क्योंकि जीव द्रव्यरूपसे नित्य है तथा लोकके बराबर असख्येय प्रदेशी है। इनमे जो नित्य है वह कार्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि कृतकपन और नित्यपनका परस्पर विरोध है। और न अवस्थित असख्येय प्रदेशवाले जीवके एतादृश पुद्गलस्कन्धके समान प्रदेशोके प्रक्षेपण और अपकर्षणके द्वारा कार्यपन हो सकता है, क्योंकि प्रदेशोंके प्रक्षेपण और अपकर्षणके रहते हुए उसके एकपन में व्याघात होता है। और न समस्त लोकरूपी भवनके विस्तारके बराबर जिसका विस्तार है, ऐसे जीवके प्रदेशोंके सकोच और विस्तारके द्वारा भी कार्यपन बन सकता है, क्योकि प्रदेशोंका सकोच और विस्तार भी सूखे और गीले चमडेके समान अपने निश्चित विस्तारसे हीनाधिक नहीं किया जा सकता है।

---

१ ग्रन्थान्तरोमे आनुपूर्व्यनामकर्मका कार्य विग्रहगतिमे आत्माके प्रदेशोका पूर्वपर्यायके आकार रखना बतलाया गया है। क्षेत्रान्तरमे ले जाना नही। यह कार्य गतिनामकर्मका है। आनुपूर्व्यनामकर्मका उदय विग्रहगतिमें ही होता है क्योंकि वह क्षेत्रविपाकी है।

और जो कोई ऐसा मानता है कि वस्तुके स्वभावका अपोहन करना सर्वथा अशक्य है, अतः जीवका जो ज्ञायकभाव है वह ज्ञानस्वभावसे सदा ही विद्यमान रहता है। और उस तरह विद्यमान रहता हुआ ज्ञायकभाव मिथ्यात्वादि भावोंका कर्ता नहीं होता, क्योंकि ज्ञायकपन और कर्तापनमें अत्यन्त विरोध है। तथा मिथ्यात्व आदि भाव होते अवश्य है, पर उनका कर्ता कर्म ही है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी वासनाका जो उन्मेष है वह 'आत्मा आत्माको करता है' इस मान्यताका सम्पूर्णरूपसे खण्डन ही करता है। इसलिये ऐसा मानना उचित है कि आत्माका जो ज्ञायकभाव है वह सामान्यकी अपेक्षा ज्ञानस्वभाव मे अवस्थित होनेपर भी कर्मजन्य मिथ्यात्वादि भावोको जिस समय जान रहा है उस समय अनादिकालसे ज्ञेय और ज्ञानमे भेदविज्ञान न होनेसे परको आत्मा जानने लगता है, इस विशेषकी अपेक्षा अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामोके करनेसे वह कर्ता है। परन्तु आत्माका यह कर्तापन तभी तक मानना चाहिये जब तक कि उस समयसे लेकर ज्ञेय और ज्ञानके भेद-विज्ञानकी पूर्णता नही हो। पूर्णता होनेपर आत्मा आत्माको ही जानने लगता है। अतएव विशेषकी अपेक्षा भी मात्र ज्ञानरूप ज्ञानके परिणामसे परिणमन करनेवाले स्वद्रव्यका केवल ज्ञाता रह जाता है, अत. साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ—स्याद्वादके मर्मको अच्छी तरह न जाननेके कारण कितने ही जैन मुनि भी वस्तुस्वभावका अन्यथा निरूपण करते हैं सो उनका यह निरूपण सांख्यमतके आशयके सदृश ही जानना चाहिये। उनका कहना है कि ये जो रागादिक भावकर्म होते है इनका कर्ता आत्मा नहीं है, यह तो मोहादिक कर्मप्रकृतिके उदयका कार्य है। इसी तरह ज्ञान, अज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असयम, चारो गतियोमे भ्रमण तथा शुभ-अशुभभाव आदि जो भी भाव हैं उन सब भावोका कर्म ही कर्ता है, जीव अकर्ता है। यही जैनशास्त्रोका मत है कि पुरुषवेदके उदयसे स्त्री रमणको अभिलाषा होती है और स्त्रीवेदके उदयसे पुरुष रमणकी इच्छा होती है तथा उपघातादि प्रकृतियोंके निमित्तसे ही परस्पर घात होता है। सांख्यमतवाले भी यही कहते है कि पुरुष अर्थात् आत्मा अकर्ता है और प्रकृति ही कर्त्री है।

इस पूर्वपक्षका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेवालोंके ऊपर स्याद्वादवाणीका, जो आत्माको कथञ्चित् कर्ता मानती है, कोप अवश्य होगा। उस कोपका वारण करनेके लिये 'आत्मा तो अपने आपका कर्ता है और इन मिथ्यात्वादि भावोंका कर्ता कर्म ही है' यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा तो द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है तथा असंख्यातप्रदेशी है, इसलिये यहाँ तो कुछ करनेके लिये है ही नहीं। भावरूप रागादिक परिणामोंका कर्ता कर्म ही है, अतः आत्मा तो अकर्ता ही रहा। इस स्थितिमें भी स्याद्वादवाणी-का कोप तो पूर्ववत् ही रहा, अतः आत्माको कथञ्चित् अकर्ता और कथञ्चित् कर्ता मानना ही स्याद्वाद है। सामान्य ज्ञायकभावकी अपेक्षासे तो आत्मा अकर्ता है परन्तु विशेषकी अपेक्षा जो ये रागादिकभाव होते हैं अज्ञानावस्थामें उनका कर्ता ही है। यही श्रीकुन्दकुन्द स्वामीका मत है ॥३३२-३४४॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुष सांख्या इवाप्यार्हता
कर्तार कलयन्तु त किल सदा भेदावबोधादध ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियत प्रत्यक्षमेव स्वय
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचल ज्ञातारमेक परम् ॥२०४॥

अर्थ—सांख्योंके सदृश ये जैन मुनि भी आत्माको सर्वथा अकर्ता मत मानें, भेदज्ञानके पहले उसे सदा कर्ता मानें और भेदज्ञान होनेके ऊपर उत्कृष्ट ज्ञानमन्दिरमें निश्चित इस स्वय प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्वसे रहित, अचल और एक परम ज्ञाता ही देखें ।

भावार्थ—जिस प्रकार सांख्यमतवाले आत्माको एकान्तसे अकर्ता मानते हैं उस प्रकार जैन मुनि भी उसे सर्वथा अकर्ता मत समझें, क्योंकि भेदज्ञानके पूर्व अज्ञानदशामें आत्मा रागादिभावोंका कर्ता है और भेदज्ञानके अनन्तर आत्मा एक ज्ञाता ही रह जाता है, उसका कर्तापन स्वयं छूट जाता है । इसलिये स्याद्वादकी दृष्टिसे ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है ॥२०४॥

आगे क्षणिक होनेसे कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, बौद्धोंकी इस मान्यताका निराकरण करते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

क्षणिकमिदमिहैक कल्पयित्वात्मतत्त्व
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोह तस्य नित्यामृतौघै
स्वयमयमभिषिञ्चश्चिच्चमत्कार एव ॥२०५॥

अर्थ—इस संसारमें इस आत्मतत्त्वको क्षणिक मानकर एक—बौद्ध अपने मनमें कर्ता और भोक्तामें भेद मानता है । सो यह चैतन्यका चमत्कार ही कथञ्चित् नित्यरूप अमृतके प्रवाहोंसे स्वयं सींचता हुआ उसके उस विमोहको दूर करता है ।

भावार्थ—पर्यायदृष्टिसे विचार किया जावे तो कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है । और जब द्रव्यदृष्टिसे विचार किया जावे तब जो कर्ता है वही भोक्ता है । क्षणिकवादी बौद्ध कर्ता और भोक्तामें सर्वथा भेद मानते हैं । उनका कहना है कि जो प्रथम क्षण था वह दूसरे क्षणमें नहीं है क्योंकि परिणमन सर्वदा बदलता रहता है । बौद्धोंका यह कहना सर्वथा सगत नहीं है क्योंकि वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तथा ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी होता है । कहा भी है—

नित्य तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिक कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत ॥५६॥ (आप्तमीमांसा)

यही जो प्रत्यभिज्ञान है वह सर्वथा अनित्यके व्यामोहको दूर करता है । यदि वस्तु

सर्वथा क्षणिक मानी जावे तो 'यह वही देवदत्त है जिसे पहले देखा था' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता ॥२०५॥

आगे इस क्षणिकवादका युक्तिके द्वारा निराकरण करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

वृत्त्यशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्य करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०६॥

अर्थ—वृत्त्यशोंके सर्वथा भिन्न होनेसे वृत्तिमान्के नाशकी कल्पना कर अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा एकान्त सुशोभित न हो ।

भावार्थ—प्रतिसमय जो पदार्थोंकी अवस्था होती है उसे वृत्त्यंश कहते हैं। उनको सर्वथा भिन्न मानकर वृत्तिमान् पदार्थके नाशकी कल्पना द्वारा अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा जो एकान्त है सो सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि पर्यायके नाशसे यदि पर्यायीका नाश माना जावे तो जिसने हिंसाका अभिप्राय किया वह तो क्षणिकपनसे नष्ट हो गया और जिस चित्ने हिंसाका अभिप्राय नहीं किया वही घात करनेवाला हुआ और जिसने घात किया वह नष्ट हो गया और इस हिंसाकर्मसे जिसे बन्ध हुआ वह भिन्न है। तथा वह चित् जो बन्ध अवस्था-को प्राप्त हुआ था वह क्षणिकपनसे नष्ट हो गया। अतः अन्य चित्की ही मुक्ति हुई, इत्यादि अनेक दोषोंका इस पक्षमे सद्भाव है, इसलिये क्षणिकपक्ष हेय है ॥२०६॥

अब अनेकान्तद्वारा क्षणिकवादका निषेध करते हैं—

केहिचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सोचिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
मो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठि अणारिहदो ॥३४८॥
(चतुष्कम्)

अर्थ—क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोके द्वारा विनाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंके द्वारा विनाशको प्राप्त नहीं होता, इसलिये वही जीव करता अथवा अन्य जीव करता है, ऐसा एकान्त नहीं है। क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे

नाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंसे नाशको प्राप्त नहीं होता, इसलिये वही जीव भोगता है या अन्य जीव भोगता है, ऐसा एकान्त नहीं है। जो जीव करता है वही नहीं भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बाह्य जानना चाहिये। इसी तरह अन्य जीव करता है और अन्य जीव भोगता है, यह जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बहिर्भूत जानना चाहिये।

विशेषार्थ—क्योंकि प्रत्येक समय सभवते हुए अगुरुलघुगुणके परिणामद्वारा जीव क्षणिक है और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुणके द्वारा नित्य है, इसलिये जीव कितनी ही पर्यायोंके द्वारा नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोके द्वारा नष्ट नहीं होता है। इस तरह जीवका स्वभाव दो स्वभाववाला है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो करता है वही भोगता है और अन्य भी भोगता है। जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य भी करता है, ऐसा एकान्त नहीं है। पर्यायदृष्टिसे जिसने कार्य किया था वह पर्याय तो भोगनेके समय नहीं रही, अतः यह कहना असंगत नहीं कि करनेवाला अन्य था और भोगनेवाला अन्य है। और जब द्रव्यदृष्टिसे देखते है तब जो जीव करनेके समय था वही तो भोगनेके समय द्रव्यरूपसे नित्य है। अतः जो करता है वही भोगता है, ऐसा माननेमे कोई आपत्ति नही, क्योंकि जीव नामक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। इसी अभिप्रायको लेकर आचार्य महाराजका कहना है कि जो भोगता है वही जीव करता है अथवा अन्य ही करता है ऐसा एकान्त नहीं है। अनेकान्तसे ऐसी वस्तुव्यवस्था होनेपर भी बौद्धसिद्धान्तीका कहना है कि जो वर्तमान क्षणमे है, उसीमे परमार्थसत्त्वकी अपेक्षा वस्तुत्व है अर्थात् वही वस्तु है। इस प्रकार वस्तुके अशमे भी वस्तुपनका आरोपकर शुद्धनयके लाभसे ऋजुसूत्रनयके एकान्तमे स्थिर होकर 'जो जीव करता है वही नही भोगता है, अन्य जीव करता है और अन्य भोगता है' ऐसा अवलोकन करता है, उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये। वृत्तिमान पदार्थके जो वृत्तिरूप अश है उनमे क्षणिकपन होनेपर भी वृत्तिमान् जो चैतन्यचमत्कार है उसका टङ्कोत्कीर्णरूपसे ही अन्तरङ्गमे प्रतिभास होता रहता है ॥३४५-३४८॥

अब इसी अर्थको कलशामे दिखाते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकै
काळोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परै ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः [1]शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०७॥

अर्थ—सर्वथा शुद्ध आत्माकी इच्छा करनेवाले अज्ञानी बौद्धोंने अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर तथा कालकी उपाधिके बलसे उस आत्मामें भी अधिक अशुद्धता आती है ऐसा मान-

१, शुद्धर्जूसूत्रे रतैः इत्यपि पाठ ।

कर शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे प्रेरित हो चैतन्य क्षणिक ही है ऐसी कल्पना की है। सो जिस प्रकार सूत्ररहित केवल मोतियोंको देखनेवाले मनुष्य जिसप्रकार हारको छोड देते है अर्थात् उनकी दृष्टिमें मोती ही आते है, हार नहीं, उसी प्रकार आश्चर्य है कि उन बौद्धोंने इस आत्माको छोड़ दिया है। अर्थात् उनकी दृष्टिमे आत्माकी शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत समयमात्र-व्यापी पर्याय ही आती है, सर्वपर्यायोंमें अन्वयरूपसे व्याप्त रहनेवाला आत्मा नहीं आता।

भावार्थ—आत्माको सम्पूर्णरूपसे शुद्ध अर्थात् परनिरपेक्ष माननेके इच्छुक बौद्धोंने विचार किया कि यदि आत्माको नित्य माना जावे तो उसमे कालकी अपेक्षा आती है, इसलिये कालकी उपाधिके बलसे उसमे अधिक अशुद्धता आ जावेगी और ऐसी अशुद्धता आत्मातिरिक्त द्रव्योमे भी पाई जाती है। अतः अतिव्याप्ति दोष आवेगा, इस भयसे उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान पर्याय है उतना ही क्षणिक चैतन्य है, ऐसी कल्पना की है। इस कल्पनासे उन्होंने मात्र पर्यायोको तो ग्रहण किया है परन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत जो आत्मा है उसे छोड दिया है। जिस प्रकार अनेक मोतियोका एक सूत्रमे गुम्फनकर हार बनाया जाता है, यहाँ जो मनुष्य केवल मोतियोंको देखते है, सूत्रको नहीं देखते, वे हारके लाभसे वञ्चित रहते है क्योंकि सूत्रके विना केवल मोतियोंसे हारकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य आत्माकी समय-समयव्यापी पर्यायोको तो देखते है परन्तु उन सब पर्यायोमे अनुस्यूत रहनेवाले द्रव्यको नहीं देखते वे आत्मासे वञ्चित है। दृश्यमान पुद्गल-द्रव्यके समान आत्मा भी द्रव्य और पर्यायरूप ही प्रत्येक ज्ञानी जीवके अनुभवमे आ रहा है, फिर भी बौद्धोंकी दृष्टि इस परमार्थसत्यकी ओर नहीं जाती। अतएव आचार्यने उन्हें 'अन्धक' और 'पृथुक' (बालक-अज्ञानी) जैसे शब्दोंसे निर्दिष्ट किया है। तथा प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वरूपका अपलाप करनेके कारण 'अहो' शब्दके द्वारा आश्चर्य प्रकट किया है ॥२०७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥२०८॥

अर्थ—कर्ता और भोक्तामें युक्तिके वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, जो कर्ता है वह भोक्ता होवे अथवा न होवे, मात्र वस्तुका ही विचार किया जावे, चतुर मनुष्योंके द्वारा सूतमें गुम्फित मणियोंकी मालाके समान जो कहीं भेदी नहीं जा सकती, ऐसी ज्ञानी मनुष्योके द्वारा आत्मामें गुम्फित यह एक चैतन्यरूप चिन्तामणिरत्नोंकी माला ही मेरे सब ओर सुशोभित हो।

भावार्थ—वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। आत्मा भी वस्तु है, अतः वह भी द्रव्यपर्याय-स्वरूप है। जब द्रव्यकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वही भोक्ता है, यह विकल्प आता है और जब पर्यायकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वह

भोक्ता नहीं है, ऐसा विकल्प आता है। आचार्य कहते हैं कि नयविवक्षासे वस्तु जैसी है वैसी रहे, उस विकल्पमें न पड़कर मात्र वस्तुका चिन्तन करना चाहिये। जिस प्रकार चतुर मनुष्योंके द्वारा सूतमें पिरोई हुई मणियोंकी माला भेदरूप न होकर अभेदरूपसे एक माला ही मानी जाती है उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्योंके द्वारा आत्मामें अनुभूत जो चैतन्यगुणरूप चिन्तामणिरत्नोंकी माला है वह भेदरूप न होकर अभेदरूप एक चेतनद्रव्य ही है। आचार्य इच्छा प्रकट करते है कि यह एक अखण्ड चेतनद्रव्य ही मेरे लिये उपलब्ध हो अर्थात् तथाभूत ही मेरी परिणति हो ॥२०८॥

अब व्यवहार और निश्चयदृष्टिसे कर्ता-कर्मका प्रतिपादन करनेके लिये कलश कहते हैं—

रथोद्धताछन्द

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ-कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ-कर्म च सदैकमिष्यते ॥२०९॥

अर्थ—केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते है। यदि निश्चयनयसे वस्तुका विचार किया जाता है तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते है।

भावार्थ—पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहारनय भेदको विषय करता है और द्रव्याश्रित होनेसे निश्चयनय अभेदको विषय करता है। इसलिये व्यवहारनयकी दृष्टिसे जब निरूपण होता है तब कर्ता और कर्म पृथक्-पृथक् कहे जाते है, जैसे कुलाल घटका कर्ता है। और निश्चयनयकी दृष्टिसे जब कथन होता है तब कर्ता और कर्म एक ही कहे जाते हैं, जैसे मिट्टी घटका कर्ता है ॥२०९॥

आगे इसी कथनको गाथाओंमें प्रकट करते हैं—

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥
(सप्तकम्)

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कटक, केयूर आदि आभूषणोंको बनाता है परन्तु वह कारीगर उन कटक, केयूरादि आभूषणरूप नहीं हो जाता, वैसे ही जीव भी ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंको करता है परन्तु उन कर्मोंरूप नहीं हो जाता।

जिस प्रकार शिल्पकार हथौड़ा, संडासी आदि करणोंके द्वारा आभूषणोको बनाता है किन्तु उन करणोंरूप नहीं परिणमता है। इसी प्रकार जीव मनवचनकायके व्यापाररूप करणोंके द्वारा पुद्गलकर्मको करता है किन्तु उन करणोंरूप नहीं हो जाता है।

जिस तरह शिल्पी हथौड़ा आदि करणोंको ग्रहण करता है किन्तु उन करणों स्वरूप नहीं हो जाता। उसी तरह जीव भी मनवचनकायके व्यापाररूप करणोंको ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नहीं हो जाता है।

जैसे सुनार उन आभूषणोंके फलस्वरूप ग्राम, धन आदि फलको भोगता है किन्तु उस फलस्वरूप नहीं होता है। वैसे ही यह जीव साता-असाता आदि कर्मोंके उदयसे प्राप्त सुख-दुःखादिको भोगता है परन्तु तन्मय नहीं हो जाता है।

इस प्रकार व्यवहारनयका सिद्धान्त सक्षेपसे कहा गया। अब निश्चयनयके सिद्धान्तको सुनो, जो अपने परिणामसे किया जाता है।

जैसे शिल्पी आभूषण बनानेके लिये चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है। वैसे ही जीव भी अपने परिणामस्वरूप चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है, उससे अन्य नहीं होता।

और जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है और उस दुःखसे वह अभिन्न रहता है। वैसे ही अपने परिणाम स्वरूप चेष्टाको करता हुआ जीव भी दुःखी होता है और उस दुःखसे अभिन्न रहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णकार आदि शिल्पी कुण्डलादि परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यात्मक करणोंके द्वारा करता है, परद्रव्यात्मक हथौड़ा आदि करणोंको ग्रहण करता है और उन कुण्डलादि आभूषणोंके बनानेसे जो ग्राम-धन आदि फल मिलता है उसको भोगता है परन्तु वह अनेक द्रव्यरूप होनेके कारण उन करणादि पर-द्रव्योंसे भिन्न ही है और इसीसे तन्मय नहीं होता। अतएव वहाँपर निमित्त-नैमित्तिकभाव

मात्रसे ही कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यका व्यवहार होता है। उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पापादिस्वरूप पुद्गलपरिणामात्मक कर्मको करता है, पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप काय, वचन और मनरूप करणोंके द्वारा करता है, पुद्गलपरिणामात्मक काय, वचन, और मनरूप करणोंको ग्रहण करता है और पुद्गलद्रव्यात्मक पुण्यपापसे जन्य सुख-दुःखस्वरूप पुद्गल-कर्मफलको भोगता है, परन्तु अनेक द्रव्यपनसे उनसे अन्य है, इसीसे तन्मय नहीं होता, अतएव उनमें निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रसे ही कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यका व्यवहार होता है।

और जिस प्रकार कार्य करनेकी इच्छा करनेवाला वही शिल्पी चेष्टाके अनुकूल आत्म-परिणामरूप कर्मको करता है, और उस चेष्टाके अनुरूप सुख-दुःख लक्षण आत्मपरिणामात्मक जो फल है उसको भोगता है, यहाँ चेष्टा करनेवाला शिल्पी उस चेष्टासे भिन्नद्रव्य नही, किन्तु वह चेष्टा उसीका व्यापार है, इसलिये उससे तन्मय है। अतएव उन्हींमे परिणाम-परिणामी-भावसे कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यपनका निश्चय है। उसी प्रकार कार्यकी इच्छा करनेवाला आत्मा भी चेष्टास्वरूप आत्मपरिणामात्मक कर्मको करता है और दुःखरूप आत्मपरिणा-मात्मक चेष्टानुरूप कर्मफलको भोगता है तथा उस चेष्टासे एक द्रव्य होनेके कारण आत्मा भिन्न द्रव्य नहीं है। अतएव उससे तन्मय हो जाता है। इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे उन्हींमे कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यपनका निश्चय है ॥३४९-३५५॥

अब यही भाव कलशामे दिखाते है—

नर्दटकछन्द

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत ॥२१०॥

अर्थ—निश्चयसे परिणाम ही कर्म है और वह परिणाम दूसरेका नहीं है किन्तु परि-णामीका ही है। जो कर्म है वह कर्ताके बिना नहीं होता और वस्तुकी स्थिति एक अवस्थारूप नहीं रहती, इसलिये वस्तुका कर्ता वही वस्तु है।

भावार्थ—निश्चयनयसे जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और उसका जो परिणाम है वह कर्म कहलाता है। वह जो परिणाम है सो अपने आश्रयभूत परिणामी द्रव्यका है, अन्य परिणामी द्रव्यका नहीं है क्योंकि जो जो परिणाम होता है वह अपने अपने उपादानसे तन्मय रहता है। इसीसे वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक माना है। अतएव वस्तु न तो कूटस्थ नित्य ही है और न सर्वथा एकक्षणस्थायी क्षणिक ही है। अपने परिणामरूप कर्मका आप ही स्वयं कर्ता है, यह निश्चय सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनयसे कर्तृ-कर्मभाव एक ही द्रव्यमें होता है ॥२१०॥

पृथ्वीछन्द

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्ति स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यत सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुल किमिह मोहित क्लिश्यते ॥२११॥

अर्थ—यद्यपि वस्तुकी स्वयं प्रकट होनेवाली अनन्त शक्तियाँ बाहर लोट रही हैं अर्थात् यह स्वय अनुभवमे आ रहा है कि वस्तु अनन्त शक्तियोंका भण्डार है तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नहीं करती है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु अपने अपने स्वभावमे नियत मानी जाती है। जब सब वस्तुएँ अपने अपने स्वभावमे नियत हैं तब इस संसारमें अज्ञानी जीव वस्तुको उसके स्वभावसे विचलित करनेमे आकुल होता हुआ खेदखिन्न क्यो होता है ?

भावार्थ—वस्तुमे अनन्त शक्तियाँ होती अवश्य हैं। पर उनमे ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी वस्तुके भीतर प्रवेश कर सके, अर्थात् उस रूप हो सके। जबकि ससारकी समस्त वस्तुएँ अपने अपने स्वभावमें नियत हैं अर्थात् अपने स्वभावको छोड़कर अन्य वस्तुके स्वभावको ग्रहण नहीं करतीं तब यह जीव आत्माको अपने स्वभावसे विचलित कर पुद्गलकर्म स्वरूप हो उसके कर्तृत्वका अहंकार क्यों धारण करता है ? जान पडता है कि उसके इस क्लेशका कारण अनादिकालसे साथ लगा हुआ मोह ही है ॥२११॥

रथोद्धताछन्द

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य क किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१२॥

अर्थ—क्योंकि इस ससारमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इसलिये वह वस्तु उसी वस्तुरूप रहती है, यह निश्चय है, फिर बाहर लोटता हुआ भी अन्य पदार्थ अन्य पदार्थका क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ—यहाँ वस्तुका अर्थ द्रव्य है। ससारका प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना चतुष्टय पृथक्-पृथक् लिए हुए है, इसलिये एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप त्रिकालमें नहीं हो सकता। एकद्रव्यका दूसरे द्रव्यमे अत्यन्ताभाव है, यह नियम है। निश्चयकी दृष्टिसे कर्ता वही हो सकता है जो कर्मरूप परिणत हो सके। यदि जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मका कर्ता माना जाय तो जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मरूप परिणमन करना चाहिये, पर ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये जीव और पुद्गलकर्मका परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध होनेपर भी उनमे कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। व्यवहारनय निमित्त-नैमित्तिकभावको ग्रहण करता है, इसलिये उस नयकी दृष्टिसे जीव, पुद्गल-कार्मणवर्गणाओंमें कर्मरूप परिणमन करानेमें निमित्त होनेसे उनका कर्ता होता है और पुद्गलकर्म उसके कार्य होते हैं ॥२१२॥

रथोद्धताछन्द

यस्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुन किंचनापि परिणामिन· स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मत नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१३॥

अर्थ—स्वयं परिणमन करनेवाली अन्य वस्तुका अन्य वस्तु कुछ करती है, यह जो मत है, वह व्यावहारिक दृष्टिसे ही सम्पन्न होनेवाला मत है। निश्चयनयसे इस जगत्में अन्य-वस्तुका अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ स्वय परिणमनशील है। उनके उस परिणमनमें अन्य पदार्थ निमित्त होते है, इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर व्यवहारनय ऐसा कथन करता है कि अमुक वस्तु अमुक वस्तुका कर्ता है। परन्तु जब निश्चयनयसे विचार होता है तब एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप नहीं होती, इसलिये वह उसका कर्ता नहीं है, यह सिद्धान्त प्रकट होता है। निश्चयनय उपादानप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर कथन करता है ॥२१३॥

आगे इसी कथनको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते है—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ ।
तह सजओ दु ण परस्स सजओ सजओ सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि ।
तह दसण दु ण परस्स दंसण दंसण त तु ॥३५९॥
एव तु णिच्छयणयस्स भासिय णाणदसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्व सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्व जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्व सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्व सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्व विजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६३॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण ।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ।।३६५।।

अर्थ—जैसे सेटिका (श्वेतिका) सफेदी करनेवाली कलई-चूना अथवा खड़ियामिट्टी आदि सफेद पोतनी भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है अर्थात् भित्ति आदिको सफेद करनेसे सेटिका सेटिका नहीं है, किन्तु सेटिका स्वय शुक्लगुणविशिष्ट सेटिका है। वैसे ही ज्ञायक जो आत्मा है वह स्वकीय स्वरूपसे भिन्न परपदार्थोंको जाननेसे ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वय ज्ञायक है।

जिस प्रकार सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है किन्तु सेटिका स्वय सेटिका है उसी प्रकार दर्शक जो आत्मा है वह परके अवलोकनसे दर्शक नहीं है किन्तु स्वयं दर्शक है।

जिस तरह सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है उसी तरह सयत जो आत्मा है सो परपदार्थके त्यागसे सयत नहीं है किन्तु स्वयं ही संयत है—सयमी है।

जैसे सेटिकापर वस्तुके सफेद करनेसे सेटिका नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है वैसे ही परद्रव्यके श्रद्धानसे दर्शन नहीं है किन्तु दर्शन स्वय ही दर्शन है।

इस प्रकारसे निश्चयनयका ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें वक्तव्य है। अब इस विषयमे व्यवहारनयका जो वक्तव्य है, उसे सक्षेपसे कहते हैं, सो सुनो।

जैसे सेटिका अपने स्वभावसे ही भित्ति आदि परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभावसे परद्रव्यको जानता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह जीव भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका अवलोकन करता है।

जिस प्रकार सेटिका अपने स्वभावसे ही परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्योका त्याग करता है अर्थात् परद्रव्योंका त्यागकर सयत होता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें व्यवहारनयका जो मत है वह कहा गया। इसी पद्धतिसे अन्य पर्यायोंके विषयमें भी व्यवहारनयका निर्णय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ सेटिका श्वेतगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और उसके व्यवहारसे सफेद करने योग्य जो भित्ति आदिक हैं वह परद्रव्य है। अब यहाँपर इसीका विचार करते हैं—

सफेद करनेवाली जो सेटिका है वह सफेद करनेके योग्य भित्ति आदि परद्रव्यकी है या नहीं है ? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतिका इन उभय तत्त्वोंकी मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदिकी है तो ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका होता है वह वही होता है अर्थात् उसी रूप होता है जैसे ज्ञान आत्माका है तो वह आत्मा ही होता है। इस सिद्धान्तके रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है ऐसा माना जाय तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिसे पृथक् कोई द्रव्य नहीं रहेगा और ऐसा होता नहीं, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका पहले ही निषेध कर चुके है। अतएव सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है।

अब फिर आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है ? इस आशङ्काका यह उत्तर है कि सेटिका सेटिकाकी ही है। इसपर पुनः आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन-सी है, जिसकी कि यह सेटिका है ? इसका उत्तर यह है कि सेटिका से अन्य सेटिका नहीं है किन्तु आप ही मे स्व और आप ही में स्वामित्व अंश मानकर व्यवहारकी उपपत्ति कर लेनी चाहिये। तब कोई पुनः पूछता है कि यहाँ स्व और स्वामि अंशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? उसका उत्तर देते है कि कुछ भी नहीं। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है किन्तु सेटिका सेटिका ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे प्रतिफलित होनेवाले दार्ष्टान्तिक अर्थको जान लेना चाहिये।

यहाँपर जो चेतयिता है वह ज्ञानगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे पुद्गलादिक परद्रव्य उसके ज्ञेय हैं। अब यहाँपर ज्ञायक जो चेतयिता है वह ज्ञेयरूप पुद्गलादिक परद्रव्यका है अथवा नहीं है ? इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक इन उभय तत्त्वोंके सम्बन्ध पर विचार किया जाता है—यदि ऐसा माना जावे कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मरूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिताको यदि पुद्गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्गलादिरूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा अर्थात् चेतयिता अन्यरूप होकर अपने अस्तित्वको ही समाप्त कर देगा, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका पहले ही निषेध कर आये है, अतः द्रव्यका उच्छेद हो नहीं सकता। तब यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका नहीं है। इस स्थितिमे यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है तो किसका है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। इसपर पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है ? तो उसका उत्तर है कि चेतयितासे अन्य चेतयिता नहीं है किन्तु आप ही स्व और आप ही स्वामी है। इस प्रकार आप ही में अंश-अंशीकी कल्पनासे

ऐसा व्यवहार होता है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंशके इस व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ? तो उसका उत्तर है कि कुछ भी साध्य नहीं है। तब यही निश्चय हुआ कि ज्ञायक जो चेतयिता है वह किसीका नहीं है किन्तु ज्ञायक ज्ञायकका ही अथवा चेतयिता चेतयिताका ही है अर्थात् ज्ञायक अथवा चेतयिता है—वह स्वरूपसे ही ज्ञायक अथवा चेतयिता है।

अब यही पद्धति आत्माके दर्शक होनेके विषयमें ग्राह्य है जैसे—

यहाँ पर सेटिका श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला पुद्गलद्रव्य है, और व्यवहारसे सफेद करने योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य हैं। अब यहाँ सफेद करनेवाली सेटिका, सफेद करनेके योग्य जो भित्ति आदि परद्रव्य है उनकी है अथवा नहीं है ? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतक इन दोनों तत्त्वोंके पारस्परिक सम्बन्धकी मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी है ऐसा माना जावे तो 'जो जिसका होता है, वह उसीरूप होता है, जैसे कि आत्माका ज्ञान आत्मारूप ही है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए यदि सेटिकाको भित्ति आदिकी मानी जावे तो उसे भित्ति आदिरूप ही होना चाहिए। और ऐसा होनेपर स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगी, परन्तु द्रव्यका उच्छेद होता नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तर सक्रमणका अर्थात् एकद्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप होनेका निषेध पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है ? इसका उत्तर है कि सेटिका सेटिकाकी है। इस स्थितिमें पुनः आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है, जिसकी कि यह सेटिका है ? इसका उत्तर यह है कि अन्य सेटिका नहीं है किन्तु स्व और स्वामीके अंश ही अन्य हैं अर्थात् आप ही स्व है और आप ही अपना स्वामी है। जैसे देवदत्तके एक ही पुत्र था, उससे किसीने पूछा—आपका बड़ा पुत्र कौन है ? उसने कहा, यही। मध्यम कौन है ? उसने कहा—यही। और जघन्य कौन है ? यही। उसी प्रकार आपमे ही अंश-अंशीकी कल्पनासे इस व्यवहारकी उपपत्ति कर लेना चाहिये। कोई पूछता है कि इस स्व-स्वामी अंशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? इसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है किन्तु सेटिका सेटिका की ही है। जैसा यह दृष्टान्त है वैसा ही दृष्टान्तसे प्रतिफलित होनेवाला दार्ष्टान्तिक है जैसे—

यहाँ चेतयिता दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे उसका दृश्य अर्थात् देखनेके योग्य पुद्गलादि परद्रव्य है। अब यहाँ दर्शक जो चेतयिता है वह दृश्यरूप पुद्गलादि परद्रव्यका है अथवा नहीं है ? इस प्रकार दृश्य और दर्शक इन दोनों तत्त्वोंके सम्बन्धकी मीमांसा की जाती है—

यदि चेतयिता अर्थात् दर्शक आत्मा पुद्गलादिकका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा ही होता है' इस प्रकारके तत्त्व

सम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिताको यदि पुद्गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्गलादि रूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर चेतयिताका स्वद्रव्योच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद कभी होता नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तर सक्रमणका पहले ही निषेध किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है तो किसका है? इसका उत्तर है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है? तो उसका उत्तर है कि चेतयितासे अन्य चेतयिता नहीं है किन्तु स्व-स्वामी अश ही अन्य है अर्थात् आप ही स्व है और आप ही स्वामी है, इस प्रकारकी कल्पनासे स्व-स्वामी व्यवहारकी उपपत्ति हो जाती है। यहाँ कोई पुनः पूछता है कि स्व-स्वामी अंशके व्यवहारसे साध्य क्या है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? तो उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं है। इससे यह निश्चय हुआ कि दर्शक आत्मा किसीका नहीं है किन्तु दर्शक दर्शकका ही है। चेतयिता तात्त्विकदृष्टिसे किसीका दर्शक नहीं है किन्तु स्वयमेव दर्शक है ऐसा निश्चय सिद्धान्त है। जिस प्रकार काष्ठादि पदार्थोंको जलानेसे अग्नि दाहक है सो नहीं, किन्तु स्वयमेव अग्नि दाहक है। इसी प्रकार घटपटादि पदार्थोंके देखनेसे आत्मा दर्शक है सो नहीं, किन्तु आत्मा परनिरपेक्ष स्वय दर्शक है।

यही पद्धति चारित्रगुणके विषयमे स्वीकार्य है। जैसे—

यहाँ सेटिका श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे श्वेत करने योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य है। यहाँ सफेद करनेवाली सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी है अथवा नही? इसप्रकार श्वैत्य और श्वेतक दो पदार्थोंके सम्बन्धकी मीमासा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी मानी जावे ता 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होकर रहता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा रूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसी होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदि रूप होकर अपनी सत्ता नष्ट कर देगी। परन्तु द्रव्यका उच्छेद हो नहीं सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका निषेध पहले किया जा चुका है। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है। तब आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है? इसका उत्तर है कि सेटिकाकी ही सेटिका है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है जिसकी कि सेटिका होती है? इसका उत्तर है कि सेटिकासे अन्य सेटिका नहीं है किन्तु स्व-स्वामी अश ही अन्य है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंशके व्यवहारसे क्या साध्य है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? उसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है, किन्तु सेटिका सेटिका ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इससे प्रतिफलित होनेवाला दार्ष्टान्तिक है। जैसे—

यहाँपर चेतयिता जो आत्मद्रव्य है सो ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण और परद्रव्यके अपो-

हनरूप चारित्रगुणको धारण करनेवाला है तथा उसी आत्मद्रव्यके अपोह्यरूप पुद्गलादि परद्रव्य हैं। अब अपोहक अर्थात् परपदार्थका त्याग करनेवाला चेतयिता अपोह्य अर्थात् त्याग करने योग्य पुद्गलादिक परद्रव्यका है अथवा नहीं ? इस प्रकार अपोह्य और अपोहक इन दो तत्त्वोंके सम्बन्धकी मीमासा की जाती है।

यदि चेतयिता पुद्गलादिकका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मारूप होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिता पुद्गलादिकका होता हुआ पुद्गलादिरूप ही हो जावेगा और ऐसा होने पर चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिरूप होकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देगा, सो द्रव्यका उच्छेद कभी हो नहीं सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर-संक्रमणका निषेध पहले कर आये हैं। इमसे यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है। अब यह आशका होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है तो फिर किसका है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका वह चेतयिता होता है ? इसका उत्तर यह है कि चेतयितासे अन्य कोई दूसरा चेतयिता नहीं है किन्तु स्व-स्वामीके अश ही अन्य है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अशके व्यवहार-से क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? उसका उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि चेतयिता किसीका अपोहक नहीं है, अपोहक अपोहक ही है। इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक और अपोह्य-अपोहक सम्बन्धका विचार निश्चय-नयकी अपेक्षा किया। अब व्यवहारनयकी अपेक्षा इन सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है—

जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली सेटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्यरूप नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपनेरूप नहीं परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो कि सेटिकानिमित्तक अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वय पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नही परिणमता है और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता है, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्-गलादि परद्रव्यको, जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे जानता है, ऐसा व्यवहार होता है।

इसी प्रकार दर्शनगुणके साथ योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परि-पूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वय भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावसे नहीं परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो कि सेटिकाके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो

रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको, जो कि चेतयिताके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे देखता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसी प्रकार चारित्रगुणके विषयमे भी यही योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वय भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावरूप नही परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नही परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो कि सेटिकाके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परपदार्थके अपोहन—त्यागरूप स्वभावसे चेतयिता भी स्वय पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे जायमान अपने ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परद्रव्यके अपोहन—त्यागरूप स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभावसे अपोहित करता है—छोड़ता है, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार यह आत्माके ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायोंके निश्चय तथा व्यवहारका प्रकार है। इसी तरह अन्य सभी पर्यायोंके निश्चय और व्यवहारका प्रकार जानना चाहिये।

भावार्थ—जानना, देखना, श्रद्धान करना, और त्याग करना ये सब आत्माके चैतन्यगुणके परिणाम हैं। निश्चयनयसे विचार करनेपर आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक नही है, परद्रव्यका दर्शक नहीं है, परद्रव्यका श्रद्धायक नहीं है और परद्रव्यका अपोहक नही है। उसके ये सब भाव आप ही हैं क्योंकि आत्माका परिणमन आत्माश्रित है और परद्रव्यका परिणमन पराश्रित है। 'सेटिका भित्ति आदिको सफेद करती है' यहाँ विचार करनेपर भित्तिका परिणमन भित्तिरूप हो रहा है और सेटिकाका परिणमन सेटिकारूप हो रहा है अर्थात भित्ति भित्तिरूप ही रहती है और सेटिका सेटिकारूप ही रहती है। परन्तु व्यवहारनयसे विचार करनेपर आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक है, परद्रव्यका दर्शक है, परद्रव्यका श्रद्धायक है और परद्रव्यका अपोहक है, क्योंकि परपदार्थका जो ज्ञेय, दृश्य, श्रद्धेय और अपोह्यरूप परिणाम है वह आत्माके ज्ञायक, दर्शक, श्रद्धायक और अपोहक भावके निमित्तसे जायमान है और आत्मामें जो ज्ञायकभाव आदिरूप परिणाम है वह परपदार्थके ज्ञेयभाव आदिरूप परिणामके निमित्तसे उत्पद्यमान है। 'सेटिका भित्तिको सफेद करती है' यही भित्तिका जो श्वेतगुणरूप परिणाम है वह सेटिकाके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भावकी

प्रधानतासे तथोक्त व्यवहार होता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारकी पद्धतिको यथार्थरूपसे जानकर वस्तुस्वरूपका श्रद्धान करना चाहिये ॥३५६-३६५

अब यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१४॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यके निरूपणमे जिसने बुद्धि लगाई है तथा जो सम्यक् प्रकारसे तत्त्वका अनुभव कर रहा है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमे प्राप्त दूसरा कुछ भी द्रव्य कभी भी प्रतिभासित नहीं होता। 'ज्ञान ज्ञेयको जानता है' यह जो कहा जाता है सो यह ज्ञानके शुद्धस्वभावका उदय है। ये लोक अन्य द्रव्यके ग्रहणसे आकुलित बुद्धि होते हुए तत्त्वसे क्यों चिगते है ?

भावार्थ—जब शुद्ध निश्चयनयसे तत्त्वका यथार्थ विचार किया जाता है तब यह अनुभव होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कभी प्रवेश नहीं करता है। ज्ञान ज्ञेयको जानता है, ऐसा जो व्यवहार होता है वहाँ ज्ञानके भीतर ज्ञेयका प्रवेश नहीं है और ज्ञेयके भीतर ज्ञानका प्रवेश नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय यथास्थान अपने-अपने स्वभावरूप परिणम रहे हैं फिर भी ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ऐसा प्रतिभास होता है कि ज्ञानमें ज्ञेय आ रहा है। जब यह वस्तुस्थिति है तब संसारके ये प्राणी अन्य द्रव्यकी प्राप्तिके लिये व्यग्र होते हुए तत्त्वसे विचलित क्यों होते है ? उनकी इस अज्ञानमूलक प्रवृत्तिपर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हैं ॥ २१४ ॥

मन्दाक्रान्ताछन्द

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१५॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्य जो चेतन है उसका स्वभावरूप परिणमन होता है। उससे अतिरिक्त स्वभावका शेष क्या रह जाता है अर्थात् कुछ नहीं। यदि यह कहा जाय कि ज्ञेयरूप अन्य द्रव्य चेतनमें प्रतिफलित होते है तो क्या इससे वे उसके स्वभाव हो गये ? चाँदनीका धवल रूप पृथिवीको नहला देता है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनीकी हो जाती है ? अर्थात् नहीं। इसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परन्तु ज्ञेय कभी ज्ञानका नहीं होता।

भावार्थ—यहाँ शुद्धद्रव्यसे प्रयोजन आत्मद्रव्यसे है उसका स्वरस अर्थात् निज स्वभाव चैतन्य है। वह आत्मद्रव्य सदा निज स्वभावरूप परिणमन कर रहा है। इस परिणमनसे

शेष क्या बच रहता है जो उस स्वभावका कहा जावे ? यदि अन्य द्रव्य आत्मामे होते भी हैं अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छताके कारण उसमे प्रतिफलित होते भी है तो इससे वे अन्य द्रव्य आत्माके स्वभाव नहीं हो सकते। जिस प्रकार चाँदनी पृथिवीको सफेद कर देती है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनीको हो जाती है ? नही, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है तो इससे क्या ज्ञेय ज्ञानका हो जाता है ? नहीं, सदा ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है। यह प्रकरण निश्चयनयसे ज्ञायक और ज्ञेयके सम्बन्धका है। यहाँ आचार्यने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि निश्चयसे ज्ञायक आत्मा स्वयं ही ज्ञायक है, परद्रव्यको जाननेके कारण ज्ञायक नहीं है क्योंकि परद्रव्य जो पुद्गलादि द्रव्य है वे कभी आत्मद्रव्यरूप नहीं परिणमते। इसमें दृष्टान्त चाँदनीका दिया है। जिस प्रकार प्रकाशित करने मात्रसे पृथिवी चाँदनीकी नही हो जाती, उसी प्रकार जानने मात्रसे ज्ञेय ज्ञानके नहीं हो जाते ॥२१५॥

अब ज्ञानमे रागद्वेषका उदय कहां तक रहता है, यह दिखानेके लिये कलश कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावज्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ॥२१६॥

अर्थ—राग और द्वेष ये दोनों तब तक उदित होते रहते हैं जब तक कि यह ज्ञान ज्ञान नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयपनको नही प्राप्त हो जाता। इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि अज्ञानभावको दूर करनेवाला यह ज्ञान ज्ञान ही रहे जिससे कि भाव और अभावको अर्थात् चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्ययको दूर करता हुआ आत्मा पूर्णस्वभावसे युक्त हो जावे।

भावार्थ—ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है इस प्रकारका समिश्रण मिथ्यात्व दशामें ही होता है। और जब तक यह मिथ्यात्व दशा रहती है तब तक रागद्वेष नियमसे उत्पन्न होते रहते हैं। मिथ्यात्वके कारण यह जीव परपदार्थका सुख-दुःखका कारण मानता है, इसलिये उनकी इष्टानिष्ट परिणतिमे रागद्वेषका होना सुलभ है। अतः आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते है कि ज्ञान ज्ञान ही रहे तथा वह 'ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है' इस अज्ञानभावको नष्ट कर दे। जब तक एतादृश ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक आत्मा पूर्णस्वभावको प्राप्त नही होता और जब तक पूर्णस्वभावको प्राप्त नहीं होता तब तक इसका चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय, जन्म-मरण नष्ट नही होता। अतएव आत्माका पूर्णस्वभाव प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका ज्ञानरूप हो जाना आचार्यका अभीष्ट है ॥२१६॥

आगे राग-द्वेष-मोह जीवसे अभिन्न परिणाम है, यह कहते है—

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसयेसु ॥३६६॥

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्त किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥
णाणस्स दसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो अचेतन विषयमें कुछ भी नहीं है, इसलिये चेतयिता उन विषयोंमे क्या घात करे ?

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों अचेतन ज्ञानावरणादि कर्मोंमें कुछ भो नहीं है, इसलिये चेतयिता उन कर्मोंमे क्या घात करे ?

इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो अचेतन कायमें कुछ भी नहीं हैं, इसलिये चेतयिता उस कायमें क्या घात करे ?

जैसा दर्शन, ज्ञान और चारित्रका घात कहा गया है वैसा पुद्गलद्रव्यका कोई भी घात नहीं कहा गया है ।

जीवके जो कोई गुण है वे निश्चयसे परद्रव्योंमें नहीं रहते, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवके विषयोंमे राग नहीं होता ।

राग, द्वेष और मोह ये जीवके ही अनन्य परिणाम हैं । अर्थात् जीवके साथ इनका अनित्य तादात्म्य है । यही कारण है कि शब्दादिक विषयोंमें ये रागादिक नहीं हैं ।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो धर्म जहाँ होता है उस वस्तुके घातनेसे वह धर्म भी घाता जाता है । जैसे प्रदीपके घातसे प्रकाश भी घाता जाता है । उसी तरह जिसमें जो होता है उसका घात होनेपर वह भी घाता जाता है । जैसे प्रकाशका घात होनेपर प्रदीपका भी घात होता है । अर्थात् प्रदीपमें प्रकाश रहता है और प्रकाशमें प्रदीप रहता है, इसलिये एक दूसरेका घात होनेपर दोनों घाते जाते हैं । परन्तु जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होनेपर नहीं घाता जाता, जैसे घटका घात होनेपर घटमें रखा हुआ दीपक नहीं घाता जाता । उसी तरह

जो जिसमे नहीं होता वह उसका घात होनेपर नहीं घाता जाता जैसे घटके भीतर स्थित प्रदीपका घात होनेपर घट नहीं घाता जाता। उसी प्रकार आत्माके धर्म जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं वे पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नहीं घाते जाते और न दर्शनज्ञानचारित्रका घात होनेपर भी पुद्गलद्रव्य घाता जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि दर्शनज्ञानचारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं क्योंकि यदि ऐसा न होता तो दर्शनज्ञानचारित्रका घात होनेपर पुद्गल-द्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर दर्शनज्ञानचारित्रका घात दुर्निवार होता, परन्तु ऐसा नहीं है। जिस कारण ऐसा है उस कारण जो जितने कुछ भी जीवके गुण हैं वे सभी परद्रव्योंमें नहीं हैं, इस प्रकार हम सम्यक् देखते हैं। अन्यथा यहाँपर भी जीवके गुणोका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर जीवके गुणोका घात दुर्निवार हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि-के विषयोंमें राग किसी कारणसे होता है ? इसका उत्तर है कि न किसी कारणसे। तब फिर रागकी खान क्या है ? अर्थात् रागकी उत्पत्ति किससे होती है ? इसका उत्तर यह है कि रागद्वेषमोह जीवके ही अज्ञानमय परिणाम हैं, इसलिये वे परद्रव्यादि विषयोमे नहीं होते। अज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिक नही होते। इस प्रकार वे रागद्वेषमोह विषयोंमें न होते हुए सम्यग्दृष्टिके नहीं होते, यह नियम है ॥३६६-३७१॥

अब यही भाव कलशामे दिखाते है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१७॥

अर्थ—निश्चयसे इस आत्मामें अज्ञानभावके कारण ज्ञान ही रागद्वेषरूप परिणत होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर संलग्न दृष्टिसे देखे जानेपर वे रागद्वेष कुछ भी नहीं है। इसलिये प्रकट होते हुए उन रागद्वेषोको सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे—वस्तुके परमार्थस्वरूपका विचार करानेवाली बुद्धिसे नष्ट करे जिससे कि पूर्ण और अविनाशी किरणोंसे युक्त स्वाभाविक ज्ञान-ज्योति प्रकाशमान हो।

भावार्थ—रागद्वेष आत्माकी ही अशुद्ध परिणति है। उसकी उत्पत्तिमें आत्माका अज्ञान-भाव कारण है। जब आत्मतत्त्वके शुद्धस्वरूपपर दृष्टि डालते हैं तब उसमें रागद्वेषकी सत्ता दिखाई नहीं देती अर्थात् परमार्थसे आत्मा रागद्वेषसे रहित है। इसलिये वर्तमानमें जो राग-द्वेष प्रकट हो रहे हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव निजमें परके निमित्तसे जायमान विकारीभाव समझकर नष्ट करनेका पुरुषार्थ करे, क्योंकि राग-द्वेषके नष्ट हो चुकनेपर ही पूर्ण तथा अवि-नाशी केवलज्ञानरूपी ज्योति प्रकट हो सकती है ॥२१७॥

अब रागद्वेषका उत्पादक परद्रव्य नहीं है, यह भाव कलशामें दिखाते हैं—

शालिनीछन्द

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१८॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य कुछ भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सब द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने ही निज स्वभावसे अपने ही भीतर प्रकट होती हुई अत्यन्त सुशोभित होती है ।

भावार्थ—यहाँ उपादानदृष्टिकी प्रमुखतासे कथन है, इसलिये रागद्वेषकी उत्पत्ति बाह्य-पदार्थोंसे न बताकर आत्माके स्वस्वभावसे ही बतलाई है । इसलिये रागद्वेषको नष्ट करनेके लिये अपने अज्ञानभावको ही सर्वप्रथम नष्ट करना चाहिये ॥२१८॥

अब सर्व द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं, यह कहते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अर्थ—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंका उत्पाद नहीं होता, इसलिये सब द्रव्य स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं ।

विशेषार्थ—परद्रव्य जीवके रागादिकोंको उत्पन्न कराता है । ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये क्योंकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य सम्बन्धी गुणोंके उत्पन्न करनेकी असमर्थता है । सब द्रव्योंका अपने स्वभावसे ही उत्पाद होता है, इसी बातको दिखाते हैं—

जैसे मिट्टीका घड़ा बनता है । यहाँ घटरूपसे उत्पन्न होती हुई मिट्टी क्या कुम्भकारके स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है अथवा मिट्टीके स्वभावसे ? यदि कुम्भकारके स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है, ऐसा माना जावे तो घट बनानेके अहंकारसे पूरित पुरुष अधिष्ठित तथा घटनिर्माणमें व्यापृत हाथोंसे युक्त पुरुषका जो शरीर है उसके आकार घट होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावसे अन्य द्रव्यमें परिणामका उत्पाद नहीं देखा जाता । यदि ऐसा है तो यह निश्चित हो गया कि मिट्टीका घटाकार परिणमन कुम्भकारके स्वभावसे नहीं होता, किन्तु मिट्टीके स्वभावसे ही होता है क्योंकि द्रव्यमें परिणामका उत्पाद स्वकीय स्वभावसे ही देखा जाता है । तथा ऐसा होनेपर मिट्टी अपने स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकती । इसलिये घटका उत्पादक कुम्भकार नहीं है किन्तु मिट्टी ही कुम्भकारके स्वभावका स्पर्श न करती हुई स्वकीय स्वभावसे घटरूप उत्पन्न होती है ।

इसी प्रकार सभी द्रव्य स्वकीय परिणामरूप पर्यायसे उत्पन्न होते हैं सो उस तरह उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य क्या निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावसे उत्पन्न होते है या स्वकीय स्वभावसे ? यह आशङ्का होती है। यदि निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावसे उत्पन्न होते है तो उनका वह परिणाम निमित्तभूत परद्रव्यके आकार होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तरके स्वभावसे द्रव्यमे परिणाम नहीं देखा जाता। यदि ऐसा है तो यह निश्चय हुआ कि सर्वद्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु स्वकीय स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि द्रव्यमें जो परिणामका उत्पाद है वह स्वकीय स्वभावसे ही देखा जाता है और ऐसा होनेपर सर्वद्रव्य अपने स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकते, इसलिये निमित्तभूत अन्य द्रव्य उनके परिणामके उत्पादक नहीं है किन्तु सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावका स्पर्श न करते हुए स्वकीय स्वभावसे अपने अपने परिणामरूपसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये हम परद्रव्यको जीवके रागादिक भावोंका उत्पादक नहीं देखते है जिसके लिये कुपित हों अर्थात् क्रोध प्रकट करे।

यहाँ उपादानकारणकी प्रधानतासे कथन किया गया है, इसलिये निमित्तकारणका सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिये ॥३७२॥

अब कहते हैं कि रागादिककी उत्पत्तिमे आत्मा ही अपराधी है, अन्य द्रव्य नहीं—

मालिनीछन्द

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति
कतरदपि परेषा दूषण नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्त यात्वबोधोऽस्मि बोध ॥२१९॥

अर्थ—इस आत्मामें जो रागादिककी उत्पत्ति होती है उसमे परद्रव्यका किञ्चिन्मात्र भी दूषण नहीं है। यह आत्मा स्वयं अपराधी होता है और अपराधके कारण इसका अज्ञान फैलता है, यह बात सबको विदित हो, अतः अज्ञान अस्तको प्राप्त हो जावे, क्योंकि मैं ज्ञान स्वरूप हूँ।

भावार्थ—रागादिककी उत्पत्तिका उपादानकारण आत्मा स्वय है, इसलिये परपदार्थको क्या दोष दिया जाय ? अज्ञानभावके कारण आत्मामे रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि मेरा वह अज्ञानभाव नष्ट हो क्योंकि मैं ज्ञानरूप हूँ। अज्ञानी जीव रागद्वेषकी उत्पत्तिमें परद्व्यको ही निमित्त मानकर उनके ऊपर क्रोध करता है। यह व्यर्थ है क्योंकि रागद्वेषका उपादानकारण अज्ञानी जीव स्वयं है। अतः उनके ऊपर क्रोध करना जलताड़नके सदृश व्यर्थ है। अपने अज्ञानभावको त्यागो, आपसे आप इनका विलय हो जावेगा ॥२१९॥

आगे रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त माननेका निषेध करते हैं—

रथोद्धताछन्द

रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय ॥२२०॥

अर्थ—जो रागकी उत्पत्तिमे परद्रव्यका ही निमित्तपन मानते हैं वे मोहरूपी नदीको नहीं उतर सकते, क्योंकि शुद्धनयका विषयभूत जो आत्मा उसके बोधसे शून्य होनेके कारण वे अन्धबुद्धिवाले है ।

भावार्थ—आत्माके अज्ञानरूप रागादिक परिणाम मोहकर्मके उदयमें होते हैं। जो केवल परद्रव्यकी निमित्तताकी मुख्यतासे ही उनको अस्तित्व मानते हैं वे शुद्धवस्तु स्वरूपके ज्ञानसे रहित अन्धे हैं तथा कभी भी मोह-नदीके पार नहीं जा सकते ॥२२०॥

आगे शब्द, रस, गन्ध आदिक बाह्य पदार्थ रागद्वेषके कारण नहीं हैं, यह दिखाते हैं—

णिदियसथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अह पुणो भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्व सद्दत्तपरिणय तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुम भणिओ किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥

असुहो सुहो व सद्दो ण त भणइ सुणसु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ सोयविषयमागयं सद्दं ॥३७५॥

असुह सुह च रूवं ण त भणइ पिच्छ म ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूव ॥३७६॥

असुहो सुहो व गधो ण तं भणइ जिग्घ म ति सो चेव ।
ण य एव विगिग्गहिउ घाणविसयमागय गध ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय म ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ रसणविसयमागय तु रसं ॥३७८॥

असुहो सुहो व फासो ण त भणइ फुससु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण त भणइ बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउ बुद्धिविसयमागय दव्व ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसम णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सय च बुद्धि सिवमपत्तो ॥३८२॥
(दशकम्)

अर्थ—अनेक प्रकारके जो निन्दा और स्तुतिके वचन है। पुद्गलद्रव्य उन रूप परिणमता है। उन्हें सुनकर 'ये शब्द मुझसे कहे गये है' ऐसा समझकर अज्ञानी जीव रुष्ट होता है तथा संतुष्ट होता है। अर्थात् निन्दाके वचन सुनकर रुष्ट होता है और स्तुतिके वचन सुनकर संतुष्ट होता है।

परन्तु यहाँ पुद्गलद्रव्य ही शब्दरूप परिणत हुआ है। यदि उसका गुण अन्य है अर्थात् तुझसे भिन्न है तो तुझसे कुछ भी नही कहा गया है। तूँ अज्ञानी हुआ क्यों रुष्ट होता है ?

अशुभ और शुभ शब्द तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे सुन, और न श्रोत्रइन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए शब्दको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ रूप तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे देख, और न नेत्रइन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए रूपको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

इसी तरह अशुभ और शुभ गन्ध तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे सूंघ, और न घ्राण इन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए गन्धको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी पद्धतिसे अशुभ और शुभ रस तुझसे नहीं कहता है कि तूँ मुझे चख, और न रसना इन्द्रियके विषयको प्राप्त रसको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी विधिसे अशुभ और शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे स्पर्श कर, और न स्पर्शन इन्द्रियके विषयको प्राप्त हुए स्पर्शको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ गुण तुझसे नही कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए गुणको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

तथा इसी तरह अशुभ और शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

जो परको ग्रहण करनेका मन करता है तथा स्वयं कल्याणकारी बुद्धिको प्राप्त नही हुआ है ऐसा मूढ जीव इस प्रकार जानकर भी उपशमभावको प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्तका हाथ पकड़कर उसे किसी कार्यमें लगाता है उसी प्रकार ये घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपकको हाथमे लेकर 'मुझे प्रकाशित करो' इस तरह कहते हुए अपने आपके प्रकाशनमे उसे प्रेरित नहीं करते और न दीपक भी चुम्बकसे खिंची हुई लोहकी सुईके समान अपने स्थानसे च्युत होकर उन घटपटादि पदार्थोंको प्रकाशित

करनेके लिए आता है क्योंकि वस्तुका स्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा पर भी वस्तुस्वभावके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिये जिस प्रकार दीपक परके सन्निधानमे स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार परके असन्निधानमे भी स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होता हुआ सुन्दर या असुन्दर जो घटपटादि पदार्थ है वह स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपककी किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) करनेके लिए समर्थ नहीं है। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ जो शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण और द्रव्य हैं वे यज्ञदत्तको देवदत्तके समान हाथमे पकड़कर मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे स्पर्श करो और मुझे जानो, इस तरह अपने ज्ञानके लिए आत्माको प्रेरित नहीं करते है, किन्तु वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और वस्तु-स्वभावके द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिये जिसप्रकार आत्मा उन शब्दा-दिकके असन्निधानमे उन्हें जानता है उसी प्रकार उनके सन्निधानमे भी स्वरूपसे ही उन्हे जानता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो शब्दादिक बाह्यपदार्थ है वे स्वरूपसे ही जाननेवाले आत्मामे किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) उत्पन्न करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकते। इस तरह यह आत्मा दीपकके समान परपदार्थके प्रति नित्य ही उदासीन रहता है। यह वस्तुकी स्थिति है तो भी जो रागद्वेष उत्पन्न होते है वह अज्ञान है।

भावार्थ—शुभ-अशुभ शब्द आदिका परिणमन उनके स्वाधीन है, वे आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। फिर भी आत्मामे जो रागद्वेष होता है वह उसका अज्ञान है ॥३७३-३८२॥

आगे यही भाव कलशामें कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादय
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीप प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२१॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाशित करने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे दीपक कुछ भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार पूर्ण, एक, अच्युत तथा शुद्ध ज्ञानकी महिमासे युक्त यह बोद्धा अर्थात् आत्मा, ज्ञानके विषयभूत शब्दादि पदार्थोंसे कुछ भी विक्रियाको प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिये वस्तुस्थितिके ज्ञानसे शून्य बुद्धिवाले ये अज्ञानी जीव रागद्वेषरूप क्यों हो रहे हैं तथा अपनी सहज उदासीनता वीतराग परिणतिको क्यों छोड़ रहे हैं ?

भावार्थ—जिस प्रकार बाह्यपदार्थ दीपकमें कुछ भी विकार करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् पदार्थ अच्छा या बुरा किसी प्रकारका रहे, दीपक उसे मध्यस्थभावसे प्रकाशित ही

करता है, उस पदार्थके निमित्तसे स्वय हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार ज्ञानी जीव अच्छे या बुरे पदार्थोंको जानता मात्र है, उनके निमित्तसे हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता। इस तरह बाह्यपदार्थ ज्ञानी जीवमे कुछ भी विकार उत्पन्न करनेमे समर्थ नहीं हैं। फिर भी वस्तुस्वभावके यथार्थ विचारसे रहित ये अज्ञानी प्राणी शुभ-अशुभ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदिका निमित्त पाकर रागद्वेषसे युक्त होते है तथा अपनी सहज जो उदासीनता है उसे छोड़ देते है, यह आश्चर्यकी बात है ॥२२१॥

अब रागद्वेषसे रहित जीव ही ज्ञानचेतनाको प्राप्त होते है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्य स्वभावस्पृश
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवना ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ॥२२२॥

अर्थ—जो रागद्वेषरूप विभावसे रहित तेजके धारक है, जो नित्य ही स्वभावका स्पर्श करते है, जो अतीत और अनागत सम्बन्धी समस्त कर्मोंसे रहित है तथा जो वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मोदयसे भिन्न हैं ऐसे ज्ञानी जीव, अत्यन्त गाढ़रूपसे धारण किये हुए चारित्रके वैभवके बलसे उस ज्ञानचेतनाको प्राप्त होते है, जो चमकती हुई चैतन्यज्योतिसे तन्मय है तथा जिसने स्वकीय ज्ञानरूप रससे तीनों लोकोंको सींचा है।

भावार्थ—जिनका आत्मतेज रागद्वेषसे रहित है अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकी अवस्थामे अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे जायमान रागादिकके रहते हुए भी जो अपने आत्मतेजको उससे रहित अनुभव करते हैं और आगे चलकर मोहकर्मका अभाव होनेसे परमार्थरूपसे जिनका आत्मतेज रागद्वेषसे रहित हो गया है तथा रागद्वेषसे रहित होनेके लिये जो निरन्तर स्वकीय ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावका स्पर्श करते है अर्थात् सदा ऐसी भावना रखते है कि मेरा स्वभाव पदार्थोंको जानना-देखना मात्र है रागी-द्वेषी होना नही। जो अतीत और अनागत सम्बन्धी कर्मसे रहित है अर्थात् कर्मचेतनासे मुक्त है और वर्तमानमे उदयको प्राप्त कर्मफलसे भिन्न है अर्थात् कर्मफलचेतनासे रहित है ऐसे जीव अतिशय दृढताके साथ धारण किये हुए रागद्वेषकी निवृत्तिरूप चारित्रके विभवकी सामर्थ्यसे अर्थात् यथाख्यातचारित्रके बलसे ज्ञानकी उस समीचीन चेतनाको प्राप्त होते हैं जिसमें एक चैतन्य का चमत्कार ही विद्यमान है। उसीसे जो तन्मय है तथा जिसने स्वकीय केवलज्ञानरूप परिणतिसे समस्त भुवनको व्याप्त किया है अर्थात् लोकालोकको अपना विषय बना लिया है। तात्पर्य यह है कि जिनका रागद्वेष चला जाता है, तथा जो अतीत, अनागत और वर्तमान कर्मोदयसे भिन्न आत्माका अनुभवन करते हैं उन्हीं महापुरुषोंके चारित्रके वैभवका उदय होता है जिसके बलसे वे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे भिन्न ज्ञानचेतनाका अनुभवन

करते हैं तथा उस शुद्ध चेतनाकी ऐसी महती शक्ति है कि जिसमें अखिल लोक एक समयमे प्रतिभासित होने लगता है ॥२२२॥

अब प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचनाका स्वरूप बताते हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेस ।
तत्तो णियत्तए अप्पय तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
कम्म जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाण हवइ चेया ॥३८४॥
ज सुहमसुहमुदिण्ण संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
त दोस जो चेयइ सो खलु आलोयण चेया ॥३८५॥
णिच्च पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—पूर्वकालमे किये हुए अनेक विस्तार विशेषसे युक्त जो शुभ-अशुभकर्म हैं उनसे अपने आपको जो निवृत्त करता है वह प्रतिक्रमण है।

जिस भावके रहते हुए भविष्यकालमें जो शुभ-अशुभकर्म बन्धको प्राप्त होनेवाले हैं उस भावसे जो चेतयिता निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है।

और जो वर्तमानकालमे अनेक प्रकारके विस्तार विशेषसे युक्त शुभ-अशुभकर्म उदयमें आया है उसके दोषका जो चेतयिता चिन्तन करता है वह आलोचना है।

इस पद्धतिसे जो चेतयिता नित्य ही प्रत्याख्यान करता है, नित्य ही प्रतिक्रमण करता है और नित्य ही आलोचना करता है निश्चयसे वही चारित्र है अर्थात् वही चारित्रगुणका धारक है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो चेतयिता (आत्मा) पुद्गलकर्मके विपाकसे होनेवाले भावोंसे स्वीय आत्माको निवृत्त करता है वह उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मोंका प्रतिक्रमण करता हुआ स्वय ही प्रतिक्रमणरूप होता है। वही आत्मा उन भावोंके कार्यभूत अर्थात् उन भावोंसे बंधनेवाले उत्तरकर्मको त्यागता हुआ प्रत्याख्यानरूप होता है और वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाकको आत्मासे अत्यन्त भेदरूप जानता हुआ आलोचनारूप होता है। इस तरह यह आत्मा नित्य ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मके कार्य और उत्तरकर्मके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ और वर्तमान कर्मविपाकको आत्मासे अत्यन्त भिन्न जानता हुआ स्वकीय ज्ञानस्वभावसे निरन्तर आचरण करनेसे चारित्र होता है। और चारित्ररूप होता हुआ ज्ञानमात्र जो स्वीय स्वरूप है उसका अनुभवन करनेसे स्वयमेव ज्ञानचेतना हो जाती है।

भावार्थ—यहाँपर प्रधानतासे निश्चय चारित्रका कथन है। जहाँपर चारित्रका वर्णन होता है वहाँपर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका वर्णन होता है। परन्तु यह सब प्रक्रिया मोहोदयमें होती है जैसे अपराध जो होता है वह मोहके तीव्रोदयमे होता है और उसका जो प्रतिक्रमणादि होता है वह मोपके मन्द उदयमे होता है जिस प्रकार लोकमे कोई व्याख्यान देनेका उद्यम करता है और व्याख्यान समाप्तिके अनन्तर उपस्थित सभासदासे नम्र शब्दोंमे यह निवेदन करता है कि यदि हमसे अज्ञान और प्रमादके कारण किसी प्रकारका अनुचित भाषण हुआ हो तो उसे आप महानुभाव क्षमा करे। उसी प्रकार मोही आत्मासे अतीतमे मोहके वश जो अपराध हुए हैं उनके दूर करनेके लिये वह पश्चात्ताप करता हुआ अपने आपको धिक्कारता है। अब आगमी कालमे ऐसे अपराधके कारण जो भाव है उन्हें नहीं करूँगा अर्थात् ऐसे भावोंसे अपनी आत्माका निवारण करता है। इसीका नाम प्रत्याख्यान है। तथा जो कर्मोदय वर्तमानमे आ रहा है उसे साम्यभावसे सहन करता हुआ भोगता है। और यह विचार करता है कि यह कर्मोदय हमारे ज्ञानस्वभावसे अत्यन्त भिन्न है, इसीका नाम आलोचना है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो यहाँपर आत्मा ही प्रतिक्रमण है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है और आत्मा ही परमार्थसे चारित्र है। जब आत्मा ही स्वय चारित्ररूप हो जाता है तब उसका ज्ञानमात्र जो स्वकीय स्वरूप है उसीका अनुभव रह जाता है इसलिये कमचेतना और कर्मफलचेतनासे निवृत्ति होकर मात्र ज्ञानचेतना रह जाती है ॥३८३-३८६ ॥

अब ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका) फल दिखाते हुए कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्ध ॥२२३॥

अर्थ—ज्ञानके सचेतनसे ही अत्यन्त शुद्ध ज्ञान प्रकाशित होता है और अज्ञानके संचेतनसे बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञानकी शुद्धिको रोक लेता है।

भावार्थ—पदार्थोंका जानना ही मेरा स्वभाव है, उनका कर्ता या भोक्तापन मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार निरन्तर ज्ञानस्वभावका चिन्तन करनेसे ज्ञान शुद्ध हो जाता है अर्थात उसमे मोहोदयसे होनेवाले परके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका जो भ्रम (विकारी अश) था वह दूर हो जाता है। तथा इसके विपरीत अज्ञानका चिन्तन करनेसे अर्थात् ज्ञान स्वभावसे भिन्न जो कर्तृत्व (कर्मचेतना) और भोक्तृत्व (कर्मफल चेतनाका) भाव है उसका विचार करनेसे ज्ञानकी शुद्धि रुक जाती है और कर्मोका बन्ध होने लगता है ॥२२३॥

अब अज्ञानचेतना बन्धका कारण है, यह गाथाओंमे स्पष्ट करते हैं—

वेदंतो कम्मफल अप्पाण कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो त पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफल मए कय मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो त पुणो वि बंधइ वीय दुक्खस्स अट्ठविह ॥३८८॥
वेदंतो कम्मफल सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो त पुणो वि बंधइ वीय दुक्खस्स अट्ठविह ॥३८९॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—जो आत्मा कर्मफलका अनुभव करता हुआ कर्मफलको अपनाता है अर्थात् कर्मफलसे भिन्न आत्माको नही मानता वह आत्मा दुःखोंके बीज स्वरूप आठ कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है ।

जो आत्मा कर्मफलका वेदन करता हुआ यह कर्मफल मेरे द्वारा किया हुआ है ऐसा मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है ।

और जो आत्मा कर्मफलका अनुभव करता हुआ सुखी-दुःखी होता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है ।

विशेषार्थ—ज्ञानसे भिन्न पदार्थमे 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जो जानना है वह अज्ञान-चेतना है । यह अज्ञानचेतना कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके भेदसे दो भेदवाली है । इन दोनोंमें ज्ञानसे भिन्न पदार्थोंमें 'मै इसे करता हूँ' ऐसा जो ज्ञान है इसीको कर्मचेतना कहते हैं तथा ज्ञानसे भिन्न पदार्थोंमें 'मैं इसको भोगता हूँ' ऐसा जो आत्माका अनुभवन है इसीका नाम कर्मफलचेतना है । यह अज्ञानचेतना सम्पूर्णरूपसे ससारका बीजभूत है क्योंकि ससार का बीज जो आठ प्रकारका कर्म है उसका यह बीज है । अतः मोक्षार्थी पुरुषके द्वारा अज्ञान-चेतनाके प्रलय (विनाशके) लिये सकल कर्मत्यागकी भावना और सकल कर्मफलत्यागकी भावनाको प्रकटकर स्वभावभूत भगवती एक ज्ञानचेतनाको ही निरन्तर प्रकट करना चाहिये । इन दोनोंमे सकल कर्मत्यागकी भावनाको प्रकट करते है—

आर्याछन्द

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२४॥

अर्थ—कृत-कारित-अनुमोदन और मनवचनकायके द्वारा तीन काल सम्बन्धी जो कर्म मेरे द्वारा किये गये हैं उन सबका परिहारकर मैं परम निष्कर्मभावका आलम्बन करता हूँ ।

आगे इन्हींके भङ्गोंका वर्णन करते हैं—मन, बचन और काय ये तीन हैं तथा कृत-

कारित और अनुमोदना भी तीन हैं। इनमें मन, वचन, काय इनके स्वतन्त्र एक-एकके द्वारा जो किया जावे वह तीन प्रकारका होता है तथा मनवचन, मनकाय और वचनकाय इस तरह दो-दोको मिलाकर तीन भङ्ग हुए तथा मन, वचन, काय इन तीनोके द्वारा भी मिलकर एक भङ्ग हुआ, इस तरह सात भङ्ग होते है। इसी तरह कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनके भी सात भङ्ग होते हैं। इन दोनों सात-सात भङ्गोंको परस्पर गुणित करनेसे ४९ भङ्ग होते हैं। इस तरह प्रतिक्रमण ४९ तरहका होता है। इन्हीं भेदोंको स्पष्ट करते है—प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि जो पाप मैंने अतीतकालमे किया था, अन्यके द्वारा कराया था तथा अन्यके द्वारा किये गये पापकी अनुमोदना की थी, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो १, जो पाप अतीतकालमें मैंने किया था, अन्यके द्वारा कराया था, तथा अन्यके द्वारा किये गये पापको अनुमोदना की थी, वह मन और वचनसे मिथ्या हो २, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मन और कायसे मिथ्या हो ३, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह वचन और कायसे मिथ्या हो ४, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुए की अनुमोदना की थी, वह मनसे मिथ्या हो ५, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह वचनसे मिथ्या हो ६, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह कायसे मिथ्या हो ७, जो पाप मैने किया था और कराया था, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो ८, जो पाप मैंने किया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मन, वचन, कायसे मिथ्या हो ९, जो पाप मैंने कराया था और दूसरेसे किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मनसे, वचनसे और कायसे मिथ्या हो १०, जो मैंने किया था और दूसरेसे कराया था, वह मेरा पाप मनसे और वचनसे मिथ्या हो ११, जो मैंने किया था और जिसे करते हुएकी अनुमोदना की थी, मेरा वह पाप मनसे तथा वचनसे मिथ्या हो १२, जिसे मैने दूसरेसे कराया था और जिसे करते हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मनसे और वचनसे मिथ्या हो १३, जिसे मैंने किया था और दूसरेसे कराया था वह मेरा पाप मनसे और कायसे मिथ्या हो १४, जिसे मैने किया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप मनसे और कायसे मिथ्या हो १५ जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे तथा कायसे मिथ्या हो १६, जिस मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १७, जिसे मैने किया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १८, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और कायसे मिथ्या हो १९, जिसे मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २०, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरेको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २१, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुएको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो २२, जिसे मैंने किया था और जिसे दूसरेसे कराया था, वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २३, जिसे मैंने किया और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी,

वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २४, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप वचनसे मिथ्या हो २५, जिसे मैने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २६, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरेको अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २७, जिसे मैने कराया था और जिसे करते हुए अन्यको अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप कायसे मिथ्या हो २८, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो २९, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो ३०, जिस पापका करते हुए दूसरेको मैने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन, वचन और कायसे मिथ्या हो, ३१, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मनसे तथा वचनसे मिथ्या हो ३२, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३३, जिस पापको करते हुए अन्य पुरुषको मैंने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३४, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३५, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३६, जिस पापको करते हुए अन्यको मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३७, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३८, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३९, जिस पापको करते हुए अन्यको मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ४०, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४१, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४२, जिसे करते हुए अन्यको मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४३, जिसे मैने किया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४४, जिसे मैने कराया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४५, जिसे करते हुए दूसरेको मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४६, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४७, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४८, जिसे करते हुए अन्यको मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४९।[1]

इन ४९ भगोंके भीतर पहले भगमे कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन लिये है और उनपर मन, वचन, काय ये तीन लगाये हैं, इसलिये इस भङ्गका साकेतिक नाम ३३ है। २ से ४ तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो-दो लगाये है। इस प्रकार बने हुए इन तीन भगोको ३२ की सज्ञा है। ५ से ७ तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेसे एक-एक लगाया है। इन तीन भगोको ३१ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामेसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनो लगाये हैं। इन तीन भगोको २३ की सज्ञासे जाना जा सकता है। ११ से १९ तकके भगोमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमे-से दो-दो लगाये है। इन नौ भगोको २२ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामेसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेसे १-१ लगाया है। इन नौ भगोको २१ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ के भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामें-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनो

आर्याछन्द

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२५॥

अर्थ—मैंने मोहसे जो कर्म किये थे उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण कर मैं समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आपके द्वारा निरन्तर वर्त रहा हूँ ॥२२५॥

इस तरह प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचनासम्बन्धी ४९ भङ्ग कहे जाते है—

मैं वर्तमानमें कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे १. मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे और वचनसे २, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मन और कायसे ३, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचन और कायसे ४, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे ५, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यका अनुमति देता हूँ वचनसे ६, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्यका अनुमति देता हूँ कायसे ७, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ८, मै कर्मका न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ९, मै कर्मका न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे १०, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, वचनसे ११, मै कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे १२, मैं कर्मको न करवाता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, वचनसे १३, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे, कायसे १४, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, कायसे १५, मै कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे, कायसे १६, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ वचनसे, कायसे १७, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे, कायसे १८, मै कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे, कायसे १९, मै कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ मनसे २०, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे २१, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ मनसे २२, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ वचनसे २३, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे २४, मैं

लगाये हे। इन तीन भगोका १३ की सज्ञासे जाना जा सकता है। ३२ से ४० तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामें-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमें-से दो-दो लगाये है। इन नौ भगोको १२ की सज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तकके भगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामें-से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमें-से एक-एक लगाया है। इन ९ भगोकी सज्ञा ११ है। इस प्रकार सब मिलाकर ४९ भग हुए।

मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ वचनसे २५, मैं कर्मको न करता हूँ न कराता हूँ कायसे २६, मैं कर्मको न करता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ कायसे २७, मैं कर्मको न कराता हूँ न करते हुए अन्यको अनुमति देता हूँ कायसे २८, मैं कर्मको न करता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे २९, मै कर्मको न कराता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ३०, मैं कर्मको करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे ३१, मै कर्मको न करता हूँ मनसे, वचनसे ३२, मैं कर्मको न कराता हूँ मनसे, वचनसे ३३, मै करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ मनसे, वचनसे ३४, मैं कर्मको न करता हूँ मनसे, कायसे ३५, मैं कर्मको न कराता हूँ मनसे, कायसे ३६, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ मनसे, कायसे ३७, मैं कर्मको नहीं करता हूँ वचनसे, कायसे ३८, मै कर्मको नहीं कराता हूँ वचनसे, कायसे ३९, मै कर्मको करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ वचनसे कायसे ४०, मै कर्मको न करता हूँ मनसे ४१, मै कर्मको नहीं कराता हूँ मनसे ४२, मै करते हुए अन्यको अनुमति नही देता हूँ मनसे ४३, मैं कर्मको न करता हूँ वचनसे ४४, मैं कर्मको नहीं कराता हूँ वचनसे ४५, मै करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ वचनसे ४६, मै कर्मको न करता हूँ कायसे ४७, मै कर्मको नही कराता हूँ कायसे ४८, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं देता हूँ कायसे ४९।

आर्याछन्द

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्मसकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

अर्थ—मोहविलासके विस्तारस्वरूप, उदयागत समस्त कर्मसमूहकी आलोचना कर मै कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आप निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ—वर्तमान कालमें उदयमे आते हुए कर्मोंके विषयमे ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि यह सब मोहके विलासका विस्तार है अर्थात् अज्ञानसे जायमान है यह मेरा स्वरूप नही है मैं तो समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, उसीमे मुझे लीन रहना चाहिये ॥२२६॥

इस तरह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

अब प्रत्याख्यान सम्बन्धी ४९ भङ्ग कहते है—

मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे १, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे २, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे ३, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे ४, मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे ५, मै कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे ६, मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे ७, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, वचनसे ८, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुये अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे

९, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे १०, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, वचनसे ११, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे १२, मै कर्मको न कराऊंगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे १३, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे, कायसे १४, मै कर्मका न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे १५, म कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे १६, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे, कायसे १७, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे १८, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे १९, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे २०, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २१, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २२, मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे २३, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २४, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २५, मै कर्मको न करूँगा न कराऊँगा कायसे २६, मै कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको भी अनुमति दूँगा कायसे २७, मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे २८, मै कर्मको न करूँगा मनसे, वचनसे, कायसे २९, मै कर्मको न कराऊँगा मनसे, वचनसे, कायसे ३०, मै करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा मनसे, वचनसे, कायसे ३१, मै कर्मको न करूँगा मनसे, वचनसे ३२, मै कर्मको न कराऊँगा मनसे, वचनसे ३३, मै करते हुए अन्यको भी अनुमति नहीं दूँगा मनसे, वचनसे ३४, मैं कर्मको न करूँगा मनसे, कायसे ३५, मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे, कायसे ३६, मै करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा मनसे, कायसे ३७, मे कर्मको न करूँगा वचनसे, कायसे ३८, मै कर्मको नहीं कराऊँगा वचनसे, कायसे ३९, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा वचनसे, कायसे ४०, मे कर्मका नही करूँगा मनसे ४१, मे कर्मका नहीं कराऊँगा मनसे ४२, मै करते हुए अन्यको भी अनुमति नहीं दूँगा मनसे ४३, मै कर्मका नहीं करूँगा वचनसे ४४, मै कर्मको नही कराऊँगा वचनसे ४५, मै करते हुए अन्यको भी अनुमति नहीं दूँगा वचनसे ४६, मै कर्मको न करूँगा कायसे ४७, मै कर्मको न कराऊँगा कायसे ४८, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा कायसे ॥४९॥

आर्याछन्द

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्मसमस्तं निरस्तसमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

अर्थ—भविष्यकालके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान कर जिसका मोह नष्ट हो चुका है ऐसा मैं कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मामे अपने आप निरन्तर वर्त रहा हू ।

भावार्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि कर्मचेतना मेरा स्वरूप नहीं है इसलिये जिस प्रकार अतीतकाल और वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मोंका कर्तृत्व मेरे ऊपर नहीं है उसी प्रकार भविष्यकाल सम्बन्धी कर्मोंका कर्तृत्व भी मुझ पर नहीं है । मैं कृत, कारित और अनु-

मोदना और मन, वचन, कायसे भविष्यत्काल सम्बन्धी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यानकर कर्मरहित तथा चैतन्यस्वरूप अपने आत्मामें ही अपने आपके पुरुषार्थसे निरन्तर लीन रहता हूँ ॥२२७॥

इस तरह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

अब ज्ञानी जीवकी भावना प्रकट करनेके लिये कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

समस्तमित्येवमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥२२८॥

अर्थ—इस प्रकार तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मोंका त्यागकर मैं शुद्धनयका अवलम्बी होता हुआ मोह रहित हो विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका अवलम्बन लेता हूँ।

भावार्थ—प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य-काल सम्बन्धी समस्त कर्मोंके त्यागसे अर्थात् उनके प्रति कर्तृत्वका भाव छोड़नेसे जिसका समस्त मोह नष्ट हो गया है ऐसा शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला जीव विचार करता है कि मेरी आत्मा तो समस्त विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र स्वरूपका धारक है, वही मेरा स्वीय-द्रव्य है, उसीमें मुझे लीन होना चाहिये ऐसा विचार कर वह मात्र ज्ञानचेतनाका आलम्बन लेकर निरन्तर आत्मस्वरूपमें लीन रहता है ॥२२८॥

अब समस्त कर्मफलके त्यागकी भावनाको प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥२२९॥

अर्थ—कर्मफलचेतनाका त्यागी ज्ञानी जीव विचार करता है कि कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे भोगे बिना ही खिर जावें, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्माका ही निश्चल रूपसे अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—मैं कर्मफलोंको केवल जानने देखनेवाला हूँ, भोगनेवाला नहीं हूँ इसलिये वर्तमानमें जो कर्म अपना फल दे रहे हैं उनके प्रति मेरा कोई ममत्वभाव नहीं है। फल देते हुए भी वे मेरे लिये फल न देते हुएके समान हैं। मेरा स्वकीय द्रव्य तो चैतन्य लक्षणवाला आत्मा है अतः उसीका निरन्तर चिन्तन करता हूँ ॥२२९॥

अब ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मोंकी जितनी भी उत्तरप्रकृतियाँ है उन सबके फलको भोगनेवाला मै नहीं हूँ यह क्रमसे प्रकट करते है—

मै मतिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ १, मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ २, मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ३, मै मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ४, मै केवलज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ ५, मैं चक्षुदर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६, मै अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७, मै अवधिदर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८, मै केवलदर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९, मै निद्रा दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०, मै निद्रानिद्रा दर्शनावरणीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११, मै प्रचला दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भागता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२, मै प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३, मै स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४, मै सातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १५, मै असातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १६, मै सम्यक्त्वमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १७, मै मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १८, मै सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप १९, मै अनन्तानुबन्धी क्रोध, कषाय, वेदनीय, मोहनीयके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २०, मै अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, कषाय, वेदनीय, मोहनीयके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २१, मै प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २२, मै संज्वलन क्रोध, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २३, मै अनन्तानुबन्धी मान, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २४, मै अप्रत्याख्यानावरणीय, मान, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २५, मै प्रत्याख्यानावरणीय, मान, कषाय, वेदनीय, मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २६, मै सज्वलन मान, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २७, मै अनन्तानुबन्धी माया, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २८, मै अप्रत्याख्यानावरणीय माया, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २९, मै प्रत्याख्यानावरणीय माया, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३०, मैं संज्वलन, माया, कषाय, वेदनीय, मोहकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३१, मै अनन्तानुबन्धी लोभ, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३२, मै अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप०

३३, मै प्रत्याख्यानावरणीय लोभ, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३४, मै संज्वलन लोभ, कषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३५, मै हास्य, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरू२० ३६, मै रति, नोकषाय, वेदनीय, माहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३७, मैं अरति, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३८, मै शोक, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३९, मै भय, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४०, मै जुगुप्सा, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४१, मै स्त्रीवेद, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४२, मै पुरुषवेद, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४३, मै नपुंसकवेद, नोकषाय, वेदनीय, मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४४, मै नरकायुः कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४५, मैं तिर्यगायुः कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ४६, मै मानुषायुः कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४७, मै देवायुः कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४८, मै नरकगति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४९, मै तिर्यग्गति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५०, मैं मनुष्यगति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५१, मै देवगति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५२, मै एकेन्द्रियजाति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५३, मै द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ५४, मै त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५५, मै चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके 'फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५६, मै पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ५७, मै औदारिकशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५८, मै वैक्रियिकशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५९, मैं आहारकशरीर नामकर्मके फलका नही भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ६०, मै तैजसशरीर नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६१, मै कार्माणशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६२, मै औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६३, मै वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्मके फलको नहीं भोगता हू, चैतन्यस्वरूप० ६४, मै आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६५, मै औदारिकशरीरबन्धन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६६, वैक्रियिकशरीरबन्धन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६७, मै आहारकशरीरबन्धन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६८, मै तैजसशरीरबन्धन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६९, मै कार्मणशरीरबन्धन नाम कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७०, मैं औदारिकशरीरसंघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७१, मै वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७२, मै आहारकशरीरसंघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य-

स्वरूप० ७३, मैं तैजसशरीरसघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७४, मैं कार्मणशरीरसघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७५, मे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७६, मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७७, मै स्वातिसस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७८, मै कुब्जकसंस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७९, मै वामनसंस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८०, मै हुण्डकसस्थान नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८१, मै वज्रर्षभनाराचसहनन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८२, मै वज्रनाराचसहनन नाम कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८३, मैं नाराचसहनन नाम कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८४, मै अर्धनाराचसंहनन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ८५, मै कीलकसहनन नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८६, मै असम्प्राप्तसृपाटिकासहनन नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८७, मै स्निग्धस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८८, मै रूक्षस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८९, मै शीतस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९०, मैं उष्णस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ९१, मै गुरुस्पर्श नामकर्मके फलको भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९२, मैं लघुस्पर्श नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० ९३, मैं मृदुस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९४, मै कर्कशस्पर्श नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९५, मै मधुररस नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९६, मैं अम्लरस नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९७, मैं तिक्तरस नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९८, मै कटुकरस नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९९, मै कषायरस नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १००, मैं सुरभिगन्ध नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०१, मै असुरभिगन्ध नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०२, मै शुक्लवर्ण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०३, मैं रक्तवर्ण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०४, मैं पीतवर्ण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०५, मैं हरितवर्ण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० १०६, मैं कृष्णवर्ण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०७, मै नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०८, मै तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०९, मै मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११०, मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १११, मैं निर्माण नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११२, मैं अगुरुलघु नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११३, मैं उपघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११४, मैं परघात नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११५, मैं आतप नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११६, मै उद्योत नामकर्मके फलको

नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११७, मै उच्छ्वास नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११८, मै प्रशस्तविहायोगति नामकर्मके फलको नहीं भोगता है, चैतन्यस्वरूप० ११९, मै अप्रशस्तविहायोगति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२०, मै साधारणशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२१, मै प्रत्येकशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२२, मै स्थावर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२३, मैं त्रस नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२४, मैं सुभग नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२५, मै दुर्भग नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२६, मै सुस्वर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२७, मै दुःस्वर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२८, मै शुभ नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२९, मे अशुभ नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३०, मै सूक्ष्मशरीर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३१, मै बादरशरीर नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३२, मै पर्याप्त नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३३, मै अपर्याप्त नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३४, मै स्थिर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३५, मै अस्थिर नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३६, मे आदेय नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३७, मै अनादेय नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३८, मै यशः कीर्ति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३९, मैं अयशःकीर्ति नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४०, मै तीर्थंकरत्व नामकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चेतन्यस्वरूप० १४१, मे उच्चगोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४२, मे नीचगोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४३, मै दानान्तरायकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४४, मै लाभान्तरायकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४५, मै भोगान्तरायकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४६, मै उपभोगान्तराय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४७, मै वीर्यान्तरायकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४८।

यहाँ आशङ्का होती है कि जब ऊपर लिखे अनुसार कर्मोंका फल आत्मा नहीं भोगता है तो फिर कौन भोगता है ? क्या जड़ शरीर भोगता है ? इसका उत्तर यह है कि जड़ शरीर नहीं भोगता क्योंकि जड़ शरीरमें स्वयं सुख-दुःखका वेदन करनेका सामर्थ्य नहीं है फलतः आत्मा ही भोगता है। परन्तु कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो अशुद्ध दशा होती है वह आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव तो चैतन्यरूप है अतः ज्ञानी जीव उसी चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है। कर्मोदयसे होनेवाली अवस्थाओंको परजन्य होनेसे आत्मस्वभावसे पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे पानी उष्ण हो गया यहाँ व्यवहार तो यही होता है कि पानी उष्ण है परन्तु परमार्थसे विचार करनेपर उष्णता अग्निकी ही है, पानीकी नहीं। कुछ समयके अनन्तर अग्निका सम्बन्ध दूर होनेपर पानी शीतल हो जाता है इससे प्रतीत होता है कि शीतलता पानीका स्वकीय धर्म है और उष्णता

परजन्य। स्वभावकी चर्चामें परजन्य विभावका स्थान नहीं है। निश्चयनय स्वभावका ही वर्णन करता है अतः उसकी दृष्टिमे आत्मा अपने चैतन्यस्वभावका ही भोक्ता है परन्तु व्यवहारनयसे आत्मा कर्मोका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता कहलाता है, निश्चयकी दृष्टिसे न कर्त्ता है न भोक्ता है ॥३८७-३८९॥

आगे निखिल कर्मफलोका त्याग करनेसे आत्मा चैतन्यतत्त्वको प्राप्त होता है यह दिखानेके लिये कलश कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

निःशेषकर्मफलसन्न्यसनान्ममैव
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्ते ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्व
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३०॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त कर्मोके फलका परित्याग करनेसे जिसकी अन्य समस्त क्रियायों सम्बन्धी विहारसे वृत्ति दूर हट गई है तथा जो स्वरूपमे अचल है ऐसी मेरी यह अनन्तकालकी परम्परा अतिशयरूपसे चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वकी उपासना करते हुए ही व्यतीत हो।

भावार्थ—जब ज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मफलोका त्यागकर चुकता है तब उसकी कर्मोदयसे जायमान अन्य क्रियाओं सम्बन्धी उपभोगसे वृत्ति स्वयं हट जाती है तथा वह स्वकीय स्वरूपमे निश्चल हो जाता है। उस दशामे उसकी चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वपर ही दृष्टि रुकती है। उसीकी उसे बार-बार अनुभूति होती है और उस अनुभूतिमे वह ऐसा अद्भुत आनन्द निमग्न होता है कि उसकी ऐसी भावना होने लगती है कि मेरा अनन्तकाल इसी आत्मतत्त्वकी उपासना करते-करते ही व्यतीत हो, एकक्षणके लिये भी मेरा उपयोग अन्य विषयोंमे न जावे ॥२३०॥

वसन्ततिलकाछन्द

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३१॥

अर्थ—जो निश्चयसे आत्मस्वरूपमें तृप्त होता हुआ पूर्वकालके अज्ञानमयभावोंसे किये हुए कर्मरूपी विष वृक्षोके फलोंको नहीं भोगता है अर्थात् उन फलोंका स्वामी नहीं होता है वह तत्कालमें रमणीय और भविष्यत्कालमे रमणीय, कर्मोसे रहित स्वाधीन सुखरूप अन्य अवस्थाको जो आज तक ससारमें प्राप्त नहीं हुई ऐसी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य अपने चैतन्यस्वरूपमें ही संतुष्ट रहता है इसलिये पूर्व अवस्थामे अज्ञानमय भावोसे बाँधे हुए कर्मोंका जो उसे फल प्राप्त होता है उससे वह पूर्ण उदासीन रहता है उस फलके प्रति उसके हृदयमें कुछ भी स्वामित्व नहीं रहता है। इस स्वरूप सतोषका उसे फल यह प्राप्त होता है कि वह कर्मसे रहित स्वाधीन सुखसे तन्मय ऐसी मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है जो कि तत्कालमें रमणीय है और आगामी अनन्तकालमे भी रमणीय ही रहेगी ॥२३१॥

अब ज्ञानीजन अज्ञानचेतनाको नष्टकर ज्ञानचेतनाको पूर्ण करते हुए सदा शान्त-रसका पान करें, ऐसी भावना आचार्य प्रकट करते हैं—

स्रग्धराछन्द

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३२॥

अर्थ—ज्ञानीजन कर्म और उसके फलसे निरन्तर अत्यन्त विरक्तिकी भावनाको भाकर, सम्पूर्ण अज्ञानचेतनाका स्पष्ट ही नाशकर, निजरसको प्राप्त स्वभावको पूर्णकर स्वकीय ज्ञान चेतनाको बड़े आनन्दके साथ नाचते हुए इस समयसे लेकर आगे निरन्तर प्रशमरसका पान करें।

भावार्थ—अज्ञानचेतना और ज्ञानचेतनाके भेदसे चेतना दो प्रकारकी है। उसमें अज्ञानचेतनाके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ऐसे दो भेद हैं। अज्ञानी जीव स्वरूपसे च्युत हो अनादिकालसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाकी ही भावना करते हुए निरन्तर अशान्तिका अनुभव करते आ रहे हैं। ज्ञानचेतनाकी ओर उनका किञ्चिन्मात्र भी लक्ष्य नहीं जाता। इसीलिये परमदयालु अमृतचन्द्रस्वामी करुणाभावसे आकांक्षा प्रकट करते है कि ससारके प्राणी कर्म और कर्मफलसे अत्यन्त विरक्त हो अज्ञानचेतनाको तो समूल नष्ट करें और आत्मीयरससे युक्त स्वभावको पूर्णरूपसे प्राप्तकर अपनी ज्ञानचेतनाको बड़े उल्लासके साथ प्रकट करें और उसके फलस्वरूप लोकोत्तर शान्तरसका सदाकाल पान करें ॥२३२॥

अब आगे एक निराकुलज्ञान ही शेष रहता है यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

वंशस्थछन्द

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्
विनाकृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३३॥

अर्थ—अब इसके आगे पदार्थ समूहके आलम्बनसे होनेवाली आकृतिके बिना जो

एकरूपताको प्राप्त है, आकुलता रहित है, देदीप्यमान है और समस्त वस्तुओंके भिन्नत्वके निश्चयसे जो पृथक् किया गया है ऐसा ज्ञान ही यहाँ अवस्थित रहता है।

भावार्थ—'यह घट ज्ञान है' 'यह पट ज्ञान है' इस तरह पदार्थ समूहके आलम्बनसे जो ज्ञान पहले नाना ज्ञेयोंके आकार होनेसे नाना आकृतियोको धारण करता हुआ अनेकरूप अनुभवमें आता था अब अज्ञानचेतनाके नष्ट हो जानेके अनन्तर वह ज्ञान, ज्ञेयके आकारका विकल्प छूट जानेसे एकरूप हो जाता है, पहले जो ज्ञान मोहविपाकसे जायमान रागादि विकारोंसे संपृक्त होनेके कारण आकुलताका उत्पादक था पर अब वह मोहजन्य विकारोंका संपर्क छूट जानेसे आकुलतासे रहित हो जाता है। पहले जो ज्ञान क्षायोपशमिक अवस्थामें ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमतया उदयानुसार उदयास्तको प्राप्त होता था, हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होता था, परन्तु अब वह ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे सदा देदीप्यमान रहता है। पहले जो ज्ञान ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धके कारण ज्ञेयरूपताको प्राप्त था पर अब सब पदार्थ भिन्न-भिन्न है ऐसा निश्चय हो जानेके कारण सबसे पृथक् अनुभवमे आता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानचेतनाके फलस्वरूप अन्तमे ऐसा ज्ञान ही अवस्थित रहता है जिससे अन्य ओरसे ज्ञानीका उपयोग छूट जाता है ॥२३३॥

आगे शास्त्र आदिसे ज्ञान भिन्न है यह वर्णन करनेके लिये गाथाएँ कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं रसं दु अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥

कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवइ जह्माधम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाण अण्णमधम्म जिणा विंति ॥३९९॥
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्ण णाण अण्णं काल जिणा विंति ॥४००॥
आयास पि ण णाणं जह्मायास ण याणए किंचि ।
तह्मायासं अण्ण अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाण अचेदण जह्मा ।
तह्मा अण्ण णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाण च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाण सम्मादिट्ठि दु सजमं सुत्तमगपुव्वगयं ।
धम्माधम्म च तहा पव्वज्जं अब्भुवति बुहा ॥४०४॥

(पञ्चदशकम्)

अर्थ—शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है इससे ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिन भगवान् जानते हैं।

शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता है इससे ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते है।

रूप ज्ञान नहीं है क्योकि रूप किंचिन्मात्र भी नहीं जानता है इससे ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते है।

वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्र प्रभु जानते हैं।

गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ भी नहीं जानता है इसीलिये ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।

रस ज्ञान नहीं है क्योकि रस कुछ भी नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनस्वामी जानते हैं।

स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ भी नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा भगवान् केवली जानते हैं।

कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ भी नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा भी जिनेश जानते हैं।

धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म अस्तिकाय कुछ भी नहीं जानता है इसीसे धर्म अस्तिकाय अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा अनन्तज्ञानी जानते हैं।

अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मास्तिकाय कुछ भी नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा सर्वज्ञदेव जानते है।

काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ भी नही जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और काल अन्य है ऐसा सकलपरमात्मा जानते हैं।

आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ भी नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योकि अध्यवसान कुछ भी नहीं जानता है इसीसे ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है ऐसा सर्वज्ञ परमेष्ठी जानते है।

क्योकि जीव नित्य ही जानता है इसलिये वह ज्ञायक तथा ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये।

और ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगतसूत्र है, तथा ज्ञान धर्म, अधर्म और प्रव्रज्या है ऐसा पण्डितलोग स्वीकार करते है।

विशेषार्थ—द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है क्योकि वह अचेतन है इसलिये द्रव्यश्रुत और ज्ञानमें भिन्नता है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इसीसे शब्द और ज्ञान भिन्न-भिन्न है। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है अतः ज्ञान और रूपमे परस्पर भिन्नता है। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योकि वह अचेतन है अतः ज्ञान और वर्ण भिन्न-भिन्न है। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है अतः ज्ञान और गन्धमे भेद है। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और रसमे भिन्नता है। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसीसे ज्ञान और स्पर्श भिन्न-भिन्न हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अचेतन है इसीसे वह ज्ञान और कर्ममें व्यतिरेक है। धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और धर्मद्रव्यमे भिन्नता है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और अधर्मद्रव्यमें पृथक्पन है। काल ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इससे ज्ञान और काल भिन्न-भिन्न हैं। आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और आकाश पृथक्-पृथक् हैं। अध्यवसानभाव ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इससे ज्ञान और अध्यवसानभाव भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार ज्ञानका समस्त परद्रव्योके साथ निश्चयसे सिद्ध किया हुआ भेद

देखने योग्य है। इस प्रकार शास्त्र आदिके साथ ज्ञानकी भिन्नता दरशा कर अब जीवके साथ उसकी भिन्नता दिखाते हैं—

केवल जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि वह चेतन है इसलिये ज्ञान और जीवमें ही अभेद है। जीव स्वयं ज्ञानरूप है इसलिये ज्ञान और जीवमें कोई भेद है ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये क्योंकि उन दोनोंमें गुणगुणीका भेद होने पर भी नित्य तादात्म्य रहता है। ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है, और ज्ञान ही प्रव्रज्या है। इस तरह ज्ञानका जीवपर्यायोके साथ निश्चयसे सिद्ध किया हुआ अभेद द्रष्टव्य है—देखने योग्य है। इस प्रकार समस्त परद्रव्योंसे भिन्नपन तथा समस्त ज्ञानादि दर्शन जीवस्वभावसे अभिन्नपनके कारण जो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषोंका परिहार कर रहा है, तथा अनादि विभ्रम जिसका मूलकारण है ऐसे पुण्य-पापरूप परसमयका त्याग कर जो स्वयमेव प्रव्रज्याको धारण करता हुआ दर्शनज्ञानचारित्रमे स्थिर होने रूप स्वसमयको प्राप्त हुआ है, जिसने मोक्षमार्गको अपने आपमे परिणत किया है, सम्पूर्ण विज्ञानघनभावको जिसने प्राप्त किया है, जो ग्रहण और त्यागके विकल्पसे शून्य है तथा साक्षात् समयसारभूत है, ऐसा परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान ही स्थित रह जाता है ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—यहाँ परद्रव्योंसे भिन्न और अपने स्वरूपसे अभिन्न आत्माका स्वभाव ज्ञान दिखाया है। इससे न तो अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति है क्योंकि आत्माका लक्षण उपयोग है, उपयोग ज्ञानदर्शन स्वरूप ही है, यह अन्य द्रव्योमें नहीं पाया जाता इससे अतिव्याप्ति नहीं, है और आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें पाया जाता है इससे अव्याप्ति भो नहीं है। यहाँ पर ज्ञान कहनेसे आत्मा ही जानना चाहिये क्योंकि अभेददृष्टिसे गुणगुणीमें भिन्न देशता नहीं होती। यहाँ पर ज्ञानको ही मुख्य कहा है, उसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनन्त धर्मात्मक है, उनमे कोई धर्म तो हमारे अनुभवमे ही नहीं आते, अतः उनके द्वारा आत्माको जानना असम्भव है और कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्वादि अनुभव गोचर भी है परन्तु वह अजीवादि द्रव्य साधारण होनेसे अतिव्याप्तिरूप है उनसे भी आत्माका परिचय होना कठिन है। कोई भाव परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं जैसे रागादिक, ये भाव अव्याप्तरूप हैं अतः उनसे भी आत्माका ज्ञान होना असंभव है तथा कोई भाव कर्मके क्षयसे होते हैं जैसे केवलज्ञानादि। यह भाव यद्यपि असाधारण हैं तथापि सर्व अवस्थाओंमे न रहनेसे अव्याप्त हैं अतएव केवलज्ञानादि पर्यायोंके द्वारा आत्माका निर्णय करना अशक्य है। इसी तरह क्षायोपशमिकभाव भी आत्माके निर्णायक नहीं हैं क्योंकि ये भाव भी आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें नहीं रहते अतः सामान्य रूपसे उपयोग ही आत्माका लक्षण है, यही सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहता है अतः यही लक्षण आत्माका इतर पदार्थोंसे भेद कराता है क्योकि यह आत्माकी सब अवस्थाओंमें व्यापक है। इस ज्ञानमें अनादि कालसे मिथ्यात्व तथा रागादिक परिणामके योगसे शुभाशुभ प्रवृत्तिका सद्भाव चला आ रहा है उसे निजस्वरूप की श्रद्धाके

बलसे दूर कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय स्व-समयरूप जो मोक्षमार्ग है उसमें अपनी आत्माको लीन कर जब ज्ञानकी शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तब आत्मा कृतकृत्य हो जाता है, त्याग और ग्रहणका वहाँ विचार ही नहीं होता ऐसा साक्षात् समयसाररूप पूर्णज्ञान ही परमार्थसे शुद्ध है, यही आत्माकी साक्षात् प्राप्ति है, उसीको देखना-जानना और आचरणमें लाना चाहिये।

आत्माका यह देखना आदि तीन प्रकारसे होता है—एक तो जब आत्मामे मिथ्यात्वका अभाव होता है तब उसकी श्रद्धा, परोक्षज्ञान तथा अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे आंशिक स्वरूपचर्याकी उद्भूति होती है और तभीसे यह आत्मा चरणानुयोगशास्त्रकी पद्धतिसे मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी होता है। दूसरा प्रकार यह है कि ज्ञान-श्रद्धान होनेके अनन्तर निखिल परिग्रहका त्याग कर इसी तत्त्वका अभ्यास करना, अपने उपयोगको निखिल पदार्थोंसे हटा कर आपमे ही स्थिर करना। इसका यह तात्पर्य है कि ज्ञानमे कोई भी ज्ञेय आवे, राग-द्वेषसे उसका रक्षा करना। अर्हद्भक्तिमें अर्हन्त भगवान्‌के गुणोका विचार होता है और स्वाध्यायके समय भी अर्हन्त परमेष्ठीके गुणोंका विचार होता है परन्तु अर्हद्भक्ति बन्धका कारण है और स्वाध्याय निर्जराका कारण होता है। यह अन्तर रागांशके सद्भाव और असद्भावसे ही पड़ता है अतः उपयोग किसी ज्ञेयमें जावे, उसमे राग-द्वेष न होना ही महत्त्वपदकी जड़ है। यहाँ पर ज्ञानकी मुख्यताका कथन है सो जैसा शुद्धनयके द्वारा आत्म-स्वरूपको सिद्ध समान जान श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यानमें लाकर चित्तको स्थिर करना और निरन्तर इसीका अभ्यास करना चाहिये। आत्माका यह देखना अप्रमत्त दशामें होता है इसलिये केवलज्ञानकी प्राप्ति पर्यन्त ऐसा अभ्यास करना चाहिये। तीसरा प्रकार यह है कि शुक्लध्यानके द्वारा घातिचतुष्कका क्षय कर जब केवलज्ञान प्राप्त होता है तब जिस आत्मा-का पहले परोक्षरूपसे भान होता था वही अब साक्षात् भासमान होने लगता है, यही पूर्ण-ज्ञानका देखना है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। अभेद विवक्षामे आत्मा कहो या ज्ञान कहो, एक ही है, कोई विरोध नहीं है। ३९०-४०४

अब यही भाव कलशामें व्यक्त करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३४॥

अर्थ—जो अन्य पदार्थोंसे भिन्न है, आत्मस्वरूपमें निश्चल है, पृथग् वस्तुपनको धारण कर रहा है, ग्रहण और त्यागके विकल्पसे शून्य है, तथा निर्मल है ऐसा यह ज्ञान उस तरह अवस्थित होता है जिस तरह कि मध्य आदि और अन्तके विभागसे रहित स्वाभाविक सातिशय प्रभासे देदीप्यमान, और शुद्ध ज्ञानसे सान्द्र इसकी महिमा नित्य उदित रहती है।

भावार्थ—अन्तमें आत्मा जिस ज्ञानरूप होकर अवस्थित रहता है वह कैसा है ? इसकी चर्चा इस काव्यमें की गई है—वह ज्ञान, शास्त्र, रूप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा धर्मास्तिकाय आदि अन्य पदार्थोंसे भिन्न है, आत्मस्वरूपमें नियत है अर्थात् योग और कषायके कारण पहले जो चञ्चलता रहती थी वह उसकी समाप्त हो जाती है, वह पृथग् वस्तुताको धारण करता है अर्थात् ज्ञेयोंसे मिश्रित होनेपर भी उनसे पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। पहले मोहके उदयसे ज्ञानमें ग्रहण और त्यागके विकल्प उठा करते थे परन्तु अब मोहका अभाव हो जानेपर उसमें वे विकल्प अस्तमित हो जाते हैं। पहले रागादिकके सपर्कसे ज्ञानमे जो मलिनता थी अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाके कारण पूर्ण स्पष्टता नहीं थी अब उसका अभाव हो जानेसे वह ज्ञान पूर्ण निर्मल हो जाता है। पहले यह ज्ञान बाह्य साधन सापेक्ष होनेके कारण उपजता और तिरोहित होता रहता था इसलिये आदि मध्य और अन्तसे सहित था परन्तु अब बाह्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण सर्वदा प्रकाशमान रहता है इसलिये उसमे आदि, मध्य और अन्तका कुछ भी विकल्प नहीं रहता। रागादिकका सर्वथा क्षय हो जानेसे उसकी शुद्धता कभी नष्ट होनेवाली नहीं इसलिये वह शुद्ध ज्ञानसे घन है तथा पहले ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन रहनेसे मेघमालाके मध्य स्थित विद्युत्के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित हो जाता था परन्तु अब ज्ञानावरणका सर्वथा क्षय हो जानेसे नित्य उदय रूप रहता है अर्थात् उसका अन्त कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा केवलज्ञान-रूपसे अवस्थित रहता है ॥२३४॥

अब आत्मा की कृतकृत्यदशाका वर्णन करते हुए कलश कहते हैं—

उपजातिछन्द

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मन संहृतसर्वशक्ते
पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२३५॥

अर्थ—जिसने रागादि विभावरूप परिणमन करानेवाली सर्व शक्तियोंका सकोच कर लिया है तथा केवलज्ञानादि गुणोंके पूर्ण हो जानेसे जो पूर्णताको प्राप्त हो चुका है ऐसे आत्माको जो आत्मामें ही—अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूपमें ही समीचीनरूपसे धारण करना है वही इसमे जो कुछ छोड़ने योग्य था उसे सम्पूर्णरूपसे छोड़ दिया और जो ग्रहण करने योग्य था उसे सम्पूर्णरूपसे ग्रहण कर लिया।

भावार्थ—जिस कालमे आत्मा सब ओरसे अपनी शक्तियोंका सकोच कर अपने ही स्वरूपमे लय हो जाता है उस कालमें जो त्यागने योग्य था वह सब विशेषरूपसे त्याग दिया और जो ग्रहण करने योग्य था वह सब ग्रहण कर लिया। अब आत्माको न कुछ छोडना शेष है और न कुछ ग्रहण करना अवशिष्ट है इसलिये आत्मा कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त होता है ॥२३५॥

अब वह ज्ञान देहरहित है यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्यात्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३६॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान जब परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित है तब वह आहारक—कर्म और नोकर्मको ग्रहण करनेवाला कैसे हो सकता है जिससे इसके देहकी शङ्काकी जा सके।

भावार्थ—देह पुद्गलका कर्म है, ज्ञानका नहीं अतः ज्ञानके देह है ऐसी आशंका ही नहीं करना चाहिये ॥२३६॥

आगे यही भाव गाथाओंमें कहते हैं—

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एव ।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं ज य ज परद्दव्व ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥
तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चयसे आहारक नहीं है क्योंकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्गलमय है।

जो परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है सो वह आत्माका कोई प्रायोगिक अथवा स्वाभाविक गुण है।

इसलिये जो विशुद्ध चेतयिता है वह जीवाजीव द्रव्योंमे न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता ही है।

विशेषार्थ—ज्ञान नामक जो गुण है वह न तो परद्रव्यको किञ्चिन्मात्र ग्रहण करता है और न परवस्तुको किञ्चिन्मात्र त्यागता है क्योंकि उसमें प्रायोगिक अथवा वैस्रसिक—स्वाभाविक गुणका ऐसा ही सामर्थ्य है। उस सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है। अमूर्त आत्मद्रव्यरूप जो ज्ञान है उसका परद्रव्य आहार नहीं हो सकता क्योंकि आहार मूर्तपुद्गलद्रव्यरूप है। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है अतएव ज्ञानके देह है ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए ॥४०५-४०७॥

अब आगामी गाथाओंकी अवतरणिकारूप कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

एव ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥२३७॥

अर्थ—इस तरह जब शुद्ध ज्ञानके देह ही नहीं हैं तब देहरूप जो लिङ्ग है वह आत्माके मोक्षका कारण नहीं हो सकता ॥२३७॥

अब यही भाव गाथाओंमे कहते हैं—

पाखडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तु वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

(युग्मम्)

अर्थ—मुनिलिङ्ग अथवा बहुत प्रकारके गृहस्थलिङ्गोंको ग्रहणकर अज्ञानीजन कहते हैं कि यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीरसे ममत्व रहित अरहंतदेव लिङ्गको छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन करते हैं ।

विशेषार्थ—कितने ही जन अज्ञानसे द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिङ्गको ही ग्रहण करते हैं सो वह मानना संगत नहीं है क्योंकि समस्त भगवान् अरहन्तदेवोने शुद्ध ज्ञानसे तन्मय होनेके कारण द्रव्यलिङ्गके आश्रयभूत शरीरसे ममकारका त्याग किया है। तथा शरीराश्रित द्रव्यलिङ्गसे भिन्न आत्मस्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी ही मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है ॥४०८-४०९॥

अनन्तर इसीको सिद्ध करते हैं—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

अर्थ—जो मुनि और गृहस्थरूप लिङ्ग हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् दर्शन, ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहते हैं ।

विशेषार्थ—निश्चयसे द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीराश्रित होनेसे वह परद्रव्य है। इसलिये दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि आत्माश्रित होनेसे वे स्वद्रव्य हैं। यहाँपर द्रव्यलिङ्गका मोह छुडाकर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमें लगानेका उपदेश है सो इसका आशय यह है कि द्रव्यलिङ्ग शरीराश्रित है उसीको कोई मोक्षमार्ग मान ले तथा आत्मा-

श्रित जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं उनकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे वास्तविक वस्तुस्वरूप बतलानेके लिये आचार्य महाराजका उपदेश है कि द्रव्यलिङ्गके ममकारको त्यागकर आत्माश्रितगुणोंका सेवन करो, वही मोक्षमार्ग है। कुछ देशव्रत और महाव्रतके छुडानेका उपदेश नहीं है। क्योंकि बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्षकी प्राप्ति शक्य नही है। हाँ, यह अवश्य है कि यावती प्रवृत्ति है वह बन्धका कारण है अतः ज्ञानी जीव देशव्रत तथा महाव्रत पालते हैं और उनके पालनेका यत्न भी करते हैं परन्तु उस प्रवृत्तिको बन्धमार्ग ही समझते हैं मोक्षमार्ग नहीं ॥४१०॥

फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेका उपदेश है—

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाण जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

अर्थ—इसलिये गृहस्थ प्रतिमा धारियों और गृहत्यागी मुनियोके द्वारा गृहीत लिङ्गों को छोडकर आत्माको दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गमे युक्त करो। ऐसा श्रीगुरुओका उपदेश है।

विशेषार्थ—क्योंकि द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है इसलिये सभी द्रव्यलिङ्गोंसे व्यामोह को छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्रमें ही आत्माको लगाना चाहिये क्योकि यही मोक्षमार्ग है यह जिनागमकी आज्ञा है।

अब दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है यह कलशामे दिखाते है—

अनुष्टुपछन्द

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३८॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनरूप ही आत्माका तत्त्व है, यही मोक्षमार्ग है इसलिये मोक्षके अभिलाषी पुरुषके द्वारा यही एक मार्ग सदा सेवन करने योग्य है ॥२३८॥

आगे इसी मोक्षमार्गमे आत्माको लगाओ ऐसा उपदेश करते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहरणिच्च मा विहरसु अण्ण दविएसु ॥४१२॥

अर्थ—उसी मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीमें नित्य विहार करो, अन्यद्रव्योंमें विहार न करो।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते है कि हे भव्य ! यद्यपि यह आत्मा अनादिकालसे अपनी बुद्धिके दोषसे रागद्वेषके वशीभूत होकर प्रवृत्त हो रहा है तो भी अपनी ही

बुद्धिके गुणसे उस आत्माको वहाँसे निवृत्तकर दर्शनज्ञानचारित्रमें नित्य ही अत्यन्त निश्चलरूपसे स्थापित करो, तथा अन्य पदार्थ सम्बन्धी चिन्ताओंको त्यागकर अत्यन्त एकाग्र हो दर्शनज्ञानचारित्रका ही ध्यान करो। तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका त्याग कर शुद्ध ज्ञानचेतनामय दर्शनज्ञानचारित्रका ही अनुभव करो। तथा द्रव्यस्वभावके वशसे प्रत्येक क्षणमे बढते हुए परिणामपनसे तन्मय परिणाम होकर दर्शनज्ञानचारित्रमें ही विहार करो। तथा एक निश्चल ज्ञानस्वरूपका ही अवलम्बनकर ज्ञेयरूप उपाधिके कारण सभी ओरसे दौड़कर आते हुए सभी परद्रव्योंमें किञ्चिन्मात्रभी विहार मत करो ॥४१२॥

आगे यही भाव कलशामें दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतसि ।
तस्मिन्नेव निरन्तर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२३९॥

अर्थ—जो यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप एकमोक्षमार्ग निश्चित है उसीमें जो पुरुष स्थितिको प्राप्त होता है, उसीका निरन्तर चित्तमें ध्यान करता है, और अन्य द्रव्योंका स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है वह अवश्य ही नित्य उदित रहनेवाले समयसारको आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप मोक्षको शीघ्र ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयकी जो एकता है वह मोक्षका निश्चित एक ही मार्ग है इसके अतिरिक्त अन्य मार्गोंसे मोक्षकी प्राप्ति अशक्य है। इसलिये जो इसी मोक्षमार्गमें स्थित है, इसीका रातदिन अपने हृदयमें ध्यान करता है तथा अन्य द्रव्योंको अपने उपयोगका विषय न बनाकर इसी रत्नत्रयको तथा उसके आधारभूत जीवद्रव्यको ही अपने उपयोगका विषय बनाता है वह नियमसे शीघ्र ही जिसका नित्य उदय रहता है ऐसे समयसारको प्राप्त होता है। व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका साधक होनेसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चयसे रहितमात्र व्यवहाररत्नत्रयसे मोक्षकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥२३९॥

अब जो मात्र व्यवहारमार्गका आश्रय करते हैं वे समयसारके दर्शनसे वञ्चित रहते हैं यह भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ये त्वेन परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्वावबोधच्युता· ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोक स्वभावप्रभा
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४०॥

अर्थ—और तत्त्वज्ञानसे च्युत हुए जो पुरुष इस निश्चय मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्गमें प्रस्थान करनेवाले अपने आपके द्वारा मात्र द्रव्यलिङ्गमे ममताको धारण करते हैं अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मानते हैं वे उस निर्मल समयसारका आज भी अवलोकन नहीं कर रहे हैं जो नित्य उदयरूप है, अखण्ड है, एक है, अनुपम प्रकाशसे युक्त है तथा स्वभावकी प्रभाका प्राग्भार है।

भावार्थ—आत्माकी शुद्ध परिणतिको समयसार कहते हैं, इसीको परमात्मपद कहते हैं, यह समयसार निरन्तर उदयरूप रहता है अर्थात् एकबार प्राप्त होनेपर फिर कभी भी नष्ट नहीं होता, और जो अखण्ड है अर्थात् गुणगुणीके भेदसे रहित है द्रव्यदृष्टि होनेसे एक है, केवलज्ञानरूप ऐसे प्रकाशसे सहित है जिसकी सूर्य, चन्द्रमा आदिसे प्रकाशसे कभी तुलना नहीं कर सकते, ज्ञान दर्शनरूप जो आत्माका स्वभाव है उसीके पूर्ण विकाससे सहित है तथा रागादिकका अभाव हो जानेसे निर्मल है ऐसे समयसारके दर्शन उन पुरुषोको आज भी दुर्लभ हैं जो मात्र व्यवहारमार्गमें चलकर केवल द्रव्यलिङ्गमे ही ममताभाव रखते हैं उसीको मोक्षमार्ग मानते हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुष तत्त्वज्ञानसे रहित है इसीलिये वे इस ससारमें अनन्तबार मुनिपद धारणकरके भी संसारके ही पात्र बने रहते हैं ॥२४०॥

आगे यही अर्थ गाथामे कहते हैं—

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

अर्थ—जो मुनियोंके लिङ्गमें तथा नानाप्रकारके गृहस्थोंके लिङ्गमे ममता करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो पुरुष 'मैं श्रमण हूँ' तथा 'श्रमणोंका उपासक हूँ' इस प्रकार द्रव्यालिङ्गकी ममतासे मिथ्या अहकार करते हैं वे अनादिकालसे चले आये व्यवहारमें विमूढ हैं तथा उत्कृष्ट भेदज्ञानसे युक्त निश्चयको अप्राप्त हैं ऐसे जीव परमार्थ सत्यरूप भगवान् समयसारको नहीं देखते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष मुनिवेष अथवा गृहस्थोंके नानाप्रकारके वेषको धारण कर यह मानते हैं कि मैं मुनि हूँ अथवा ऐलक, क्षुल्लक आदि हूँ तथा मेरा यही वेष मुझे मोक्षकी प्राप्ति करा देनेवाला है इस प्रकार मात्र व्यवहारमें मूढ रहकर निश्चय मोक्षमार्गकी ओर लक्ष्य नहीं देते। आचार्य कहते हैं कि ऐसे पुरुषोंने समयसारको जाना भी नहीं है उसकी प्राप्ति होना तो दुर्लभ ही है ॥४१३॥

अब यही भाव कलशामें प्रकट करते हैं—

वियोगिनीछन्द

व्यवहारविमूढदृष्टय परमार्थं कलयन्ति नो जना. ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धय कलयन्तीह तुष न तण्डुलम् ॥२४१॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि व्यवहारमें ही विमूढ हैं ऐसे मनुष्य परमार्थको नहीं प्राप्त करते हैं क्योंकि जिनकी बुद्धि तुषज्ञानमें ही विमुग्ध हो रही है ऐसे पुरुष इस संसारमें तुषको ही प्राप्त करते हैं, चावलको नहीं।

भावार्थ—यद्यपि तुष और चावल जबसे धानके पौधेमे उत्पन्न हुए तभीसे साथ-साथ हैं तो भी तुष पृथक् वस्तु है और उसके भीतर रहनेवाला चावल पृथक् वस्तु है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा अनादिकालसे साथ-साथ रहनेसे यद्यपि एक दिखते हैं तो भी शरीर अलग है और आत्मा अलग है। शरीर रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको लिये हुए पुद्गलद्रव्यकी परिणति है और आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभावको लिये हुए स्वतन्त्र जीवद्रव्य है। मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थलिङ्ग शरीरके परिणमन हैं और समयसार आत्माकी परिणति है। इस भेद-विज्ञानको न समझकर जो केवल शरीरकी परिणतिसे समयसारको प्राप्त करना चाहते हैं वे समयसारके लाभसे वञ्चित रहते हैं। जैसे कोई तुषको ही सर्वस्व समझ मात्र उसीकी संभालमें सलग्न रहे और उसके भीतर रहनेवाले चावलकी ओर लक्ष्य न दे तो वह तुषको ही प्राप्त करता है चावलको नहीं, वैसे ही जो शरीरको ही सर्वस्व समझ उसीकी संभालमें सलग्न रहे तथा ज्ञान-दर्शनस्वभावकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे शरीरकी ही प्राप्ति होगी आत्मा की नहीं, अर्थात् वह इसी संसारमें बार-बार जन्म-मरणका पात्र होता रहेगा ॥२४१॥

स्वागताछन्द

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४२॥

अर्थ—द्रव्यलिङ्गके ममकारसे जिनके अभ्यन्तर नेत्र मुद्रित हो गये हैं उनके द्वारा समयसार नहीं देखा जाता है क्योंकि इस लोकमें जो द्रव्यलिङ्ग है वह निश्चयसे अन्याश्रित है और यह जो एक ज्ञान है वह निश्चयसे स्वतः है अर्थात् स्वाश्रित है।

भावार्थ—जो मात्र द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष मानते हैं वे अन्धे हैं। जैसे कोई चश्मा ही को देखनेका उपकरण समझ आँखकी परवाह न करे तो उसे नेत्रशक्तिके बिना पदार्थका अव-लोकन नहीं होता वैसे ही कोई द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षप्राप्तिका साधक मान निश्चय रत्नत्रयकी परवाह न करे तो उसे आभ्यन्तरकी निर्मलताके बिना केवल द्रव्यलिङ्गसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥२४२॥

आगे व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

अर्थ—व्यवहारनय, मुनिलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग—दोनों लिङ्गोंको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिङ्गोंको मोक्षमार्गमें नहीं चाहता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे श्रमण और श्रमणोपासक अर्थात् मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग है यह जो कथन करनेका प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है परमार्थ नहीं है क्योंकि व्यवहारनय स्वयं अशुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप है अतः उसमें परमार्थपनका अभाव है। और श्रमण तथा श्रमणोपासकके विकल्पसे रहित, दर्शनज्ञानचारित्रको प्रवृत्तिमात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है इस प्रकारका निस्तुष अर्थात् परद्रव्यसे रहित जो अनुभव है वह निश्चयनय है, क्योंकि निश्चयनय ही स्वयं शुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप होनेसे परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहारका ही परमार्थ बुद्धिसे अनुभव करते है वे समयसारका ही अनुभव नहीं करते और जो परमार्थका—निश्चयका ही परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयकी अपेक्षा साक्षात् मुनिलिङ्ग और परम्परासे गृहस्थलिङ्ग मोक्षमार्ग है और निश्चयनयकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रवृत्तिरूप एक ज्ञान ही मोक्षमार्ग है ॥४१४॥

आगे आचार्य एक परमार्थके ही अनुभव करनेका उपदेश देते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै—
　　रयमिह परमार्थश्चेत्यता नित्यमेक ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा—
　　न्न खलु समयसारादुत्तर किञ्चिदस्ति ॥२४३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कथन तथा बहुत प्रकारके दुर्विकल्पोसे रुको, उनसे क्या प्रयोजन है ? इस जगत्में निरन्तर इसी एक परमार्थका चिन्तन किया जाय, क्योंकि निज रसके समूहसे परिपूर्ण ज्ञानके विकासरूप समयसारसे बढकर अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—आत्माका जो ज्ञान मोहकी उपाधिसे कलङ्कित होकर परपदार्थमें निजत्वकी कल्पनासे दुःखी हो रहा था, अब उस उपाधिके अभावसे वह परमार्थरूप हो गया, इससे उत्तम और क्या होगा ॥२४३॥

अब ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है यह कलशा द्वारा प्रकट करते है—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेक जगच्चक्षुरक्षय याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षता नयत् ॥२४४॥

अर्थ—जो विकल्पातीत होनेके कारण एक है, जगत्के पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये नेत्रस्वरूप है, अविनाशी है, तथा जो विज्ञानघन और आनन्दमय आत्माकी प्रत्यक्षताको प्राप्त करा रहा है, ऐसा यह ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—विज्ञानघन तथा परमानन्दमय जो आत्मा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानके द्वारा ही होता है। यह ज्ञान विकल्पातीत होनेसे एक है, तथा अविनाशी है और जगत्‌के पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये चक्षुःस्वरूप है। ऐसा यह ज्ञान पूर्णताको प्राप्त होता है ॥२४४॥

अब श्रीकुन्दकुन्दस्वामी समयप्राभृतको पूर्ण करते हुए उसके फलका प्रतिपादन करते हैं—

जो समयपाहुडमिण पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउ ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्ख ॥४१५॥

अर्थ—जो आत्मा इस समय प्राभृतको पढ़कर अर्थ और तत्त्वसे अवगतकर इसके अर्थमे स्थिर होगा वह उत्तम सुख स्वरूप होगा।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो पुरुष समयसारभूत भगवान् परमात्माका जो कि विश्वका प्रकाशक होनेसे विश्वसमय कहा जाता है प्रतिपादन करनेसे शब्दब्रह्मके समान आचरण करनेवाले इस समयप्राभृत नामक शास्त्रको पढकर समस्त पदार्थोंके प्रकाशनमे समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशस्वरूप परमात्माका निश्चय करता हुआ अर्थ और तत्त्वसे इसे जानकर इसीके अर्थभूत एक, पूर्ण तथा विज्ञानघन परमब्रह्ममे सम्पूर्ण आरम्भके साथ अर्थात् पूर्ण प्रयत्न द्वारा स्थित होगा वह साक्षात् तथा उसी समय विकसित एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमें अच्छी तरह स्थित तथा निराकुल आत्मस्वरूप होनेसे परमानन्द शब्दके वाच्य, उत्तम तथा अनाकुलतालक्षणसे युक्त सुखस्वरूप स्वय हो जावेगा।

भावार्थ—यह समयप्राभृत नामक शास्त्र, समय अर्थात् आत्माकी सारभूत अवस्था जो परमात्मपद है उसका प्रतिपादन करता है इसलिये शब्दब्रह्मके समान है इसका जो महानुभाव अच्छी तरह अध्ययन कर 'समस्त पदार्थोंके प्रकाशन करनेमें समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशमय परमात्मा है' ऐसा निश्चय करता हुआ इसी समयप्राभृत शास्त्रके प्रतिपाद्य विषयभूत विज्ञानघन एक परमब्रह्ममें अर्थात् शुद्धात्म परिणतिमें पूर्ण उद्यमके साथ स्थित होता है अर्थात् उसीमे अपना उपयोग स्थिर करेगा वह स्वयं निराकुल सुखस्वरूप होगा। इस तरह निराकुल सुखकी प्राप्ति ही इस समयप्राभृत शास्त्रके अध्ययनका फल है। अतएव हे भव्यात्माओ ! अपने कल्याणके अर्थ इस शास्त्रका अध्ययन करो, कराओ, सुनो, सुनाओ, मनन करो। इसी पद्धतिसे अविनाशी सुखके पात्र होओगे ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है ॥४१५॥

अब ज्ञान ही आत्माका तत्त्व है यह बतलानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इतीदमात्मनस्तत्त्व ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमवस्थितम् ॥२४५॥

अर्थ—इस प्रकार यह आत्माका तत्त्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ। यह ज्ञान अखण्ड है, एक है, अचल है, स्वसंवेदनके योग्य है तथा अविनाशी है।

भावार्थ—आत्माका निजरूप ज्ञानमात्र ही कहा है। आत्मा अनन्तधर्मोंका पिण्ड है, उनमें कई धर्म तो साधारण और कितने ही असाधारण हैं। उन असाधारण धर्मोंमें भी कई ऐसे हैं जो सर्वसाधारणके गोचर नहीं है। चेतन सामान्य भी, दर्शनज्ञान पर्यायोंके बिना अनुभवमें नहीं आता। इन दर्शनज्ञानमें भी जो ज्ञानगुण है वह साकार है और इसीकी महिमा है क्योंकि यही सर्व पदार्थोंकी व्यवस्था योग्य रीतिसे करता है। इसी कारण मुख्यतासे ज्ञानमात्र आत्माको कहा है सो यही परमार्थ है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य गुण मिथ्या हैं। यदि कोई ज्ञानको ही मान अन्यको कुछ भी नहीं माने, जो कुछ है सो ज्ञान ही का विकार है ऐसे विज्ञानाद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादीकी तरह श्रद्धा भर लेवे तो वह मुनिव्रत पालन करके भी मोक्षका पात्र नहीं हो सकता है। मन्द कषायसे स्वर्ग चला जावे तो चला जावे, कुछ यथार्थ लाभ नहीं हुआ। इसलिये स्याद्वादके द्वारा वस्तुतत्त्वको यथार्थ जानना चाहिये ॥२४५॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामी विरचित समयप्राभृतमें सर्वविशुद्धज्ञान
नामका नौवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ।

•

१०. स्याद्वादाधिकार

अनुष्टुप्

अथ स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति ।
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४६॥

अर्थ—अब स्याद्वादकी शुद्धिके लिये वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था और उपायोपेयभावका फिर भी कुछ विचार किया जाता है ॥२४६॥

निश्चयसे स्याद्वाद, वस्तुतत्त्वको सिद्ध करनेवाला अर्हन्त भगवान्‌का एक अस्खलित शासन है अर्थात् इसका कोई खण्डन नहीं कर सकता है। यह स्याद्वाद 'सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं' ऐसा उपदेश देता है क्योंकि सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वभाववाली हैं। यद्यपि इस समयप्राभृतग्रन्थमें आत्माको ज्ञानमात्र कहा गया है तो भी इससे स्याद्‌वादका कोप नहीं होता है अर्थात् स्याद्वादकी मान्यतामें कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि ज्ञानमात्र जो आत्मा नामक वस्तु है वह स्वयं अनेकान्तरूप है। यहाँ जो वस्तु तत्रूप है वही अतत्रूप है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इस तरह एक ही वस्तुके वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशन करना अनेकान्त है। आत्मामें इसी अनेकान्तकी पद्धतिसे ऊपर कही हुई परस्पर विरुद्ध शक्तियोका समन्वय इस प्रकार होता है—

यह स्वकीय आत्मा नामक वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तथापि अभ्यन्तरमे प्रकाशमान ज्ञानस्वरूपकी अपेक्षा तो तत्रूप अर्थात् ज्ञानरूप है और बाहरमे प्रकट होनेवाले अनन्तज्ञेयों, जो कि स्वरूपसे अतिरिक्त परद्रव्य हैं, उनरूप न होनेके कारण अतत्रूप भी है अर्थात् ज्ञानरूप नहीं है। यह आत्मा सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतनके अंशोंके समुदायरूप अखण्ड द्रव्यकी अपेक्षा एक है और अखण्ड एक द्रव्यमे व्याप्त होकर रहनेवाले सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतनके अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूप है। स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके परिणमनकी शक्तिरूप स्वभावसे युक्त होनेके कारण सत्‌रूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अपरिणमनकी शक्तिरूप स्वभावसे युक्त होनेके कारण असत्‌रूप है। अनादिनिधन अविभागी एकवृत्तिरूप परिणत होनेसे नित्य है और क्रम-क्रमसे एक-एक समयमे प्रवर्तनेवाले अनेक पर्यायांशोंमें परिणत होनेसे अनित्य है। इस तरह आत्मामें तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, तथा नित्य-अनित्यरूप परस्पर विरोधी धर्मोंका पुञ्ज प्रकाशमान होता ही है।

यहाँ कोई आशङ्का करता है कि आत्मवस्तुके ज्ञानमात्र होनेपर भी यदि स्वयं ही अनेकान्त प्रकाशमान रहता है तो फिर अर्हन्त भगवान्‌के द्वारा उस ज्ञानमात्रपनकी सिद्धिके लिये अनेकान्तका उपदेश किसलिये दिया जाता है? इस आशङ्काका उत्तर देते हुए आचार्य

कहते हैं कि अज्ञानी जीवोंके लिये ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी सिद्धिके अर्थ अर्हन्त भगवान्के द्वारा अनेकान्तका उपदेश दिया जाता है, हम ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती। उसीको स्पष्ट करते हैं—

स्वभावसे ही अनेकभावोंसे भरे हुए विश्वमे सब भावोंके स्वभावसे अद्वैतपन होनेपर भी द्वैतपनका निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिये समस्त वस्तुएँ स्वभावमे प्रवृत्ति और परभावसे व्यावृत्तिरूप होनेके कारण दो भावोंसे युक्त है, ऐसा नियम है। उन सर्व वस्तुओंमें जब यह ज्ञानमात्रभाव अर्थात् आत्मा, शेषभावोंके साथ निजरसके भारसे प्रवर्तित ज्ञातृ-ज्ञेय-सम्बन्धके कारण अनादिकालसे ज्ञेयरूप परिणमन होनेसे ज्ञानतत्त्वको पररूप मानकर अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब स्वरूपसे तत्त्व अर्थात् ज्ञानरूपताको प्रकट करके ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण उसे ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है—उसे उज्जीवित करता है—नष्ट होनेसे बचाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी दर्पणमे सम्मुख स्थित मयूरका प्रतिबिम्ब पड रहा है और उस प्रतिबिम्बके कारण दर्पण मयूररूप ही दिख रहा है। यहाँ प्रतिबिम्बकी अपेक्षा कोई दर्पणको 'यह मयूर है' ऐसा कहता है। इस कथनमे दर्पणका अभाव प्रकट होता है। उसी प्रकार स्वच्छताके कारण ज्ञानमात्र आत्मामे अनादिकालसे ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित हो रहे है और उन प्रतिबिम्बोंके कारण ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेयाकार जान पड़ता है। यहाँ ज्ञेयाकार परिणतिके कारण कोई ज्ञानमात्र आत्माको 'यह अमुक ज्ञेय है' ऐसा कहता है, इस कथनमे आत्माका अभाव प्रकट होता है। परन्तु अनेकान्त आकर कहता है—नहीं भाई! यह मयूर नहीं है किन्तु दर्पण है, स्वच्छताके कारण इसमे मयूरका प्रतिबिम्बमात्र पड रहा है, इस प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे मयूर भले ही कहते रहो परन्तु दर्पणपनका नाश नहीं हो सकता, दर्पण दर्पण ही है। इसी तरह ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन होनेपर भी अनेकान्त कहता है—नहीं भाई! यह ज्ञेय नहीं है किन्तु ज्ञान है, स्वच्छताके कारण इसमे ज्ञेयका प्रतिबिम्बमात्र पड रहा है, इस प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे ज्ञेय भले ही कहते रहो परन्तु ज्ञानपनका नाश नहीं हो सकता, ज्ञान ज्ञान ही है॥ १॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव, 'निश्चयसे यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्वको ज्ञानस्वरूपसे स्वीकार कर विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है अर्थात् अपने आपको विश्वरूप मान कर अपनी ज्ञानरूपताको नष्ट करता है तब अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता क्योंकि वह दिखलाता है कि ज्ञानमे जो अतद्रूपता है वह पररूपकी अपेक्षा है अर्थात् विश्वाकार परिणमनकी अपेक्षा है। स्वरूपकी अपेक्षा जो ज्ञान विश्वसे भिन्न ही है, उसकी ज्ञानरूपताको कौन नष्ट कर सकता है?॥२॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयोंके आकारसे सकल एक ज्ञानाकारको खण्डित करता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब द्रव्यकी अपेक्षा एकपनको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामने रखे हुए दर्पणमें सेनाका प्रतिबिम्ब पड रहा है, उस प्रतिबिम्बसे दर्पण, हाथी, घोड़ा, रथ आदि पदार्थरूप दिखता है उन पदार्थोंको देखकर एक ही दर्पणको हाथी, घोडा, रथ आदि नानारूप कहा जाता

है उसी प्रकार एक ही ज्ञानमें अनेक पदार्थोंके आनेसे ज्ञानको अनेकरूप कहा जाता है। तब अनेकान्त कहता है कि जिस प्रकार दर्पणमे हाथी, घोड़ा, रथ आदिके प्रतिबिम्बके कारण अनेकरूपता है दर्पणकी अपेक्षा नहीं, दर्पण तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मामें अनेक ज्ञेयाकार परिणमन होनेसे अनेकरूपता है, द्रव्यकी अपेक्षा नहीं, द्रव्य तो एक ही है। इस तरह अनेकान्त ही आत्माकी एकरूपताको जीवित रखता है।।३।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, एक ज्ञानका आकार ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयोंके आकारके त्यागसे अपने आपको नष्ट करता है तब पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकपनको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि एक ज्ञानाकारकी अपेक्षा ज्ञानमात्रभाव एक है उसमे अनेक ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित होनेसे जो अनेकरूपता दिखती है वह नहीं है इस तरह जब एकरूपताके एकान्तको पक्ष लेकर ज्ञानभावकी अनेकरूपताका नाश किया जाता है तब अनेकान्त कहता है कि एक ज्ञानाकारकी अपेक्षा ज्ञानभावमे एकरूपता भले ही रहे परन्तु अनेक ज्ञेयाकारोंके प्रतिबिम्ब पडनेसे उसमे जो अनेकरूपता अनुभवमें आती है उसका निषेध कौन कर सकता है ? इस तरह ज्ञानभावकी अनेकरूपताको सिद्ध कर अनेकान्त ही उसे नष्ट होनेसे बचाता है ।।४।।

जब ज्ञानके विषयभूत परद्रव्यरूप परिणमन करनेसे ज्ञाता द्रव्यको परद्रव्यरूप मानकर नाशको प्राप्त होता है तब स्वद्रव्यकी अपेक्षा सत्त्वको सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्रभाव जो ज्ञातादृव्य (आत्म।) है वह जिस कालमे जिस पदार्थको जानता है उस कालमे उस पदार्थरूप हो जाता है। जैसे घटको जाननेवाला आत्मा घटरूप हो जाता है। ऐसा कथन करनेवाला एकान्ती ज्ञाताको ज्ञेयरूप स्वीकार कर अपना नाश करता है। परन्तु अनेकान्त कहता है कि आत्मा घटरूप होने पर भी स्वरूपकी अपेक्षा नाशको प्राप्त नहीं हो सकता, वह स्वद्रव्यकी अपेक्षा सदा सत्त्वरूप रहता है। इस तरह अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है ।।५।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ' इस तरह परद्रव्यको ज्ञातृद्रव्यरूपसे स्वीकृत कर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब आत्मद्रव्यमे परद्रव्यकी सत्ता नहीं है ऐसा सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि आत्मामें जिन द्रव्योंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वे सब द्रव्य मैं ही हूँ ऐसी श्रद्धासे जब यह आत्मा परद्रव्यको ज्ञाता द्रव्य मानकर अपने आपका नाश करने लगता है तब अनेकान्त कहता है कि परद्रव्योंका तुझमें प्रवेश हुआ ही कब है ? जानने मात्रसे तूँ परद्रव्य तेरा नहीं हो सकता। इस तरह परद्रव्यके असत्त्वको बताकर आत्माको अनेकान्त ही नष्ट होनेसे बचाता है ।।६।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थोंके आकार परिणमन करनेसे पर क्षेत्ररूप होते हुए ज्ञानको स्वीकार कर नाशको प्राप्त होता है तब स्वक्षेत्रकी अपेक्षा अस्तित्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान परक्षेत्र सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेसे अपनेको परक्षेत्ररूप मान कर नष्ट होने लगता है तब अने-

कान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि ज्ञान स्वक्षेत्रकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है केवल परक्षेत्रगत पदार्थोंका आकार पड़नेसे वह नष्ट नहीं होता ।।७।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, स्वक्षेत्रमें रहनेके लिये परक्षेत्रगत ज्ञेयोंके आकारके त्यागसे ज्ञानको तुच्छ करता हुआ अपने आपको नष्ट करता है क्योंकि स्वक्षेत्रमें रहकर ही पर क्षेत्रगत ज्ञेयोंके आकार परिणमन करना ज्ञानका स्वभाव है, इसलिये परक्षेत्रकी अपेक्षा नास्तित्वको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि जब जब ज्ञान परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयोके आकाररूप परिणमनको छोडकर स्व-क्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयोंके आकार परिणमन करता है तब ज्ञानका नाश होता हुआ जान पड़ता है उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि स्वक्षेत्रमे रहता हुआ ही ज्ञान पर क्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयोंके आकाररूप परिणमन करता है क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है अतः परक्षेत्रकी अपेक्षा ही ज्ञानमे नास्तित्वका व्यवहार होता है ।।८।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, पूर्वालम्बित पदार्थोंके विनाशकालमे ज्ञानका असत्त्व स्वीकार कर नाशको प्राप्त होता है तब स्वकालकी अपेक्षा सत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान पूर्वमे आलम्बित पदार्थोंको छोड़कर नवीन पदार्थोंका आलम्बन लेता है तब पूर्वालम्बित पदार्थोंके आकारका विनाश हो जाता है। इस दशामें कोई यह मानता है कि ज्ञान असद्भावको प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है उसके लिये अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि पूर्व लम्बित पदार्थके नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वरूप ही रहता है ।।९।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, 'पदार्थके आलम्बनकालमे ही ज्ञानका सत्त्व रहता है अन्य कालमे 'नहीं' ऐसा स्वीकार कर अपने आपको नष्ट करता है तब परकालकी अपेक्षा ज्ञानके असत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है—किसीका कहना है कि जिस समय ज्ञान पदार्थोंको जानता है उसी समय उसका सत्त्व रहता है अन्य समयमे नहीं। इस तरह जाननेके अतिरिक्त समयमे ज्ञानका नाश हो जाता है इस स्थितिमें अनेकान्त ही यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि परकालकी अपेक्षा ही ज्ञानका असत्त्व हो सकता है स्वकालकी अपेक्षा नही।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, ज्ञानके विषयभूत परभावरूप परिणमन करनेसे ज्ञायक-भावको परभावरूपसे स्वीकारकर नाशको प्राप्त होता है तब स्वभावसे सत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—जब ज्ञानमें परभावका विचार आता है तब परभावरूप उसका परिणमन होता है, एतावता ज्ञान परभाव होकर नाशको प्राप्त होने लगता है। उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि स्वभावसे ज्ञानका सदा सत्त्व ही रहता। जानने की अपेक्षा परभावरूप होनेपर भी ज्ञानका स्वभावकी अपेक्षा कभी नाश नहीं हो सकता ।।११।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इस प्रकार परभावको ज्ञायकभावरूपसे

मानकर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब परभावकी अपेक्षा असत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय परभाव ज्ञानमें आते हैं उस समय उन भावोंका ज्ञानरूप परिणमन होता है। एतावता ज्ञानका परभावरूप परिणमन स्वीकार करनेसे ज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आता है तब अनेकान्त यह कहकर उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि ज्ञानका असत्त्व परभावकी अपेक्षा है स्वभावकी अपेक्षा नहीं ॥१२॥

जब वह ज्ञानमात्र भाव, अनित्य ज्ञानविशेषोंके द्वारा खण्डित हो गया है नित्य सामान्यज्ञान जिसका ऐसा होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा नित्यपनको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है— एक तो सामान्यज्ञान है जो सदा विद्यमान रहनेसे नित्य कहलाता है और एक घटपटादिकका विशेषज्ञान है जो उत्पन्न होता और विनशता रहता है इसलिये अनित्य कहलाता है। जिस समय ज्ञानका अनित्य ज्ञानविशेषरूप परिणमन होता है उस समय नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हो जाता है एतावता ज्ञानके नाशका अवसर आता है तब अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा ज्ञान नित्य है अर्थात् उसका नाश नहीं होता। विशेष ज्ञान उत्पन्न होता और विनशता रहता है, इसलिये उसकी अपेक्षा नाश भले ही हो, पर सामान्यज्ञानकी अपेक्षा उसका नाश नहीं हो सकता ॥१३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव, नित्यज्ञानसामान्यको ग्रहण करनेके लिये अनित्यज्ञान-विशेषके त्यागद्वारा अपने आपका नाश करता है तब ज्ञानविशेषरूपसे अनित्यताको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानका, ज्ञानसामान्य और ज्ञानविशेषके भेदसे दो प्रकारका परिणमन होता है। इनमे ज्ञानसामान्य नित्य है और ज्ञानविशेष अनित्य है। जिस समय ज्ञान, ज्ञानसामान्यरूप परिणमनको ग्रहण करनेके लिये ज्ञानविशेषरूप परिणमनका त्याग करता है उस समय ज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आता है परन्तु अनेकान्त यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट नहीं होने देता कि ज्ञानविशेषकी अपेक्षा ही ज्ञानमें अनित्यता हो सकती है ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा नहीं। अर्थात् ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा उसका कभी नाश नहीं होता ॥१४॥

भावार्थ—यहाँ तत्-अतत्के २ भङ्ग, एक-अनेकके २ भङ्ग, सत्-असत्के द्रव्यक्षेत्रकाल-भावकी अपेक्षा ८ भङ्ग, और नित्य-अनित्यके २ भङ्ग, इस प्रकार सब मिलाकर १४ भङ्ग होते है। इन सभी भङ्गोंमे यह बताया गया है कि एकान्तसे ज्ञानमात्र (आत्माका) अभाव होता है और अनेकान्तसे आत्मा जीवित रहता है। अर्थात् एकान्तसे आत्माका यथार्थ बोध नहीं होता और अनेकान्तसे यथार्थ बोध होता है।

अब इन १४ भङ्गोंके १४ कलशा कहते हैं। उनमें प्रथम भङ्गका कलशा इस प्रकार है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।

यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४७॥

अर्थ—जो बाह्य ज्ञेय पदार्थोंके द्वारा सब ओरसे पिया गया है, अपनी प्रकटता छूट जानेसे जो रिक्त हुआ है, तथा जो सम्पूर्णरूपसे पररूपमें ही विश्रान्त हुआ है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादीका ज्ञान नष्ट होता है और 'जो तत् है वह स्वरूपसे ही तत् है' ऐसा स्याद्वादीका जो ज्ञान है वह अतिशयरूपसे प्रकट घनस्वभावके भारसे पूर्ण होता हुआ उन्मग्न होता है—उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—कोई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अनादिकालसे ज्ञेयाकार ही परिणम रहा है और इस तरह परिणम रहा है कि उसकी निजकी प्रकटता छूट गई है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेय ही अनुभवमें आता है, ज्ञान अनुभवमें नहीं आता तथा वह परसे उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा पररूपमें ही विश्रान्त रहता है अर्थात् सर्वथा पराधीन ही रहता है। आचार्य कहते हैं कि पशुके समान अज्ञानी एकान्तवादीका जो तथाकथित ज्ञान है वह नष्ट हो जाता है। परन्तु स्याद्वादी ऐसा मानते हैं कि जो तत् है वह स्वरूपसे ही तत् है अर्थात् ज्ञान स्वकीय स्वभावसे ज्ञान है ज्ञेयाधीन ज्ञान नहीं है। इसलिये वह अतिशयरूपसे प्रकट अपने घनस्वभावसे परिपूर्ण होता हुआ सदा उदित रहता है। यह प्रथम तत्स्वरूप भङ्ग है ॥२४७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४८॥

अर्थ—विश्व, ज्ञान है अर्थात् समस्त ज्ञेय ज्ञानमय है ऐसा विचारकर समस्त जगत्को निजतत्त्वकी आशासे देखकर विश्वरूप हुआ अज्ञानी एकान्तवादी, पशुके समान स्वच्छन्द चेष्टा करता है परन्तु स्याद्वादको देखनेवाला ज्ञानी पुरुष, जो तत् है वह पररूपसे तत् नहीं है अर्थात् ज्ञान पररूपसे ज्ञान नहीं है किन्तु स्वरूपसे ज्ञान है, वह ज्ञान विश्वसे भिन्न है और समस्त विश्वसे घटित नहीं है अर्थात् समस्त ज्ञेयवस्तुओंसे घटित होनेपर ज्ञेयस्वरूप नहीं है, इस तरह ज्ञानके स्वतत्त्व—निजस्वरूपका अनुभव करता है।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ ज्ञानके विषय हैं, इसलिये 'समस्त विश्व ज्ञान है' ऐसा समझ एकान्तवादी अपने आपको विश्वमय मानता है और समस्त संसारको स्वतत्त्व मानकर पशुकी तरह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु स्याद्वादी उस ज्ञानतत्त्वके निजस्वरूपको अच्छी तरह समझता है, वह जानता है कि ज्ञान, स्वरूपकी अपेक्षा तत्रूप है, पररूपकी अपेक्षा तत्रूप नहीं है। इसीलिये ज्ञान, ज्ञेयोंके आकार परिणमता हुआ भी उनसे भिन्न है। यह अतत्स्वरूपका भङ्ग है ॥२४८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसज्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२४९॥

अर्थ—बाह्य पदार्थोंके ग्रहणरूप स्वभावके भारसे सब ओरसे उल्लसित होनेवाले नाना ज्ञेयोंके आकारसे जिसकी शक्ति खण्ड-खण्ड हो गई है तथा इसी कारण जो सब ओरसे टूट रहा है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नाशको प्राप्त होता है और सदा उदित रहनेवाले एक द्रव्य-स्वभावसे भेदके भ्रमको नष्ट करनेवाला अनेकान्तका जाननेवाला, जिसका निर्बाध अनुभव हो रहा है ऐसे ज्ञानको एक देखता है।

भावार्थ—पदार्थोंको ग्रहण करना ज्ञानका स्वभाव है उस स्वभावके कारण उसमे सब ओरसे अनेक ज्ञेयोंके आकार उल्लसित होते रहते है इसलिये सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञानको अनेक खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय आत्माका नाश करता है परन्तु स्याद्वादी ज्ञानको ज्ञेयाकारोंकी अपेक्षा अनेकरूप होनेपर भी सदा उदित रहनेवाले द्रव्यस्वरूपकी अपेक्षा एक देखता है तथा इस एक ज्ञानके अनुभवनमें कोई बाधा भी नहीं आती। यह एकस्वरूप भङ्ग है ॥२४९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५०॥

अर्थ—ज्ञेयोके आकाररूप कलङ्कसे मलिन ज्ञानमें प्रक्षालनकी कल्पना करता हुआ अज्ञानी एकान्तवादी एकाकार करनेकी इच्छासे यद्यपि ज्ञान स्पष्ट ही अनुभवमे आ रहा है फिर भी उसकी इच्छा नहीं करता है अर्थात् उसे नष्ट करना चाहता है। वास्तवमे जो ज्ञान ज्ञेयाकाराकी विचित्रताके होनेपर भी अविचित्रताको प्राप्त है तथा स्वतः क्षालित है—उज्ज्वल है वह ज्ञान पर्यायोकी अपेक्षा अनेकताका भी स्पर्श कर रहा है ऐसा अनेकान्तका ज्ञाता देखता है।

भावार्थ—ज्ञेयोंके आकारके कारण ज्ञानमे जो अनेकरूपता दिखती है उसे कलङ्क समझ एकान्ती धो डालना चाहता है। वह ज्ञानको एकरूप ही करना चाहता है इसलिये अनेक-रूपतासे युक्त ज्ञान यद्यपि प्रकट अनुभवमें आता है तो भी एकान्तवादी उसे नहीं मानता है, उसका नाश करना चाहता है। परन्तु अनेकान्तका ज्ञाता स्याद्वादी ऐसा जानता है कि ज्ञानमें यद्यपि ज्ञेयाकारोंकी विभिन्नतासे जायमान अनेकरूपता है तो भी वह एकरूपताको प्राप्त है

और इस ज्ञेयाकाररूप कलङ्कसे स्वयं रहित है फिर भी पर्यायोकी अपेक्षा अनेकरूपताको भी प्राप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न ज्ञेयोंको जाननेसे ज्ञानमे जो भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् विकल्प आते हैं वे सब ज्ञानकी पर्याये है। उन पर्यायोंके ऊपर जब लक्ष्य दिया जाता है तब वह ज्ञान अनेकरूप मालूम होता है। यह अनेकस्वरूप भङ्ग है ॥२५०॥

शार्दूलविक्रीडित

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चित
स्वद्रव्यानवलोकनेन परित शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुण सद्य समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥२५१॥

अर्थ—प्रत्यक्षरूपसे चित्रित स्फुट और निश्चल परद्रव्यके अस्तित्वसे ठगाया हुआ अज्ञानी एकान्तवादी स्वद्रव्यके न दिखनेसे सम्पूर्णरूपसे शून्य हुआ नष्ट होता है परन्तु स्याद्वादी शीघ्र ही प्रकट होनेवाले निर्मल ज्ञानरूप तेजके द्वारा अच्छा तरह देखकर स्वद्रव्यके अस्तित्वसे पूर्ण होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ—एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञानमे ज्ञेयरूपसे प्रतिबिम्बित परद्रव्यके अस्तित्वको देखकर ज्ञानको परद्रव्यरूप ही समझने लगता है। ज्ञेयके अतिरिक्त ज्ञान भी कोई द्रव्य है इस ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। एतावता ज्ञानरूप स्वीय द्रव्यके अस्तित्वसे शून्य हुआ वह अज्ञानी नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी ज्ञानी जीवके, ज्ञानमे प्रतिबिम्बित ज्ञेयको देखते ही तत्काल ऐसा निर्मल ज्ञान प्रकट होता है कि जिसके प्रभावसे उसे ज्ञेयके अतिरिक्त ज्ञानरूप स्वीय द्रव्यका अस्तित्व स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। फलस्वरूप वह स्वीय द्रव्यके अस्तित्वको स्वीकृत करता हुआ सदा जीवित रहता है। यह स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तित्वका भङ्ग है ॥२५१॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वद्रव्यमय प्रपद्य पुरुष दुर्वासनावासित
स्वद्रव्यभ्रमत. पशु. किल परद्रव्येषु विश्राम्यति
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिता
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५२॥

अर्थ—मिथ्यावासनासे वासित अज्ञानी एकान्तवादी, आत्माको सर्व द्रव्यमय स्वीकार कर स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योमे विश्राम करता है। परन्तु निर्मल शुद्धज्ञानकी महिमाका धारक स्याद्वादी समस्त वस्तुओंमे परद्रव्यरूपसे नास्तिताको जानता हुआ स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है।

भावार्थ—ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ज्ञेयरूपसे उसमे सर्व द्रव्योंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। एतावता उन प्रतिबिम्बित परद्रव्योंको स्वद्रव्य समझ कर अज्ञानी जीव उन्हींमे लीन रहता है अर्थात् वह ज्ञानको परद्रव्यरूप मानता है परन्तु जिनागमके अध्ययनसे जिसके ज्ञानकी

महिमा अतिशय निर्मल है ऐसा स्याद्वादी ज्ञानी पुरुष समस्त वस्तुओंसे परद्रव्यके नास्तित्वको स्वीकृत करता हुआ सदा स्वद्रव्यमें ही लीन रहता है । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव समस्त पदार्थोंको स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप और परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तिरूप श्रद्धान करता है। यह परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तित्वका अङ्ग है ॥२५२॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ सदा
सीदत्येव बहि पतन्तमभित पश्यन्पुमांस पशु ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभस स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५३॥

अर्थ—जो भिन्न क्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोंके निश्चित व्यापारमे स्थित है अर्थात् जो ऐसा मानता ह कि ज्ञानरूप पुरुष (आत्मा) परक्षेत्रमे स्थित पदार्थोंको जानता है ऐसा अज्ञानी, एकान्तवादी पुरुष (आत्मा) को सब ओरसे बाह्य पदार्थोंमे ही पड़ता हुआ देख निरन्तर दुःखी होता है—नष्ट होता है । परन्तु स्याद्वादको जाननेवाला ज्ञानी, स्वक्षेत्रके अस्तित्वसे जिसका वेग रुक गया है तथा जिसके जाननेरूप व्यापारकी शक्ति स्वक्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोंमे नियत है, ऐसा होता हुआ विद्यमान रहता है—नष्ट नहीं होने पाता ।

अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्रमे स्थित ज्ञेय पदार्थोंके जाननेरूप व्यापारमे प्रवृत्त पुरुषको सब ओरसे बाह्य पदार्थोंमे पडता हुआ देख नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादका ज्ञाता मानता है कि पुरुष (आत्मा) स्वक्षेत्रमे स्थित रहकर अन्य क्षेत्रमे स्थित ज्ञेयोको जानता है। अज्ञानीके मतमे जिस प्रकार पुरुष बाह्य पदार्थोंमे वेगसे पडता है या वैसा स्याद्वादीके मतमे नहीं पडता, स्वक्षेत्रके अस्तित्वसे उसका वेग रुक जाता है, वह अपने आपमे प्रतिबिम्बित जो ज्ञेय है उन्हींको जानता है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी नाशको प्राप्त नहीं होता। यह स्वक्षेत्रमें अस्तित्वका भग है ॥२५३॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
त्तुच्छीभूय पशु प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन्
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तिता
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५४॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी स्वक्षेत्रमे ठहरनेके लिये परक्षेत्रमे स्थित नानाप्रकारके ज्ञेय पदार्थोंके छोड़नेसे तुच्छ होकर ज्ञेय पदार्थोंके साथ चिदाकारोको भी छोड़ता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी स्वक्षेत्रमे बसता हुआ तथा परक्षेत्रमें अपनी नास्तिताको जानता हुआ यद्यपि परक्षेत्रगत बाह्य ज्ञेयोंको छोडता है तो भी तुच्छताका अनुभव नहीं करता—नाशको प्राप्त नहीं होता क्योंकि स्वक्षेत्रमे स्थित रहता हुआ भी परक्षेत्रगत पर पदार्थोंको आकार द्वारा खींचता रहता है अर्थात् उनका आकार ज्ञानमें प्रतिभासित होता रहता है।

भावार्थ—स्वक्षेत्रमें स्थित ज्ञानमें परक्षेत्रगत पदार्थोंका आकार प्रतिफलित होता है। एतावता एकान्तवादी अज्ञानी यह समझ कर कि यदि चैतन्यके आकारोंको अपना मानूँगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा, इसलिये जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको छोड़ता है उसी प्रकार ज्ञानमें पड़े हुए उनके आकारोको भी छोड़ता है। इस तरह तुच्छ होकर वह एकान्तवादी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी समझता है कि हमारा ज्ञान स्वक्षेत्रमे अस्तिरूप है तथा पर क्षेत्रमें नास्तिरूप है। जब परक्षेत्रमे नास्तिरूप है तब उसका परक्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयोके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस तरह बाह्य ज्ञेयोका यद्यपि वह त्याग करता है तो भी अपनी स्वच्छतासे परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयोंके आकाराको ग्रहण करता रहता है। उन आकारोंकी अपेक्षा वह ज्ञान नाशको प्राप्त नहीं होता। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि एकान्तवादी तो नष्ट होता है और स्याद्वादी जीवित रहता है। यह परक्षेत्रकी अपेक्षा नास्तित्वका भङ्ग है ॥२५४॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५५॥

अर्थ—अज्ञानी, एकान्तवादी जिनका पूर्वकालमें आलम्ब लिया गया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थोंके नाशके समय ज्ञानका नाश जानता हुआ समझता है कि हमारे पास कुछ भी नहीं रहा, इस तरह अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नियमसे नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादको जाननेवाला पुरुष निजकालकी अपेक्षा ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करता है। इसलिये बाह्य वस्तुओके बार-बार होकर नष्ट हो जानेपर भी पूर्ण ही ठहरता है अर्थात् नाशको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—एकान्तवादी, अज्ञानी पदार्थोंके आलम्बनसे ज्ञान होता है, ऐसा मानता है। एतावता जब पूर्वकालमे आलम्बित पदार्थोंका नाश हो जाता है तब विवश होकर उसे मानना पड़ता है कि ज्ञानका भी नाश हो जाता है। इस तरह ज्ञानका नाश होनेपर वह कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। तब अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाशको प्राप्त होता है परन्तु स्याद्वादी ज्ञान और ज्ञेयके अस्तित्वको पृथग् पृथग् मानता है इसलिये पूर्वालम्बित ज्ञेयोंका नाश होने पर उनके अस्तित्वको नष्ट हुआ मानता है, न कि, ज्ञानके अस्तित्वको। ज्ञान स्वकालकी अपेक्षा अपने अस्तित्वको सदा सुरक्षित रखता है। बाह्य ज्ञेय अपने-अपने चतुष्टयकी अपेक्षा उत्पन्न होते हैं तथा नाशको भी प्राप्त होते हैं परन्तु इससे ज्ञानका अस्तित्व नष्ट नहीं होता। इस वस्तु विवेचनको स्वीकृत करनेवाला स्याद्वादी सदा स्थित रहता है—नष्ट नहीं होता। यह स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वका भङ्ग है ॥२५५॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।

नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥२५६॥

अर्थ—एकान्तवादी अज्ञानी, पदार्थोंके आलम्बनकालमें ही ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करता हुआ बाह्य ज्ञेयोंके आलम्बनकी इच्छासे युक्त मनसे भ्रमण करता है अर्थात् इस विचारमे निमग्न रहता है कि बाह्य ज्ञेयोंका आलम्बन मिले तो हमारे ज्ञान उत्पन्न हो। ऐसी विचारधारावाला एकान्तवादी अज्ञानी अर्थालम्बनकालके अतिरिक्तकालमें ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार न करता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी परकालकी अपेक्षा ज्ञानके नस्तित्वको स्वीकार करता हुआ भी आत्मामे अतिशयरूपसे गड़े हुए अर्थात् तादात्म्यभावसे स्थित नित्य सहज ज्ञानका एक पुञ्ज होता हुआ सदा स्थित रहता है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—एकान्तवादोका कहना है कि ज्ञानका अस्तित्व ज्ञेयपदार्थोंके आलम्बनकालमें ही रहता है अन्यकालमे नहीं। एतावता जब ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नहीं रहता तब ज्ञान भी नहीं रहता, इस तरह ज्ञानके नाशको स्वीकार करता हुआ एकान्तवादी अज्ञानी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि परकालकी अपेक्षा ही ज्ञानका नास्तित्व है स्वकालकी अपेक्षा नहीं। ज्ञानका आत्माके साथ नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है अतः आत्मा निरन्तर नित्य साहजिक ज्ञानका एक पुञ्जरूप होता हुआ सदा विद्यमान रहता है। यह परकालकी अपेक्षा नास्तित्वका भङ्ग है ॥२५६॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५७॥

अर्थ—जो परभावको ही अपना भाव समझकर निरन्तर बाह्य वस्तुओंमें विश्रामको प्राप्त है तथा स्वभावकी महिमामे एकान्तरूपसे निश्चेतन है—जड़ है—स्वभावको महिमासे अपरिचित है, ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नियमसे नष्ट होता है। परन्तु जिसका स्वभावरूप परिणमन निश्चित है ऐसे ज्ञानकी अपेक्षा समस्त परभावोंसे भिन्न होता हुआ स्याद्वादी अपने सहज स्वभावकी श्रद्धासे युक्त हो नाशको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—अज्ञानी जीव, परभावोंको अपना भाव समझकर उन्हींमें लीन रहता हुआ स्वभावकी महिमासे बिलकुल अपरिचित रहता है अतः नाशको प्राप्त होता है परन्तु स्याद्वादी समझता है कि अपने ज्ञान स्वभावके कारण आत्मा समस्त परभावोंसे पृथक् है। वास्तवमें ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेपर भी उससे पृथक् वस्तु है। इस प्रकार सहज स्वभावकी प्रतीतिको दृढ़ करता हुआ स्याद्वादी नाशको प्राप्त नहीं होता। यह स्वकीय भावकी अपेक्षा अस्तित्वका भङ्ग है ॥२५७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युत
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥२५८॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, अपनी आत्मामें सब भावोंका होना मानकर शुद्ध-स्वभावसे च्युत होता हुआ सब पदार्थोंमें स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भय हो विना किसी प्रतिबन्धके क्रीडा करता है। परन्तु स्याद्वादी अपने स्वभावमें ही सर्वथा आरूढ हुआ परभावके अभावका निश्चय होनेसे निश्चलदशाको प्राप्त हो शुद्ध ही सुशोभित होता है।

भावार्थ—अज्ञानी परभावोंको निजभाव मानता है इसलिये वह अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ सभी परभावोंमें स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवर्तता है। परभाव बन्धके कारण हैं ऐसा उसे भय नहीं होता। परभावोंमें प्रवृत्ति करनेसे उसे कोई रोक नहीं सकता। परन्तु स्याद्वादका ज्ञाता ज्ञानी पुरुष ऐसा समझता है कि मुझमें परभावका अभाव है यद्यपि मैं परभावोंको जानता हूँ तो भी वे मुझमें प्रविष्ट नहीं हैं, मेरे साथ उनका नित्य तादात्म्य नहीं है। इस प्रकारके दृढ़ श्रद्धानसे वह सदा निष्कम्प रहता है और सदा शुद्ध ही शोभायमान रहता है। यह परभावकी अपेक्षा नास्तित्वका भङ्ग है ॥२५८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्रादुर्भावविरामम्मुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मता
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥२५९॥

अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, उत्पाद-व्ययसे मुद्रित—युक्त होनेके कारण प्रवर्तमान ज्ञानांशोंकी नानारूपताका निश्चय होनेसे क्षणभङ्गके सङ्गमें पड़ा प्रायः नाशको प्राप्त होता है परन्तु स्याद्वादी चैतन्यस्वरूपसे चैतन्य वस्तुका अनुभव करता हुआ नित्योदित तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमासे युक्त जो ज्ञान है उसरूप होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ—एकान्तवादी कहता है कि जिस प्रकार ज्ञेयके आकार उत्पाद और व्ययसे सहित है अर्थात् उपजते और विनशते हैं उसी प्रकार प्रवर्तमान जो नाना ज्ञानके अंश हैं वे भी उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं अर्थात् उपजते और विनशते हैं। एतावता ज्ञानको क्षणभङ्गुर मानता हुआ अज्ञानी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि ज्ञान क्षणभङ्गुर होनेपर भी अपने चैतन्यस्वरूपसे चिद्वस्तुका स्पर्श करता हुआ नित्य उदयरूप रहता है तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावकी महिमासे युक्त होता है ॥ एतावता इस ज्ञानरूप होता हुआ स्याद्वादी जीवित रहता है। यह नित्यपनका भङ्ग है ॥२५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६०॥

अर्थ—एकान्तवादी अज्ञानी, टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञानके प्रवाहरूप आत्मतत्त्वकी आशासे ज्ञानको उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणतिसे भिन्न कुछ अन्य ही नित्यद्रव्य मानता है। परन्तु स्याद्वादी, चिद्वस्तु (आत्माकी) परिणतियोंके क्रमसे उस ज्ञानकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ ऐसे ज्ञानको प्राप्त होता है जो अनित्यतासे युक्त होनेपर भी उज्ज्वल—निर्मल रहता है।

भावार्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञानको द्रव्यरूप मानकर नित्य ही स्वीकार करता है परन्तु स्याद्वादी उपजते और विनशते हुए ज्ञेयाकाररूप पर्यायोंकी अपेक्षा उसे अनित्य स्वीकार करता है ऐसा ज्ञान पर्यायोंके उपजने और विनशनेकी अपेक्षा अनित्य होनेपर भी उज्ज्वल रहता है क्योंकि पर्यायोका उपजना और विनशना वस्तुका स्वभाव है। यह अनित्यपनका भङ्ग है ॥२६०॥

अनुष्टुप्

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥२६१॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानसे विमूढ प्राणियोंके लिये ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको सिद्ध करता हुआ अनेकान्त स्वयं ही अनुभवमे आता है ॥२६१॥

अनुष्टुप्

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६२॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्वकी व्यवस्थाके द्वारा जो स्वयं अपने आपको व्यवस्थित कर रहा है ऐसा यह व्यवस्थित अनेकान्त जिनेन्द्र भगवान्‌का अलङ्घ्य शासन है।

भावार्थ—यह अनेकान्त स्वयं व्यवस्थित है तथा तत्त्वकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला है इसीलिये यह जिनेन्द्र भगवान्‌का अलंघनीय शासन माना गया है ॥२६२॥

यहाँ कोई कहता है कि जब आत्मा अनेक धर्ममय है तब उसका ज्ञानमात्रसे कथन क्यों किया है? उसका उत्तर देते हैं—लक्षणकी प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धिके लिये आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। वास्तवमें ज्ञान आत्माका लक्षण है क्योंकि वह आत्माका असाधारण गुण है। अतएव ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा उसके लक्ष्यभूत आत्माकी प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि

इस लक्षणकी प्रसिद्धिसे क्या प्रयोजन है, लक्ष्य ही सिद्ध करना चाहिये ? उत्तर देते हैं जिसे लक्षण प्रसिद्ध नहीं है उसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती, इसके विपरीत जिसे लक्षण प्रसिद्ध है उसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि वह लक्ष्य है क्या वस्तु ? जो कि ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न सिद्ध किया जाता है ? उत्तर देते हैं कि ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नहीं है क्योंकि ज्ञान और आत्मामें द्रव्यपनकी अपेक्षा अभेद है। पुनः प्रश्न है—तब लक्ष्य-लक्षणका विभाग किसके द्वारा किया गया है ? उत्तर देते हैं कि—प्रसिद्ध प्रसाध्यमानके द्वारा किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र स्वसवेदनसे सिद्ध है। उस प्रसिद्ध ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान है उससे अविनाभूत अनन्त धर्मोंका समुदायरूप आत्मा। इसलिये ज्ञानमात्रमे निश्चलरूपसे गड़ी हुई दृष्टिके द्वारा क्रमप्रवृत्त और अक्रमप्रवृत्त ज्ञानसे अविनाभूत जितना जो कुछ अनन्त धर्मोंका समूह दिखाई देता है वह सम्पूर्ण ही निश्चयसे एक आत्मा है। इसीलिये यहाँ इस आत्माका ज्ञानमात्रसे कथन किया है। फिर प्रश्न है कि जब क्रम और अक्रमसे प्रवृत्त होने-वाले अनन्त धर्मोंसे आत्मा तन्मय है तब उसमें ज्ञानमात्रपन कैसे रह सकता है ? इसका उत्तर है कि—परस्पर एक दूसरेसे भिन्न अनन्त धर्मोंके समुदायरूप परिणत एक ज्ञान क्रिया रूपसे आत्मा स्वय परिणम रहा है। इसीलिये इस आत्माके ज्ञानमात्र एकभवाके भीतर पड़नेवाली अनन्त शक्तियाँ उदित होती हैं। नीचे उन्हीं शक्तियोंमेसे कुछका वर्णन किया जाता है—

(१) आत्मद्रव्यको कारणभूत चैतन्यमात्र भावप्राणको धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी पहली जीवत्वनामा शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा चैतन्यरूप भावप्राण-को धारण करता है।

(२) अजडत्व अर्थात् चेतना जिसका स्वरूप है ऐसी दूसरी चितिशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा, ज्ञान और दर्शन चेतनारूप परिणमन करता है।

(३) अनाकार उपयोगरूप तीसरी दृष्टि शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा पदार्थोंको निर्विकल्प-रूपसे देखता है।

(४) साकार उपयोगरूप चौथी ज्ञानशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा पदार्थोंको विकल्प सहित जानता है।

(५) अनाकुलतारूप लक्षणसे युक्त पाँचवीं सुखशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सुखका अनुभव करता है।

(६) आत्मस्वरूपकी रचनाकी सामर्थ्यरूप छठवीं वीर्यशक्ति है इस शक्तिसे आत्माके सब गुण अपने-अपने स्वभावरूप प्रवर्तन करते हैं।

(७) अखण्डित प्रतापसे युक्त जो स्वाधीनपन उससे सुशोभित होना जिसका लक्षण है ऐसी सातवीं प्रभुत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपने स्वभावके धारणमें सदा निरपेक्ष रहता है।

(८) सब भावोंमें व्यापक जो एक ज्ञानभाव तद्रूप आठवीं विभुत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्माका ज्ञानगुण अन्य सब भावोंमे व्यापक होकर रहता है।

(९) समस्त विश्वके सामान्य भावरूप परिणत आत्मदर्शनसे तन्मय नौवीं सर्वदर्शित्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्माको केवलदर्शनसे सहित होता है।

(१०) समस्त विश्वके विशेषभावरूप परिणम आत्म ज्ञानसे तन्मय दशवीं सर्वज्ञत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा केवलज्ञानसे सहित होता है।

(११) अरूपी आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोक-अलोकके आकारसे चित्रित उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी ग्यारहवीं स्वच्छत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मप्रदेशोंमे लोक-अलोकका आकार प्रतिबिम्बित होता है।

(१२) स्वय प्रकाशमान निर्मल स्व-सवेदनसे तन्मय बारहवीं प्रकाश शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सदा स्व-सवेदनशील रहता है।

(१३) क्षेत्र और कालसे अमर्यादित चैतन्यके विलासरूप तेरहवीं असकुचित विकाशत्व शक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माका चिद्विलास सर्वक्षेत्र और सर्वकालमे व्याप्त रहता है।

(१४) अन्यके द्वारा न किये जानेवाले तथा अन्यको न करने वाले एक द्रव्यस्वरूप चौदहवीं अकार्य-कारण शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा न किसी अन्य द्रव्यके द्वारा की जाती है और न किसी अन्य द्रव्यको करती है।

(१५) पर और आपके निमित्तसे होनेवाले ज्ञेयाकार और ज्ञानकारोंके ग्रहण करने-करानेके स्वभावरूप पन्द्रहवीं परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा ज्ञेय तथा ज्ञानरूप परिणमता है।

(१६) हीनाधिकतासे रहित स्वरूपमें नियत रहना जिसका लक्षण है ऐसी सोलहवीं त्यागो-पदानशून्यत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मस्वरूपमें न किसी अतिरिक्त तत्त्व-का त्याग होता है और न किसी न्यून तत्त्वका ग्रहण होता है।

(१७) षट् स्थान पतित वृद्धि हानिरूप परिणतस्वरूपकी प्रतिष्ठाका कारण जो विशिष्टगुण है तद्रूप सत्रहवीं अगुरुलघुत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्माके गुणोंमे न सर्वथा वृद्धि ही होती है और न सर्वथा हानि ही है।

(१८) क्रमवृत्तिपन तथा अक्रमवृत्तिपन जिसका लक्षण है ऐसी अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मामे क्रमसे प्रवृत्त होनेवाला उत्पाद-व्यय तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाला ध्रौव्य विद्यमान रहता है।

(१९) द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय और उत्पादसे आलिङ्गित समान तथा असमान परिणामरूप एक अस्तित्वमात्रसे तन्मय उन्नीसवीं परिणाम शक्ति है। इस शक्तिके

कारण आत्मामें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन होता रहता है और वह परिणमन समान तथा असमानके भेदसे दो प्रकारका होता है।

(२०) कर्मबन्धके अभावसे प्रकट, सहज तथा स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशस्वरूप बीसवीं अमूर्तत्व शक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माके प्रदेश स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे शून्य रहते हैं आत्मप्रदेशोंकी अमूर्तावस्था कर्मबन्धके नष्ट हो जाने पर व्यक्त होती है।

(२१) सकलकर्मोंसे किये गये, ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त-अन्य परिणामोंके कर्तृत्वसे विरत होना जिसका लक्षण है ऐसी इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण ज्ञातारूप परिणामके सिवाय आत्मामे जो कर्मनिर्मित्तक रागादिक परिणाम होते है उनका आत्मा कर्ता नहीं होता है।

(२२) सकलकर्मोंसे किये गये, ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त अन्य परिणामोंके अनुभवसे विरत होना बाईसवीं अभोक्तृत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा ज्ञातृत्वस्वभावसे अतिरिक्त, कर्मकृत अन्य सकलभावोंका भोक्ता नहीं होता है।

(२३) समस्तकर्मोंके अभावसे प्रवृत्त हुआ आत्मप्रदेशोंका निश्चलपन जिसका स्वरूप है ऐसी तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति है। इस शक्तिके प्रभावसे कर्मोंका क्षय होनेपर आत्मामे निष्क्रियता आ जाती है। समस्त कर्मोंका क्षय होनेपर ऊर्ध्वगमन स्वभावसे यह आत्मा एक समयमे सिद्धालयमे जाकर विराजमान हो जाता है फिर अनन्त कालतक उसमे कोई क्रिया नहीं होती।

(२४) अनादि संसारसे जिनमें सकोच-विस्तार होता रहा है तथा मुक्त अवस्थामें चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून परिमाणमें जो अवस्थित रहते हैं ऐसे लोकाकाशके बराबर असख्यात आत्मप्रदेशोंका होना जिसका लक्षण है ऐसी चौबीसवीं नियत प्रदेशत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्माके प्रदेश सदा लोकाकाशके बराबर असख्यात ही रहते है उनमें पुद्गलस्कन्धके प्रदेशोंके समान अनियतपन नहीं रहता।

(२५) सब शरीरोंमें एकस्वरूप होकर रहना जिसका लक्षण है ऐसी पच्चीसवीं स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा किसी भी शरीरमें रहे अपने ज्ञानदर्शनादि धर्मोंमें व्याप्त होकर ही रहता है अर्थात् शरीरकी विचित्रतासे आत्मा अपने धर्मोंका परित्याग नहीं करता।

(२६) स्व-परके समान-असमान तथा समानासमानके भेदसे तीन प्रकारके भावोंको धारण करना जिसका स्वरूप है ऐसी छब्बीसवीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण धर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा ऐसे धर्मोंको धारण करता है जो अन्य द्रव्योंके समान होते हैं, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। कुछ ऐसे भावोंको धारण करता है जो अन्य द्रव्योंके समान नहीं होते हैं, जैसे ज्ञानदर्शनादि, तथा कुछ ऐसे भावोंको धारण करता है जो समान-असमान दोनों प्रकारके होते हैं, जैसे अमूर्तत्व।

(२७) परस्पर भिन्न लक्षणवाले अनन्त स्वभावोंसे मिला हुआ एकभाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा अनन्त धर्मोंको धारण करता है।

(२८) तत्स्वरूप और अतत्स्वरूपसे तन्मयपन जिसका लक्षण है ऐसी अट्ठाईसवीं विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा विवक्षावश नित्यत्वरूप तथा अनित्यत्वरूप आदि विरुद्ध धर्मोंको धारण करता है।

(२९) तत्स्वरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सदा आत्मरूप ही रहता है।

(३०) अतत्स्वरूप न होना जिसका लक्षण है ऐसी तीसवीं अतत्त्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अनात्मरूप नहीं होता।

(३१) अनेक पर्यायोमे व्याप्त होकर रहनेवाला एक द्रव्यरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी इकतीसवीं एकत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपनी अनेक पर्यायोंमे व्याप्त होकर भी एक द्रव्यरूप रहता है।

(३२) एक द्रव्यमे व्याप्य होकर रहनेवाली अनेक पर्यायोंसे तन्मय होकर रहना जिसका लक्षण है ऐसी बत्तीसवीं अनेकत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा, द्रव्यकी अपेक्षा एक होकर भी अनेक पर्यायोंमे व्याप्त रहनेसे अनेकरूप होता है।

(३३) भूतावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसी तेतीसवीं भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी कोई न कोई अवस्था विद्यमान रहती ही है।

(३४) शून्यावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसी चौतीसवीं अभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें वर्तमान पर्यायके सिवाय अन्य अतीत और अनागत पर्यायोंका अभाव रहता है।

(३५) वर्तमान पर्यायका व्यय जिसका स्वरूप है ऐसी पैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामे वर्तमान पर्यायका नाश होता है।

(३६) जो पर्याय वर्तमानमे नहीं है उसका उदय होनेरूप छत्तीसवीं अभावभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें अभावरूप अनागत पर्यायका उदय होता है।

(३७) वर्तमान पर्यायके होनेरूप सैंतीसवीं भावभावशक्ति है इस शक्तिसे आत्मा अपनी वर्तमान पर्यायमें वर्तता है।

(३८) न होनेवाली पर्यायके न होनेरूप अड़तीसवीं अभावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें अविद्यमान पर्यायका अभाव रहता है।

(३९) कर्ता-कर्म आदि कारकोंसे अनुगत क्रियासे रहित होकर होना ही जिसका स्वरूप है

ऐसी उनतालीसवीं भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कर्ता-कर्म आदि कारकोंसे रहित होकर ही प्रवर्तता है।

(४०) कारकोंसे अनुगत होकर होना जिसका स्वरूप है ऐसी चालीसवीं क्रियाशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कारकोंका विकल्प साथमें लेकर प्रवर्तता है।

(४१) प्राप्त होते हुए सिद्धरूप भावसे तन्मय इकतालीसवीं कर्मशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा स्वयं सिद्ध (प्रकट) होता हुआ कर्मरूप होता है।

(४२) होतेरूप जो सिद्धरूप भाव उसके भावकपनसे तन्मय ब्यालीसवीं कर्तृशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी जो सिद्धरूप दशा है उसका करनेवाला वह स्वयं होता है।

(४३) होते हुए भावके होनेमें जो साधकतमपन है उससे तन्मय तेतालीसवीं करणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें जो भाव हो रहा है उसका अतिशय साधक वह स्वयं होता है।

(४४) स्वयं दिये जानेवाले भावके उपेयपनसे तन्मय चवालीसवीं सम्प्रदानशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माके द्वारा जो भाव दिया जा रहा है उसके द्वारा उपेय—प्राप्त करने योग्य आत्मा स्वयं होता है।

(४५) उत्पाद-व्ययसे आलिङ्गित भावके अपायमें जो हानिसे रहित ध्रुवपन (अवधिपन) है उससे तन्मय पैतालीसवीं अपादानशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मासे जब उत्पाद-व्ययसे युक्त भावका अपाय होने लगता है अर्थात् ऐसा भाव जब आत्मासे पृथक् होने लगता है तब उसका अवधिभूत-अपादान आत्मा स्वयं होता है।

(४६) भाव्यमान भावके आधारपनसे तन्मय छयालीसवीं अधिकरणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा भावने योग्य भावोंका आधार स्वयं होता है।

(४७) अपने भाव मात्रके स्वस्वामीपनसे तन्मय सेतालीसवीं सम्बन्धशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपने समस्त भावोंका स्वामी स्वयं होता है।

अब इन शक्तियोंका संकोच करते हुए आचार्य कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥२६१॥

अर्थ—इस प्रकार जो सेतालीस शक्तियाँ ऊपर कही गई हैं उन्हें आदि लेकर अनेक निजशक्तियोंसे अच्छी तरह भरा हुआ होनेपर भी जो भाव ज्ञानमात्र भावसे तन्मयताको नहीं

छोड़ता, ऐसा क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणोंसे चित्रित तथा द्रव्य और पर्यायोंसे तन्मय चैतन्यरूप वस्तु इस संसारमें है।

भावार्थ—आत्मा यद्यपि अनेक शक्तियोंसे परिपूर्ण है तो भी वह ज्ञानमात्र भावसे तन्मय है अर्थात् वे समस्त शक्तियाँ आत्माके ज्ञानमात्र भावमे अन्तः प्रविष्ट हैं। यह चैतन्यरूप आत्मद्रव्य क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणोंसे तन्मय है तथा द्रव्य और पर्यायरूप है। एकान्तवादियोंके अनुसार न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप ॥२६३॥

आगे स्याद्वादकी महिमारूप काव्य कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयन्त ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्त ॥२६४॥

अर्थ—एकान्तदृष्टिसे वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती, इस प्रकार स्वयं ही अवलोकन करनेवाले सत्पुरुष जिननीतिका—जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित नयसरणिका उल्लङ्घन न करते हुए स्याद्वादकी अधिक शुद्धिको प्राप्तकर ज्ञानरूप हो जाते हैं—मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—वस्तुका जो वास्तविक स्वरूप है उसकी व्यवस्था अनेकान्तसे ही होती है एकान्तसे नहीं, ऐसा विचारकर जो स्याद्वादकी अधिक शुद्धिको प्राप्त करते हैं तथा जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित नीतिका—नयमार्गका जो कभी उल्लङ्घन नहीं करते ऐसे वे सत्पुरुष ज्ञानी होते हैं अर्थात् अनादि कर्मबन्धनको काटकर मुक्त होते हैं ॥२६४॥

उपपायोपेयभाव

अब इस ज्ञानमात्रभावके उपायोपेयभावका चिन्तन करते हैं—

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जा सके वह उपाय है और उस उपायके द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तो भी उसमें उपायोपेयभाव विद्यमान है, क्योंकि उस आत्मवस्तुके एक होनेपर भी उसमें साधक और सिद्धके भेदसे दोनों प्रकारका परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामोंमें जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहा जाता है। इसलिये अनादिकालसे साथ लगे हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्रके कारण स्वरूपसे च्युत होनेसे जो चतुर्गति ससारमे परिभ्रमण कर रहा है, ऐसा यह आत्मा जब अत्यन्त निश्चलभावसे ग्रहण किये हुए व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके पाकप्रकर्षकी परम्पराके द्वारा क्रमसे स्वरूपको प्राप्त होता है तब अन्तर्मग्न निश्चय

ज्ञान-चारित्रकी विशेषतासे उसका साधकरूप परिणमन होता है। तथा परमप्रकर्षकी उत्कृष्ट दशाको प्राप्त रत्नत्रयके अतिशयसे प्रवृत्त होनेवाले जो समस्त कर्मोंका क्षय उससे प्रज्वलित तथा कभी नष्ट नहीं होनेवाला जो स्वभाव भाव उसकी अपेक्षा सिद्धरूप परिणमन होता है। इस तरह साधक और सिद्धरूप परिणमन करनेवाले आत्माका जो ज्ञानमात्र भाव है वह एक ही उपायोपेय भावको सिद्ध करता है अर्थात् आत्माका ज्ञानमात्र भाव ही उपाय है और वही उपेय है।

तात्पर्य ऐसा है—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके कारण ससारमें भ्रमण करता है। जब तक व्यवहार रत्नत्रयको निश्चलरूपसे अंगीकृत कर अनुक्रमसे अपने स्वरूपके अनुभवकी वृद्धि करता हुआ निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होता है तब-तक तो साधकरूप भाव है और निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धरूप भाव है। इन दोनों भावरूप परिणमन ज्ञानका ही परिणमन है इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है।

इस प्रकार साधक और सिद्ध दोनो प्रकारके परिणमनोंमे ज्ञानमात्रकी अनन्यता—अभिन्नतासे निरन्तर अस्खलित जो आत्मारूप एक वस्तु उसके निश्चल ग्रहणसे उन मुमुक्षु-जनोंको जिन्हें अनादि ससारसे लेकर अभी तक ससारसागरसे सतरण करानेवाली ज्ञानमात्र भूमिकाका लाभ नहीं हुआ उन्हें भी उस भूमिकाका लाभ हो जाता है। तदनन्तर उस भूमिका-मे निरन्तर लीन रहनेवाले वे सत्पुरुष, स्वय ही क्रम तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाले अनेक धर्मोंकी मूर्तिरूप होते हुए साधकभावसे उत्पन्न होनेवाले परमप्रकर्षकी उच्चतम अवस्था-स्वरूप सिद्धभावके पात्र होते हैं। परन्तु जो पुरुष, अन्तर्नीत अर्थात् भीतर समाये हैं अनेक धर्म जिसमे ऐसी ज्ञानमात्र एकभावरूप इस भूमिको नहीं प्राप्त करते हैं वे निरन्तर अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावके स्वरूपसे नहीं होने तथा पररूप होनेको देखते-जानते तथा अनुचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्रके धारक होते है तथा उपायोपेय-भावसे सर्वथा भ्रष्ट होकर निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

आगे यही भाव कलशामें कहते हैं—

वसन्ततिलका

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६५॥

अर्थ—जिसका किसी तरह मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो गया है ऐसे जो सत्पुरुष, ज्ञान-मात्र, निजभावरूप निश्चल भूमिका आश्रय करते हैं वे साधकपनको प्राप्त कर सिद्ध होते हैं और जो मूढ़—मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमिको न पाकर परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ—स्वभावसे अथवा परके उपदेश आदिसे जिनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है ऐसे जो जीव इस ज्ञानमात्र भूमिको प्राप्त करते हैं वे साधक अवस्थाको प्राप्त होकर अन्तमें सिद्ध होते हैं और इनके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव इस भूमिको न पाकर चतुर्गति संसारमें जन्ममरण करते हुए निरन्तर घूमते रहते हैं ॥२६५॥

आगे इस भूमिकी प्राप्ति कैसे होती है यह कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्त ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री—
पात्रीकृत श्रयति भूमिमिमां स एक ॥२६६॥

अर्थ—जो स्याद्वादकी कुशलता तथा अत्यन्त निश्चल संयमके द्वारा निरन्तर इसी ओर उपयोग लगाता हुआ अपने ज्ञानरूप आत्माकी भावना करता है—आत्माका चिन्तन करता है वही एक, ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मित्रताका पात्र हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष, मात्र ज्ञाननयको स्वीकार कर क्रियानयको छोड़ देता है अर्थात् चरणानुयोगकी पद्धतिसे चारित्रका पालन नहीं करता वह स्वच्छन्द हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको नहीं पाता और जो क्रियानयको ही स्वीकार कर मात्र बाह्य आचरणमें लीन रहता है तथा आस्रव और बन्ध आदिके योग्य भावोंके परिज्ञानसे रहित होता है वह भी इस भूमिको नहीं प्राप्त करता। किन्तु जो इन दोनों नयोंको अगीकार कर ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्रका पालन करता है वही इस भूमिको प्राप्त होता है ॥२६६॥

अब ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त करनेवालेको ही आत्माका उदय होता है यह कहनेके लिये कलशा कहते है—

वसन्ततिलकाछन्द

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६७॥

अर्थ—जिसका विकासरूपी हास चैतन्यपिण्डके तेजसे विलसित है—शोभायमान है, जो शुद्धप्रकाशके समूहसे अच्छी तरह सुशोभित है, जो अनन्त सुखमें अच्छी तरह स्थित और निरन्तर न चिगनेवाले एक—अद्वितीयरूपसे युक्त है तथा जिसकी ज्ञानरूपी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उसी ज्ञानमात्र भूमिकाको प्राप्त करनेवाले महानुभावके उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ चित्पिण्ड आदि विशेषणसे अनन्तदर्शनका प्रकट होना बतलाया है, शुद्धप्रकाश आदि विशेषणसे अनन्तज्ञानका प्रकट होना बतलाया है, आनन्दसुस्थित आदि विशेषणसे अनन्तसुखका प्रकट होना सूचित किया है और अचलार्चिः—इस विशेषणसे अनन्तवीर्यका सद्भाव जताया है। इस तरह अनन्त चतुष्टयसे तन्मय आत्मा उसी महानुभावके उदयरूप होता है जो ज्ञानमात्र भूमिको प्राप्त हो चुकता है ॥२६७॥

आगे आचार्य स्वभावके प्रकट होनेकी आकांक्षा दिखलाते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६८॥

अर्थ—जिसका लहलहाट करता तेज स्याद्वादसे देदीप्यमान है, तथा जिसमें शुद्धस्वभावकी महिमा विद्यमान है ऐसा ज्ञानरूप प्रकाश जब मुझमें उदयको प्राप्त हो चुका है तब मुझे बन्ध और मोक्षके मार्गमें गिरानेवाले अन्यभावोंसे क्या प्रयोजन है ? मैं तो चाहता हूँ कि मेरा नित्य ही उदयरूप रहनेवाला यह स्वभाव ही अतिशयरूपसे स्फुरायमान हो।

भावार्थ—शुद्धस्वभावकी महिमासे युक्त यथार्थ ज्ञानके प्रकट होनेपर बन्ध और मोक्षके विकल्प उठानेवाले अन्य भावोंसे ज्ञानी जीवको कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, इसलिये वह सदा यही चाहता है कि मेरा जो ज्ञानमात्र स्वभाव है वही सदा उदित रहे ॥२६८॥

आगे ज्ञानी एक-अखण्ड आत्माकी भावना करता है, यह दिखानेके लिए कलशा कहते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२६९॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी आत्मशक्तियोंका समुदायरूप यह आत्मा नयकी दृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसलिये मैं अपने आत्माका ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं तो वह चैतन्यरूप तेज हूँ जो अखण्ड है अर्थात् प्रदेशभेद न होनेसे जो सदा अखण्ड रहता है, फिर भी शक्तियोंकी विभिन्नताके कारण जिसके खण्ड दूर नहीं किये जा सकते, जो एक है, अत्यन्त शान्त है तथा अचल है अर्थात् अपने स्वभावसे कभी चिगता नहीं है।

भावार्थ—आत्मा नाना प्रकारकी जिन आत्मशक्तियोंका समुदाय है वे शक्तियाँ नयोंपर अवलम्बित हैं। इसलिये जब नयदृष्टिसे आत्माका चिन्तन किया जाता है तब एक आत्मा

खण्ड-खण्ड रूप अनुभवमें आता है, केवल अंश ही सामने आता है, अशीरूपसे उसका नाश हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष नयचक्रसे परे रहनेवाले एक अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है। यद्यपि प्रारम्भमे, ज्ञानमे, नय, प्रमाण और निक्षेपके विकल्प आते हैं, परन्तु आगे चलकर वे विकल्प स्वयं शान्त हो जाते है ॥२६९॥

ज्ञानी जीव ऐमा अनुभव करता है कि मै न तो द्रव्यके द्वारा आत्माको खण्डित करता हूँ, न क्षेत्रके द्वारा खण्डित करता हूँ, न कालके द्वारा खण्डित करता हूँ और न भावके द्वारा खण्डित करता हूँ। मै तो अत्यन्त विशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। यद्यपि वस्तुस्वरूपके विवेचनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका विकल्प आता है, परन्तु अभेदनयसे विचार करनेपर इन चारोंमे प्रदेशभेद नही है, अतः उक्त विकल्प स्वय शान्त हो जाते हैं और वस्तु एक रूप अनुभवमें आने लगती है।

शालिनीछन्द

योऽय भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्र स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र ॥२७०॥

अर्थ—जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ उसे ज्ञेयका ज्ञानमात्र नहीं जानना, किन्तु ज्ञेयोंके आकाररूप ज्ञानकी कल्लोलोंसे चञ्चल, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ऐसे तीन भेदोंसे युक्त वस्तुमात्र जानना।

भावार्थ-ऊपर आत्माको ज्ञानमात्र भाव कहा है, सो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्मा केवल ज्ञेयोंके ज्ञानमात्र ही है, किन्तु ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इस प्रकार तीन भेदोंको लिये हुए वस्तुमात्र है अर्थात् आत्मा ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है। उस आत्मामें ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित होते हैं, वे आकार ही ज्ञानके कल्लोल कहलाते हैं, इन ज्ञानकी कल्लोलोंके द्वारा वह आत्मा चञ्चल रहता है अर्थात् उसमें ज्ञेयाकाररूप ज्ञानके विकल्प सदा उठते रहते है ॥२७०॥

अब आत्माकी अनेकरूपता ज्ञानियोंके मनमें भ्रम उत्पन्न नहीं करती, यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

क्वचिल्लसति मेचक क्वचिन्मेचकामेचक
क्वचित्पुनरमेचक सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मन
परस्परसुसहतप्रकटशक्तिचक्र स्फुरत् ॥२७१॥

अर्थ—ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मेरा जो सहज आत्मतत्त्व है, वह यद्यपि कहीं तो मेचक—अशुद्ध, कहीं मेचकामेचक—शुद्धाशुद्ध और कही अमेचक—शुद्ध ही सुशोभित होता है तथापि वह निर्मल बुद्धिके धारक पुरुषोके मनको भ्रान्ति युक्त नहीं करता, क्योंकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलकर प्रकट हुई शक्तियोंके समूहसे युक्त तथा स्फुरायमान—अनुभवगोचर है।

भावार्थ—जिस प्रकार नाटकमे एक ही पात्र नानारूपोंको धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है, परन्तु परमार्थसे वह एक ही होता है, इसलिये ज्ञानी पुरुषोंको भ्रम नहीं होता, वे स्पष्ट समझ लेते है कि नाना वेषोंको धारण करनेवाला एक ही पात्र है। उसी प्रकार यह आत्मा भी नानारूप धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है। जैसे कर्मोदयकी तीव्रतामे यह आत्मा रागादिक विकारोसे अशुद्ध दिखाई देता है, फिर कुछ कर्मोदय दूर होनेपर रागादिक विकारोंमे न्यूनता होनेपर शुद्धाशुद्ध अनुभवमे आता है और तदनन्तर कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर रागादि विकारोसे सर्वथा रहित होता हुआ शुद्ध दिखाई देता है। इस तरह आत्मा यद्यपि नानारूपोंमे अनुभवगोचर होता ह परन्तु निर्मल भेदज्ञानको धारण करनेवाले पुरुषोंको इससे आत्मामे अनेकरूपताका भ्रम नही होता। वे समझते है कि एक ही आत्माकी ये नाना अवस्थाएँ हैं। भ्रम उत्पन्न न होनेका कारण यह है कि आत्मा परस्पर मिली हुई अनेक शक्तियोके समूहसे युक्त अनुभवमें आता है। उन शक्तियोके कारण आत्मामें अशुद्धता, शुद्धाशुद्धता और शुद्धतारूप परिणमन करनेकी योग्यता विद्यमान है ॥२७१॥

आगे आत्माके आश्चर्यकारी सहज वैभवको दिखलानेके लिए कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

इतो गतमनेकता दधदित सदाप्येकता-
मित क्षणविभङ्गुर ध्रुवमित सदैवोदयात्।
इत परमविस्तृत धृतमित प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुत वैभवम् ॥२७२॥

अर्थ—अहो! आत्माका वह यह सहज वैभव बडा आश्चर्यकारी है क्योकि इस ओर अनेकताको प्राप्त है तो इस ओर सदा एकताको धारण कर रहा है, इस ओर क्षणभङ्गुर है तो इस ओर निरन्तर उदयरूप रहनेसे ध्रुव है, इस ओर परम विस्तृत है तो इस ओर स्वकीय प्रदेशोंसे धारण किया हुआ है।

भावार्थ—यहाँपर अनेक दृष्टियोंको हृदयमें रखकर अमृतचन्द्रस्वामी आत्माके विभव का वर्णन कर रहे हैं। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेकताको प्राप्त है, द्रव्यदृष्टिसे एकताको प्राप्त है, क्रमभावी पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा क्षणभङ्गुर है, सहभावी गुणकी दृष्टिसे ध्रुवरूप है, ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत दृष्टिसे आत्मा परम विस्तारको प्राप्त है और स्वकीय प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मप्रदेशोके परिमाण है। इन विविध शक्तियोंके कारण आत्मामें परस्पर विरुद्ध धर्मोंका समावेश भी सिद्ध हो जाता है ॥२७२॥

आगे आत्माकी उसी आश्चर्यकारक महिमाका वर्णन फिर भी करते हैं—

पृथ्वीछन्द

कषायकलिरेकत स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकत स्पृशति मुक्तिरप्येकत ।
जगत्त्रितयमेकत स्फुरति चिच्चकास्त्येकत
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुत ॥२७३॥

अर्थ—एक ओर कषायसे उत्पन्न कलह स्खलित हो रहा है—स्वरूपसे भ्रष्ट हो रहा है तो एक ओर शान्ति विद्यमान है। एक ओर संसारकी बाधा है तो एक ओर मुक्ति स्पर्श कर रही है। एक ओर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं तो एक ओर चैतन्यमात्र ही सुशोभित होता है। आचार्य कहते हैं कि अहो! आत्माके स्वभावकी महिमा अद्भुतसे अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारा विजयरूप प्रवर्त रही है—सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है।

भावार्थ—जब विभावशक्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आत्मामें कषायका उपद्रव दिखाई देता है, और जब स्वभाव दशाका विचार करते है तो शान्तिका प्रसार अनुभवमें आता है। कर्मबन्धकी अपेक्षा जन्ममरणरूप ससारकी बाधा दिखाई देती है और शुद्धस्वरूपका विचार करनेपर मुक्तिस्पर्श अनुभवमे आता है। स्व-परज्ञायकभावकी अपेक्षा विचार करनेपर आत्मा लोकत्रयका ज्ञाता है और स्वज्ञायकभावकी अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभवमें आता है। इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मोंके समावेशके कारण आत्मस्वभावकी महिमा अद्भुतोंमें भी अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारी जान पड़ती है ॥२७३॥

आगे चिच्चमत्कारका स्तवन करते हैं—

मालिनीछन्द

जयति सहजतेज पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष ॥२७४॥

अर्थ—अपने स्वभावरूप तेजके पुञ्जमें निमग्न होते हुए तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंसे जिसमें अनेक विकल्प दिखाई देते हैं तो भी जो स्वरूपकी अपेक्षा एक है, जिसे निजरसके समूहसे पूर्ण अबाधित तत्त्वकी उपलब्धि हुई है तथा जिसकी दीप्ति बलपूर्वक नियमित की गई है अर्थात् जो अपने स्वरूपमे निष्कम्प है ऐसा यह चैतन्यचमत्कार जयवत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्टरूपसे प्रवर्तमान है।

भावार्थ—यहाँ अन्तमङ्गलरूपसे आचार्य चैतन्यचमत्कारका विजय-गान कर रहे हैं। जिस चैतन्यचमत्कारमें स्वच्छताके कारण प्रतिभासित तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंके निमित्तसे अनेक विकल्प स्खलित हो रहे हैं—रुकते हुए अनुभवमें आ रहे हैं और उन विकल्पोंके कारण जो अनेकरूप दिखाई देता है तो भी स्वरूपकी अपेक्षा एक ही है जिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई है और अनन्तवीर्यके कारण जिसकी दीप्ति स्वकीय स्वभावमें बलात् नियमित की गई है, ऐसा चैतन्यचमत्कार सदा जयवत प्रवर्ते ॥२७४॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी श्लेषालंकारसे अपना नाम प्रकट करते हुए आत्मज्योतिके देदीप्यमान रहनेकी आकांक्षा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७५॥

अर्थ—जो निश्चल चैतन्यस्वरूपसे युक्त आत्मामें निरन्तर निमग्न आत्माको आत्माके द्वारा धारण कर रही है, जिसने मोहको नष्ट कर दिया है, जो सब ओरसे उदयको प्राप्त है, विमल है, पूर्ण है तथा जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्मसे रहित है, ऐसी यह कभी नष्ट न होनेवाली अमृतमय चन्द्रमाकी ज्योतिके समान आह्लाददायक आत्मज्योति सदा देदीप्यमान रहे ।

भावार्थ—यहाँ लुप्तोपमालंकारसे आत्माको अमृतचन्द्रज्योति कहा है क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' ऐसा समास करनेसे 'वत्' शब्दका लोप हो जाता है तब 'अमृतचन्द्रज्योतिः' बनता है । यदि 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ऐसा विग्रह किया जाय तो भेदरूपक अलंकार होता है । अथवा 'अमृतचन्द्रज्योतिः' ऐसा ही कहा जाय, आत्माका नाम न कहा जाय तब अभेदरूपक अलंकार होता है । इसके विशेषणोंके द्वारा चन्द्रमासे व्यतिरेक भी है क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकारका दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितपन तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब तथा मेघ आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है तथा समन्तात् ज्वलन—सब क्षेत्र और सब कालमें प्रकाश करना बतलाता है । चन्द्रमा ऐसा नहीं है । यहाँ टीकाकारने 'अमृतचन्द्र' ऐसा श्लेषसे अपना नाम भी सूचित किया है ॥२७५॥

अनुष्टुप्

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादितः ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥१॥

अर्थ—जो कर्मोंसे मुक्त है तथा ज्ञानादिगुणोंसे अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ।

अब द्रव्यकी अपेक्षा सप्तभङ्गीका अवतार करते हैं—

(१) स्यादस्ति द्रव्यम् । (२) स्यान्नास्ति द्रव्यम् । (३) स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यम् । (४) स्यादवक्तव्यं द्रव्यम् । (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् ।

इनमें सर्वथापनका निषेध करनेवाला, अनेकान्त अर्थका द्योतक कथञ्चित् अर्थवाला निपातसंज्ञक 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है । इन सातों भङ्गोंका सार इस प्रकार है—

(१) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है ।

(२) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावका द्रव्यमें अभाव है ।

(३) क्रमसे स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य, है और नहीं है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे युगपद् कहे जानेकी अपेक्षासे द्रव्य अवक्तव्य है।

(५) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है तथा अवक्तव्य है।

(६) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा युगपद् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है।

(७) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके क्रमकी अपेक्षासे, तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्य है, और नहीं है तथा अवक्तव्य है।

भावार्थ—द्रव्यमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्वके भेदसे तीन धर्म हैं, इन तीन धर्मोंका पृथक् पृथक् तथा संयोगरूपसे कथन करनेपर सात भङ्ग होते हैं। जिस समय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्यके अस्तित्वका कथन होता है उस समय 'स्यादस्ति द्रव्यम्' ऐसा पहला भङ्ग होता है अर्थात् स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे द्रव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे द्रव्यका कथन होता है तब 'स्यान्नास्ति द्रव्यम्', ऐसा दूसरा भङ्ग होता है। जब क्रमसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते हैं तब 'स्यात् अस्ति नास्ति द्रव्यम्' यह तीसरा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और नहीं है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे एक साथ कथन करना चाहते हैं तब कथन न किये जा सकनेके कारण 'स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम्' ऐसा चौथा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य अवक्तव्य है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते हैं तब 'स्यादस्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्' यह पाचवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और अवक्तव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्' यह छठवां भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है। तथा जब क्रमसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे कथन करते हैं तब 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्' यह सातवां भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है, नहीं है, और अवक्तव्य है। तीन धर्मोंके पृथक् पृथक् और संयोगी धर्म सातसे अधिक नहीं होते, इसलिये सब भङ्ग सात ही होते हैं अधिक नहीं। 'सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी' इस तरह समास करनेपर 'सप्तभङ्गी' शब्द निष्पन्न होता है।

इस तरह स्याद्वादाधिकार पूर्ण हुआ।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यस्माद् द्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियाया. फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्खलु ॥२७६॥

अर्थ—जिस अज्ञानभावसे पहले तो स्व और परका द्वैतरूप एक भाव हुआ, फिर उस द्वैतपनसे अपनेमें अन्तर हुआ, उस अन्तरके पड़नेसे रागद्वेषका परिग्रहण हुआ, उसके होनेपर क्रिया और कारकोंका भेद उत्पन्न हुआ, और उस क्रिया-कारकोंके भेदसे आत्माकी अनुभूति क्रियाके सम्पूर्ण फलको भोगती हुई खेदको प्राप्त हुई। वह अज्ञान इस समय विज्ञानघनके समूहमें निमग्न हो गया है अर्थात् ज्ञानरूपमे परिणत हो गया है इसलिये अब कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानके कारण जीव और कर्मका संयोगरूप द्वैतभाव होता है। उस द्वैतसे स्वरूपमें अन्तर आता है, उस अन्तरसे आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, उन रागद्वेषोंके कारण आत्मामें क्रिया-कारकका भाव आता है अर्थात् आत्मा परका कर्ता बनता है, जब आत्मा परका कर्ता बन गया तब आत्माकी अनुभूति स्वरूपसे च्युत हो अपनी क्रियाके फलका भोक्ता बनती है, इस स्थितिमें आत्माकी अनुभूति खेदखिन्न होती है। इस तरह समस्त अनर्थोंकी जड अज्ञानभाव था, मेरा वह अज्ञानभाव अब विज्ञानघनके समूहमें निमग्न हो गया है, इसलिये उपर्युक्त सब विकल्प स्वयं समाप्त हो गये हैं। मैं इस ग्रन्थका कर्ता हूँ, अतः इसके फलको भोगूँ, ऐसा जो भाव था वह अज्ञानमूलक था, अब वह अज्ञान समाप्त हो गया है, इसलिये मैं इस ग्रन्थका कर्ता और इसके फलका भोक्ता हूँ, ऐसा मेरा भाव नहीं है ॥२७६॥

अब ग्रन्थकर्ता दूसरे ढँगसे ग्रन्थके प्रति अपना अकर्तृत्व सूचित करते हैं—

उपजातिछन्द

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७७॥

अर्थ—अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्वको सूचित करनेवाले शब्दोंके द्वारा यह समयप्राभृत आगमकी व्याख्या की गई है। आत्मस्वरूपमे लीन रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरिका इसमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यहाँ टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामीने अपनी लघुता प्रकाशित की है। साथ ही अपने आपको 'स्वरूपगुप्तस्य' विशेषण देकर यह सिद्धान्त भी प्रकट किया है कि जब यह जीव आत्मस्वरूपमें लीन हो जाता है तब उसका परपदार्थोंके प्रति कर्तृत्वका भाव नष्ट हो जाता है। अर्थात् वह परपदार्थोंका कर्ता नहीं बनता। इस समयप्राभृत ग्रन्थकी व्याख्याका प्रारम्भ करते समय सूरिने कहा था कि परपरिणतिका कारण जो मोह उसके प्रभावसे मलिन मेरी चिन्मात्रमूर्तिमें इस समयसारकी व्याख्यासे परम विशुद्धता होवे। अब ग्रन्थके अन्तमें प्रकट करते हैं कि मेरा अज्ञान विज्ञानघनमें विलीन हो गया तथा मैं स्वरूपमें लीन हो गया, इस तरह मुझमें परम विशुद्धता आई है, उसके फलस्वरूप मेरा परके प्रति कर्तृत्वभाव निकल चुका है। अतः मैं इस ग्रन्थका कर्ता नहीं हूँ। तो फिर इस व्याख्याको किसने बना दिया? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि अपनी अभिधाशक्तिके सद्भावसे सब शब्दोंमें वस्तुस्वरूपके कहनेकी सामर्थ्य रहती है। अतः शब्दोंके द्वारा ही यह व्याख्या बनाई गई है ॥२७७॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृतके अमृतचन्द्रसूरिरचित स्याद्वादाधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट १

तात्पर्यवृत्तिमें व्याख्यात और आत्मख्यातिमें अव्याख्यात अतिरिक्त गाथाओंका अर्थ—

(१० वीं और ११ वीं गाथाके बीच)

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णि वि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें भावना करना चाहिये और वे तीनों चूँकि आत्मा हैं इसलिए आत्मामे करना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्वार्धमे गुण और गुणीका भेद स्वीकृतकर सम्यग्दर्शनादि तीन गुणोंका पृथक् निर्देश किया है और उत्तरार्धमें गुण-गुणीका अभेद स्वीकृतकर कहा गया है कि जिस कारण सम्यग्दर्शनादि तीनो गुण आत्मा ही हैं इसलिये आत्माकी ही भावना करना चाहिये ।

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थ—जो मुनि निरन्तर उसी ओर उपयोग लगाकर इस आत्म-भावनाको करता है वह थोड़े ही समयमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है ।

भावार्थ—आत्मध्यानकी अपूर्व महिमा है । निरन्तर तन्मयीभावसे जो आत्मध्यान करता है—सब ओरसे विकल्प-जालको हटाकर आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है वह शीघ्र ही मोक्षका पात्र होता है ।

(१५ वीं और १६ वीं गाथाके बीचमे)

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

अर्थ—निश्चयसे मेरा आत्मा ज्ञानमे है, दर्शनमे हैं, चारित्रमें है, प्रत्याख्यानमें हैं, संवरमें है और योग—निर्विकल्पक समाधिमें है ।

भावार्थ—गुण-गुणीमें अभेद-विवक्षासे कथन है कि मेरा आत्मा ही ज्ञानदर्शनादिरूप है ।

(१९ वीं और २० वीं गाथाके बीच)

जीवे व अजीवे वा संपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

अर्थ—आत्मा वर्तमान समयमें जिस जीव अथवा अजीवमें उपयुक्त होता है—तन्मयीभावसे उन्हें उपादेय मानता है उसीमें बन्ध और मोक्ष होता है, ऐसा संक्षेपसे कहा गया है।

भावार्थ—जब शरीरादिक अजीव पदार्थमें तन्मय होकर उन्हे ही उपादेय मानता है तब बन्ध होता है और जब जीव—शुद्ध आत्मस्वरूपमें तन्मय होकर उसे ही उपादेय मानता है तब मोक्ष होता है ॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

अर्थ—आत्मा निश्चयसे जिस भावको करता है वह उसी भावका कर्ता होता है और व्यवहारसे पुद्गलकर्मोंका कर्ता है।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा अपने ज्ञानादिभावोंका कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक अशुद्धभावोंका कर्ता है और अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनयसे पुद्गलरूप द्रव्यकर्मादिकका कर्ता है।

(७५ और ७६ वीं गाथाके बीच)

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

अर्थ—आत्मा कर्ता कहा गया है और कर्ता नहीं कहा गया है सो किस उपायसे ? इसे जो जानता है तथा धर्म-अधर्मरूप परिणामोंको जो जानता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा कर्ता नहीं है और व्यवहारनयसे कर्ता है ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है। इसी तरह जो पुण्य-पापरूप परिणामोंको समझता है वह ज्ञानी है।

(८६ और ८७ वीं गाथाके बीच)

पुग्गलकम्मणिमित्त जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

अर्थ—आत्मा उदयागत द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर जिस प्रकार अपने भावको करता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर अपने भावका वेदन करता है।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा अपने ही भावका कर्ता है और अपने ही भावका भोक्ता है।

(१२५ और १२६ वी गाथाके बीच)

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

अर्थ—जो साधु बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर उपयोग लक्षणसे युक्त अपने शुद्ध आत्माको जानता है उसे परमार्थका ज्ञाता निःसङ्ग—निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाण सहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

अर्थ—जो साधु समस्त चेतन-अचेतन एवं शुभ-अशुभ परद्रव्योंसे मोह छोड़कर ज्ञान-स्वभावसे परिपूर्ण आत्माको जानता है उसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष जितमोह कहते हैं।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

अर्थ—जो साधु शुभोपयोग परिणामरूप धर्म अर्थात् पुण्य शक्तिको छोड़कर उपयोग लक्षणसे युक्त शुद्ध आत्माको जानता है उसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष धर्मसंगसे मुक्त कहते हैं ॥

(१८९ और १९० के बीच)

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥

अर्थ—परोक्ष आत्माका ध्यान किस प्रकार होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष किसीके उपदेशसे परोक्ष रूपको देखकर कहता है कि मैंने उसे देख लिया, जान लिया, इसी प्रकार आगमके उपदेशसे जीवको ग्रहण कर लिया, देख लिया, तथा जान लिया, ऐसा कहा जाता है।

को वि दिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ॥

अर्थ—छद्मस्थावस्थामें आत्माका परोक्षज्ञान होता है। इसके विपरीत यदि किसीका ऐसा कथन हो कि मैं आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन कराता हूँ तो उससे हम पूछते हैं—जिसने पदार्थको प्रत्यक्ष नहीं जाना है ऐसा कौन साधु इस समय कह सकता है कि मैंने इस आत्म-स्वरूपको प्रत्यक्ष ही देखा है जब कि वह आत्मा परोक्ष श्रुतज्ञानका विषय हो रहा है। अर्थात् कोई नहीं कह सकता।

भावार्थ—स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा आत्माका प्रत्यक्ष जानना कहा जाता है परन्तु इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं होता, एतावता परोक्ष कहलाता है। यद्यपि आत्मा परोक्ष है तथापि उसका ध्यान निषिद्ध नहीं है ॥

(१९९ और २००वीं गाथाके बीच)

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ।

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह नाना प्रकारका कर्मोदयके फलका विपाक तेरा क्यों नहीं है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जिस कारण यह कर्मोदयका विपाकफल तेरे स्वभाव

लगे हुए कर्मरूप परद्रव्यका उपयोग अर्थात् उदयरूप है इसलिये तेरा नहीं है। यह कर्मोदयके फलका विपाक तेरा नहीं है। इसी तरह यह शरीर भी तेरा नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है—ज्ञानदर्शनसे रहित है।

भावार्थ—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म तेरे नहीं हैं।

(२११ और २१२वीं गाथाके बीच)

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तभगपुव्वेसु।
संग च तहा णेयं देव-मणुअ-तिरिय-णेरइय ॥

अर्थ—जिसके बाह्य द्रव्योंमें इच्छा नहीं है वह अपरिग्रह—परिग्रहसे रहित कहा गया है। ऐसा जीव धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अङ्गपूर्वगतश्रुत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक पर्यायकी इच्छा नहीं करता अर्थात् इन सबको अपने शुद्धात्मद्रव्यसे पृथक् मानता है।

(२१९ और २२० वीं गाथाके बीच)

णागफलीए मूलं णाइणितोयेण गब्भणागेण।
नागं होइ सुवण्णं धम्मंत मत्थवाएण ॥

अर्थ—अशुद्ध आत्मा शुद्ध कैसे हो जाता है, इसका दृष्टान्त पूर्वक कथन करते हैं—जिस प्रकार संपाफनीकी जड़, हस्तिनीका मूत्र और सिन्दूरके साथ सीसा धोंकनीकी वायुसे गलाने पर सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार अशुद्ध आत्मा शुद्ध बन जाता है।

कम्म हवेई किट्टं रागादी कालिया अह विभावो।
सम्मत्तणाणचरण परमोसहमिदि वियाणा हि ॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोह धमियव्वो परमजोईहिं ॥

अर्थ—कर्म कीट है, रागादिक विभाव कालिमा है, सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र परम औषधि है, ऐसा जानो। ध्यान अग्नि है, तपश्चरण मातली—पात्र कहा गया है और आत्मा लोहा है। परम योगीश्वरोंको इसे तपाना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी पात्रमें रखकर लोहेको परम औषधिके साथ अग्निमें तपानेसे वह सुवर्ण बन जाता है तथा उसकी कीट और कालिमा भस्म हो जाती है। इसी प्रकार तपश्चरणरूपी पात्रमें जीवरूपी लोहेको सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परम औषधके साथ ध्यानरूपी अग्निमें तपानेसे यह जीव शुद्ध हो जाता है तथा उसकी द्रव्यकर्मरूपी कीट और रागादिकभावकर्मरूप कालिमा भस्म हो जाती है।

(२६९ और २७० के बीच)

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एव तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एव तु जं मदि कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

अर्थ—मैं शरीरके द्वारा जीवोंको दुःखी करता हूँ, यदि ऐसी तू बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्मके द्वारा ही जीव दुखी होते हैं।

मैं वचनके द्वारा जीवोंको दुःखी करता हूँ, यदि ऐसी बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्मके द्वारा ही जीव दुःखी होते हैं।

मैं मनके द्वारा जीवोंको दुःखी करता हूँ, यदि ऐसी तेरी बुद्धि है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्मोंके द्वारा जीव दुःखी होते हैं।

मै शस्त्रके द्वारा जीवोको दुःखी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योकि जीव कर्मसे ही दुःखी होते हैं।

मैं शरीर, वचन और मनके द्वारा जीवोंको सुखी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योंकि कर्मसे ही जीव सुखी होते हैं।

(२७० और २७१ वीं गाथाके बीच)

जा सकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥

अर्थ—जब तक बाह्य पदार्थोंमे संकल्प और विकल्प करता है तथा जब तक हृदयमे आत्मस्वरूप ऋद्धि प्रस्फुरित नहीं होती है तब तक शुभ-अशुभको उत्पन्न करनेवाले कर्मको करता है।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र तथा शरीर आदि पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके भावको संकल्प कहते हैं, और अन्तरङ्गमें हर्ष-विषादरूप परिणतिको विकल्प कहते हैं। जब तक ये दोनों

विद्यमान रहते हैं तब तक पुण्य-पाप कर्मोंका बन्ध होता रहता है। परन्तु जब हृदयमें शुद्धात्म-स्वरूपका ध्यान जागृत होता है और उपर्युक्त सकल्प-विकल्प दूर हो जाते हैं तब सब प्रकारका बन्ध रुक जाता है।

(२८५ और २८६ के बीच)

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कहमणुमण्णदि अण्णेण करिमाणा परस्स गुणा ॥
आधाकम्म उद्देसिय च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम कारविदं ज णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥

अर्थ—अधःकर्म आदिक जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष हैं उन्हें तू आत्माके कैसे मानता है क्योकि ये दूसरेके द्वारा—गृहस्थके द्वारा किये हुए परके आहाररूप पुद्गलके गुण है।

अधः कर्म और उद्देश्यसे बनाया गया जो आहार है वह पुद्गलद्रव्यमय है वह मेरा कराया हुआ कैसे हो सकता है क्योकि वह तो नित्य अचेतन कहा गया है।

(३१६ और ३१७ वीं गाथाके बीच)

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्च वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव सापराध है वह तो सशङ्कित होता हुआ कर्मफलको तन्मय होकर भोगता है। परन्तु जो निरपराध ज्ञानी पुरुष है वह कर्मोदय होनेपर क्या करता है यह इस गाथामें बताते हैं—

जो ज्ञानी पुरुष निरपराध है वह निःशङ्कित रहता है और मैं ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा हूँ ऐसा जानता हुआ निरन्तर उसकी आराधनामें तत्पर रहता है।

(३३१ और ३३२ वीं गाथाके बीच)

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

अर्थ—यदि सम्यक्त्वप्रकृति आत्माको सम्यग्दृष्टि करती है, ऐसा माना जाय तो तेरे मतमें अचेतन प्रकृति सम्यक्त्वको करनेवाली हुई।

●

परिशिष्ट २

समयप्राभृतकी अकारादि क्रमसे गाथानुक्रमणी

परिशिष्ट

कलश-काव्योंकी अनुक्रमणी

●

परिशिष्ट ४

उद्धृत श्लोक और गाथाओंकी अनुक्रमणी

परिशिष्ट ५

शब्द-कोष

	गा०	पृ०
अतिव्याप्ति दोष	६८	९१

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोमे रहे ऐसा लक्षण, जैसे जीव अमूर्तिक है।

अधर्म	३७	६२

जीव और पुद्गलके ठहरनेमे सहायक द्रव्य।

अध्यवसान	३९	६६

आत्माकी रागादिरूप परिणतिको अध्यवसान कहते हैं।

अध्यात्मस्थान	५२	७८

स्व और परमें एकत्वका भाव होना।

अनुभागस्थान	५२	७८

कर्मप्रकृतियोके फलदानकी तरतमता।

अनुमोदना (अनुमनन)		३२५

किसी कार्यकी अनुमोदना करना।

अनेकान्त	१	४

वस्तुमें रहनेवाले परस्पर विरोधी अनेक धर्मोका सद्भाव।

अपर्याप्त	६७	८८

अपर्याप्तकके दो भेद है—१ निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण तो नही हुई है परन्तु नियमसे पूर्ण हो जायगी वे निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाते हैं। गर्भ और उपपाद जन्म वालोकी प्रथम अन्तर्मुहुर्तमें यह अवस्था होती है। उसके बाद वे नियमसे पर्याप्तक हो जाते हैं। जिनकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं। यह अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोके ही होती है।

	गा०	पृ०
अप्रतिबुद्ध	९९	४२

कर्म, नोकर्मको आत्मरूप और आत्माको कर्म-नोकर्म रूप माननेवाला जीव अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है।

अप्रमत्त	६	१३

सप्तमगुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीवोको अप्रमत्त कहते हैं।

अभव्य	२७३	२५१

जिसे रत्नत्रय प्राप्त होनेकी योग्यता न हो उसे अभव्य कहते हैं। इसके विपरीत जिसे रत्नत्रय प्राप्त करनेकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं।

अमूढदृष्टि अग	२३२	२२९

समस्त भावोमे मूढता नही करना।

अमेचक	१६	३९

आत्माकी शुद्ध अवस्थाको अमेचक कहते हैं।

अवधिज्ञान	२०४	२०५

जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना रूपी द्रव्योको अवधि—सीमा लिये हुए जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके २ भेद है—भवप्रत्यय और क्षयोपशम-निमित्तक।

अविरतिभाव	८९	११४

असयमरूप भावको अविरतिभाव कहते हैं। यह प्राणि-असयम और इन्द्रिय-असयमके भेदसे दो प्रकारका है। प्राणि-असयमके ६ और इन्द्रिय-असयमके ६ भेद है।

अज्ञान	२३	४६

मिथ्यात्वसे दूषित ज्ञान अज्ञान है। इसके कुमति, कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे तीन भेद है।

	गाथा	पृष्ठ
अव्याप्तिदोष	६८	९१

लक्ष्यके एक देशमे रहनेवाला लक्षण, जैसे जीव रागादिसे रहित है।

असभव	५८	९१

जिसका लक्ष्यमे रहना सभव न हो, जैसे जीवका लक्षण अज्ञान

आध कर्म	२८७	२५८

जो आहार पापकर्मसे उपार्जितद्रव्यके द्वारा बनाया गया है उसे आध कर्म कहते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान	२०४	२०५

यह मतिज्ञानका दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते है। इसके अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणाके भेदसे चार भेद है।

आलोचना	३८५	३२३

वर्तमानके दोषोपर पश्चात्ताप करना।

आस्रव	६९	९४

आत्मामे कर्मप्रदेशोका आगमन आस्रव कहलाता है। इसके द्रव्यास्रव और भावास्रवके भेदसे दो भेद हैं।

उदयस्थान	५३	७८

अपना फल प्रदान करनेमे समर्थ कर्मोकी उदयावस्था।

उद्देशिक	२८६	२५८

जो आहार किसीके निमित्तसे बनाया जाता है उसे औद्देशिक कहते है।

उपगूहन अग	२३३	२३०

परनिन्दाका भाव नही होना। इस अगका दूसरा नाम उपवृहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोकी वृद्धि करना है।

उपयोग	३६	६०

आत्माकी चैतन्य गुणसे सम्बन्ध रखने वाली परिणतिको उपयोग कहते है। इसके दो भेद हैं—१ ज्ञानोपयोग और २ दर्शनोपयोग।

	गाथा	पृष्ठ
उपादान कारण	८२	१०७

जो स्वय कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण है, जैसे घडाका उपादान मिट्टी।

उपादानोपादेयभाव	११	१२८

जो स्वय कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान है, और उससे जो कार्य होता है वह उपादेय है। यह उपादानोपादेयभाव एक द्रव्यमे ही होता है। भिन्न द्रव्योमें नही।

कर्तृकर्मभाव	७०	९४

जो कार्यरूप परिणमन करता है उसे कर्ता और जो परिणमन है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'मिट्टीसे घट बना', यहाँ मिट्टी कर्ता है और घट कर्म है।

कर्म	१९	४२

ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म। आत्माके प्रत्येक प्रदेशोंके साथ कार्मणवर्गणाके कर्मरूप होनेके उम्मेदवार पुद्गल परमाणु लगे हुए हैं। आत्माके रागादि भावोका निमित्त पाकर वे कर्मरूप परिणम जाते है।

कर्मबन्धके चार पाये	२२९	२२९

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग।

कषाय	१६३	१७२

जो आत्माके चारित्रगुणका घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद हैं।

केवलज्ञान	२०४	२०५

जो सर्वद्रव्य और उनकी सब पर्यायोंको युगपत् जानता है उसे केवलज्ञान कहते है।

कारित		३२५

किसी कार्यको दूसरोंसे कराना।

कृत		३२५

किसी कार्यको स्वय करना।

क्रियानय		२१६(क०)

चारित्रके आचरणपर बल देना।

गर्हा	३०६	२७४

गुरुकी साक्षीपूर्वक दोषोका प्रकट करना गर्हा है।

गाथा पृष्ठ

गुण ७५ १०२

जो द्रव्यके आश्रय रहे परन्तु दूसरे गुणसे रहित हो उसे गुण कहते है। ये गुण सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारके है।

गुणस्थान ५५ ७८

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्मपरिणामोंके तारतम्यको गुणस्थान कहते है। इसके १४ भेद है—१ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र, ४ असयत सम्यग्दृष्टि, ५ देशसयत, ६ प्रमत्तसयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

विशेष ज्ञानके लिये जीवकाण्डका गुणस्थानाधिकार द्रष्टव्य है।

गुप्ति २७३ २५१

मनवचनकायरूप योगोका अच्छी तरह निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं, इसके ३ भेद है—१ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति

चारित्र २ ५

निश्चयसे आत्मस्वरूपमे स्थिरताको चारित्र कहते हैं। व्यवहारसे आत्मस्वरूपमे स्थिरता प्राप्त करानेमे सहायक व्रत, समिति, गुप्ति आदिको चारित्र कहते है।

चिदात्मा (२७५ क)

चैतन्य स्वरूप आत्मा

जितेन्द्रिय ३१ ५३

जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाच इन्द्रियोंको अपने नियन्त्रणमें रखता है वह जितेन्द्रिय है।

जीवस्थान ५५ ७५

जीवोके समस्त भेदोको सगृहीत करना जीवसमास है। उसके १४ भेद है। यथा—एकेन्द्रियके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षा दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तथा असैनी पञ्चेन्द्रिय इन सातयुगलोके पर्याप्त और अपर्याप्तकी अपेक्षा दो-दो भेद करनेसे १४ जीवसमास होते है। जीवसमासके ५७ तथा ९८ भी भेद होते हैं। विस्तारके लिये जीवकाण्डका जीवसमास प्रकरण द्रष्टव्य है।

ज्ञान २ ५

निश्चयसे आत्मतत्त्वका सशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। व्यवहारसे जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थोंमे यथार्थज्ञानको सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान जब मिथ्यात्वके उदयसे दूषित होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है।

ज्ञायकभाव ६ १३

जीवादि पदार्थोंको जाननेवाला आत्माका भाव ज्ञायकभाव कहलाता है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव ९५ १२१

जिसे जाना जावे उसे ज्ञेय कहते है और जो जाननेवाला है उसे ज्ञायक कहते है।

ज्ञाननय (२६६ क)

जाननेपर बल देना।

तप २७३ २५१

इच्छाओके निरोधको तप कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो भेद हैं। बाह्य तप अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और कायक्लेशके भेदसे छह प्रकारका है। और आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका है।

तीर्थंकर २६ ५६

धर्मकी आम्नायको चलानेवाले तीर्थंकर कहलाते हैं। ये प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीमे चौबीस-चौबीस होते हैं।

त्रिविध उपयोग ९५ १२०

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति।

दर्शन २ ५

निश्चयसे परपदार्थसे भिन्न और अपने गुणपर्यायो-

गाथा पृष्ठ

से अभिन्नआत्मा की श्रद्धा होना दर्शन या सम्यग्दर्शन है। व्यवहारसे जीवादि पदार्थोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। दर्शनावरण कर्मके क्षय या क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला सामान्यावलोकनरूप दर्शन इससे पृथक् गुण है।

द्रव्य ७६ १०२

जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जावे अथवा जो गुण और पर्यायोसे सहित हो उसे द्रव्य कहते है। द्रव्य छह हैं—१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश और ६ काल।

द्वेष ५१ ७८

अप्रीतिरूप परिणाम

धर्म ३७ ६२

जीव और पुद्गलके चलनेमें सहायक द्रव्य।

धारणा ३०६ २७४

पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्यका आलम्बनकर चित्तको स्थिर करना धारणा है

नय १३ ३०

जो पदार्थके एक अश—परस्पर विरोधी दो धर्मोंमें से एकधर्मको ग्रहण करता है वह नय कहलाता है। इसके अध्यात्म ग्रन्थोमे निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो भेद किये गये है। तथा सामान्यतया द्रव्यानुयोगमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद किये गये हैं। इन्ही दो नयोंके नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ भेद होते है। अन्य ग्रन्थकारोने निश्चय-नयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं। तथा व्यवहारनयके सद्भूत और असद्भूतके भेदसे २ भेद कर उनके अनुपचरित और उपचरित भेद किये है। नयका विशिष्ट ज्ञान करनेके लिए आलापपद्धति और पञ्चाध्यायीका नयप्रकरण द्रष्टव्य है।

नवतत्त्व १३ २६

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्व हैं इन्हीको नौ पदार्थ कहते हैं।

गाथा पृष्ठ

निक्षेप १३ ३०

नय और प्रमाणके अनुसार प्रचलित लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भावकी अपेक्षा चार भेद हैं। इनका विस्तृत वर्णन कर्मकाण्ड अथवा सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें द्रष्टव्य है।

नि:शङ्कित अग २२८ २३३

इह लोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्ति-भय, वेदनाभय, अकस्माद्भय और मरणभय इन सात भयोसे रहित होना नि शङ्कित अङ्ग है। इस अङ्गका धारक जीव उक्त सात भयोंसे भीत होकर श्रद्धानसे विचलित नही होता।

नि कांक्षित अग २३० २२८

कर्मफलकी इच्छा नही करना।

निन्दा ३०६ २७४

आत्मसाक्षीपूर्वक दोषोंको प्रकट करना निन्दा है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव १०० १२९

जो कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है उसे निमित्त कहते हैं और निमितसे जो कार्य होता है उसे नैमित्तिक कहते है। निमित्तके साक्षात्-निमित्त और परम्परा-निमित्तकी अपेक्षा दो भेद हैं। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात्-निमित्त है और कुम्भकार घटका कर्ता है, यह परम्परा-निमित्त है।

निमित्तकारण ८२ १०७

जो उपादानकारणके द्वारा होनेवाली कार्यरूप परिणतिमे सहायक होता है उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घडाकी उत्पत्तिमे कुम्भकार आदि।

निर्जरा १९३ १९७

कर्मोका एकदेश क्षय होना निर्जरा है। इसके सविपाक और अविपाकके भेदसे दो भेद हैं।

निर्विचिकित्सा अंग २३१ २२९

जुगुप्सा नही करना।

	गाथा	पृष्ठ
निवृत्ति	३०६	२७४

बहिरङ्ग विषय-कषायादिकमें होनेवाली चेष्टासे चित्तकी प्रवृत्तिको रोकना निवृति है।

नोकर्म	१९	४१

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, और तैजस ये चार शरीर नोकर्म कहलाते हैं।

पञ्चत्व	४३	६८

मृत्यु। मृत्युके समय जीवका शरीर पञ्चभूतोमे बिखर जाता है। इसलिये पञ्चरूप हो जानेको मृत्यु कहते है।

परसमय	२	५

जो पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित है अर्थात् उन्हें आत्मरूप या आत्माके मानता है वह परसमय है।

परिग्रह	२०८	२१०

बाह्य पदार्थोंके ममत्वभावको परिग्रहको कहते हैं। इसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे २ भेद हैं। अन्तरङ्ग १४ प्रकारका और बहिरङ्ग १० प्रकारका है।

परिहार	३०६	२७४

मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषोंसे आत्माका निवारण करना परिहार है।

पर्याय	७६	१०१

कालक्रमसे होनेवाली द्रव्यकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं।

पर्याप्त	६७	८८

जिनकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो चुकती है उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

पुद्गल	२	५

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे सहित द्रव्य पुद्गल-द्रव्य है। ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य ही हैं।

प्रतिक्रमण	३८३	३२३

पूर्वकृत दोषोका पश्चात्ताप करना

प्रतिक्रमण	३०६	२७४

किये हुए दोषोका निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

	गाथा	पृष्ठ
प्रज्ञा	२९४	२६१

भेदज्ञान बुद्धि०।

प्रतिसरण	३०६	२७४

सम्यक्चारित्रमें आत्माको प्रेरित करना प्रति-सरण है।

प्रत्याख्यान	३४	५८

परका त्याग करना।

प्रत्याख्यान	३८४	३२३

आगामी दोषोका त्याग करना।

प्रत्यय	५०	७८

आस्रवके कारण। मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग।

प्रमत्त	६	१३

प्रथमसे षष्ठगुणस्थान तकके जीव प्रमत्त कहलाते हैं।

प्रभावना अंग	२३६	२३१

विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर जिनेन्द्रदेवके ज्ञान-की प्रभावना करना।

प्रमाण	१३	३०

जो पदार्थके परस्पर विरोधी दोनो धर्मोंको ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण नाम ज्ञानका है। इसके प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो भेद हैं। सर्वदेशप्रत्यक्ष और एकदेशप्रत्यक्षकी अपेक्षा प्रत्यक्ष-के दो भेद हैं। परोक्षप्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम ये पाच भेद हैं। दूसरी विवक्षासे मति और श्रुत परोक्षप्रमाण हैं।

प्राकरणिक	१९७	२००

विवाह आदि कार्योंके स्वामित्वको रखनेवाला व्यक्ति। इसे बुंदेलखण्डमे 'पगरेत' कहते हैं।

बन्ध	७१	९०

कषायसहित परिणामोंके कारण आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होना बन्ध है।

	गाथा	पृष्ठ
भाव्यभावक भाव	९५	१२१

जिसका अनुभव किया जाता है उसे भाव्य और जो अनुभव करता है उसे भावक कहते हैं।

भेदविज्ञान	१९	४३

शरीर तथा कर्मजन्य विकारीभावोसे आत्माको पृथक् जानना भेदविज्ञान है।

मनःपर्ययज्ञान	२०४	२०५

जो इन्द्रियोकी सहायताके बिना दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थोको जानता है उसे मन पर्ययज्ञान कहते हैं। इसके २ भेद हैं—१ ऋजुमति और २ विपुल-मति।

मार्गणास्थान	५३	७८

जिनमें जीवकी खोज की जाये उसे मार्गणा कहते हैं। इसके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व, और आहारके भेदसे चौदह भेद है।

मिथ्यात्व	८७	११३

परपदार्थसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नही होना मिथ्यात्व है। अथवा जीवादि सात तत्त्वो या नौ पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान नही होना मिथ्यात्व है।

मुक्ति	(२७३ क)	

जीवकी समस्त कर्मरहित शुद्ध अवस्था।

मेचक	१६	३९

आत्माकी कर्मोदयसे कलुषित अवस्थाको मेचक कहते हैं।

मोक्षपथ	१५५	१६८

जीवादि पदार्थोका श्रद्धानरूप सम्यक्त्व, उनके ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और रागादिक परित्यागरूप चारित्र ' ये तीनो ही मोक्षके पथ हैं।

योगस्थान	५३	७८

काय, वचन और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले परिस्पन्दको योगस्थान कहते हैं।

	गाथा	पृष्ठ
राग	५१	७८

प्रीतिरूप परिणाम

लवणखिल्यलीला	१५	३६

जिस प्रकार नमकडली सब ओरसे खारी है उसी प्रकार आत्मा सब ओरसे ज्ञायक स्वभाव है।

वर्ग	५२	७८

अविभागप्रतिच्छेदोके धारक कर्मपरमाणुओंको वर्ग कहते हैं।

वर्गणा	५२	७८

वर्गोके समूहको वर्गणा कहते हैं।

वात्सल्य अग	२३५	२११

साधुओके मोक्षमार्गमे स्नेहभाव होना।

विकल्प	१३	३१

चारित्रमोहके उदयसे परपदार्थोमें जो ममत्व-भाव होता है उसे विकल्प कहते हैं।

विशुद्धिस्थान	५४	७८

कषायके उदयकी मन्दतारूप स्थान।

वेद्य-वेदकभाव	२१६	२१५

आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य है और वेदन करनेवाला आत्मा वेदक है।

व्यवहारनय	११	१९

जो किसी अखण्डद्रव्यमें गुण-गुणीका भेद करता है। अथवा दूसरे द्रव्यके सयोगसे होनेवाले भावोंको दूसरे द्रव्यका जानता है वह व्यवहारनय है।

व्रत	२७३	२५१

हिंसादि पाँच पापोके त्यागको व्रत कहते हैं। यह त्याग एकदेश और सर्वदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। एकदेशत्यागको अणुव्रत और सर्वदेशत्यागको महाव्रत कहते हैं।

व्याप्य-व्यापकभाव	७५	१०१

जिसमे व्याप्त हुआ जावे उसे व्याप्य और जो व्याप्त हो उसे व्यापक कहते हैं। जैसे मिट्टीका घड़ा। यहाँ घडा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है। यह व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें बनता है।

	गाथा	पृष्ठ
शील	२७३	२५१

इन्द्रियदमनको शील कहते हैं।

शुद्धनय	११	१९

जो द्रव्यको अभेदरूपसे जानता है तथा परद्रव्य के संयोगसे होनेवाले भावको उस द्रव्यका स्वभाव नहीं समझता वह शुद्धनय है। इसीका नाम निश्चयनय है।

शुद्धि	३०६	३७४

गुरुके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तको धारण करना शुद्धि है।

श्रुतज्ञान	२०४	२०५

मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थको विशेषतासे जानना श्रुतज्ञान है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मकके भेदसे २ भेद हैं।

श्रुतकेवली	९	९

द्वादशाङ्गके ज्ञाता मुनि। ये मुनि छठवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते है। श्रुतकेवलीका लक्षण ९-१० गाथामें देखें।

समय	१	१

आत्मा, अथवा जीवाजीवादि समस्त पदार्थ।

समयप्राभृत	१	१

जीवका निरूपण करनेवाला शास्त्र अथवा समस्त-पदार्थोंका सार—जीवतत्व।

समिति	२७३	२५१

प्रमादरहित प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। इसके पाच भेद हैं—१ ईर्या, २ भाषा, ३ एषणा, ४ आदाननिक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन।

सर्वज्ञ	२४	४६

समस्त द्रव्य तथा उनकी अनन्तानन्त पर्यायोंको जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है।

संकल्प	१३	३१

दर्शनमोहके उदयसे परपदार्थोंमे जो आत्मबुद्धि होती है उसे सकल्प कहते हैं।

संक्लेशस्थान	५४	७८

कषायके उदयकी तीव्रताके स्थान।

	गाथा	पृष्ठ
सयमलब्धिस्थान	५४	७८

चारित्रमोहके विपाककी क्रमसे निवृत्ति होनेरूप स्थान।

सवर	१८१	१८९

नवीन कर्मोका नही आना सवर है।

सस्थान	५०	७८

आकृति। इसके समचतुरस्रसस्थान आदि ६ भेद हैं।

सहनन	५०	७८

शरीरगत हड्डियोका विन्यास। इसके वज्रवृषभ नाराच सहनन आदि ६ भेद है।

सिद्ध	१	१

जिनकी आत्मासे समस्त कर्मोका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाता है वे सिद्ध कहलाते है। ये सिद्ध लोकके अग्रभागमे तनुवातवलयसम्बन्धी उपरितन १५२५ धनुषके क्षेत्रमे रहते है।

स्थितिबन्धस्थान	५४	७८

भिन्न-भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियोका कालान्तरमे स्थित रह सकना।

स्थितीकरण	२३४	२३०

उन्मार्गमे जाते हुए अपने आपको तथा परको स्थिर करना

स्पर्द्धक	५२	७८

वर्गणाओके समूहको स्पर्द्धक कहते हैं।

सयम (२६६क)

इन्द्रिय-मनोनिग्रह और प्राणिरक्षण।

स्याद्वाद (२४६,२६६,२६८क)

स्यात् (कथचित्) की अपेक्षासे कथन करना। इसे अपेक्षावाद भी कहते है।

स्याद्वादशुद्धि (२६४ क)

एकान्तका निरास करके अनेकान्तका प्रतिपादन करना।

स्वसमय	२	५

जो अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभावमें स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं।

ग्रन्थमालाके संरक्षक-सदस्योंकी नामावली

१ प० बसोरेला गालजी जैन, अकलतरा
२. सेठ भगवानदास शोभालालजी जैन, सागर
३ सेठ मोहनलालजी सेठी, दुर्ग
४ प० बालचन्द्र सुरेशचन्द्रजी जैन, नवापारा-राजिम
५ रा० ब० सेठ राजकुमारसिंहजी, इन्दौर
६ ला० प्रेमचन्द्रजी जैना वॉच, दिल्ली
७ बा० जगुमन्दिरदासजी जैन, कलकत्ता
८ ला० मोतीलालजी जैन, दिल्ली
९ श्री मोतीलालजी बडकुल, जबलपुर
१०. स० सिं० धन्यकुमारजी, कटनी
११ प० बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
१२ बा० नृपेन्द्रकुमारजी जैन, कलकत्ता
१३ दि० जैन मारवाडी मन्दिर-ट्रस्ट, इन्दौर
१४ ला० रघुबरदयाल रत्नत्रयधारीजी जैन, दिल्ली
१५ बा० महेशचन्द्रजी जैन, हस्तिनापुर
१६ सिं० बदलीदास छोटेलालजी जैन, झाँसी
१७ ला० प्रकाशचन्द्रजी जैन, पूसा रोड, दिल्ली
१८ श्री विजयकुमारजी मलैया, दमोह
१९. बा० श्यामलालजी पाण्डवीय, मुरार
२० श्री बैजनाथ सरावगी स्मृतिनिधि, कलकत्ता
११ सिं० हजारीलाल शिखरचन्द्रजी जैन, अमरपाटन
२२ सिं० भागचन्द्रजी इटोरया, दमोह
२३ सेठ बाबूलालजी, बाँदा (उ० प्र०)
२४ बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता
२५ सेठ बृजलाल बारेलालजी जैन, चिरमिरी
२६ बा० नेमकुमारजी जैन, आरा
२७ सेठ मुन्नालाल भैयालालजी जैन, टीकमगढ
२८ सेठ दयाचन्द्र बाबूलालजी, टीकमगढ़
२९ ला० राजकृष्ण प्रेमचन्द्रजी जैन दिल्ली
३० श्री चतुर्भुज राजारामजी जैन, टीकमगढ
३१ प० किशोरीलालजी जैन, शास्त्री, टीकमगढ
३२ सेठ ब्र० धर्मदासजी बजाज, टीकमगढ
३३ सेठ तुलसीरामजी जैन, शाहगढ
३४ सिं० दौलतराम बाबूलालजी, सोरई
३५ श्रीमती धर्मपत्नी सेठ मल्थूरामजी जैन, मडावरा
३६ श्री भगवानदासजी सतभैया, सागर
३७ श्रीमती सिंघैन चम्पाबाईजी मातेै० सि० जीवनकुमारजी, सागर
३८ ला० फकीरचन्द्रजी जैन, दिल्ली
३९ प० बारेलालजी राजवैद्य, टीकमगढ
४० श्रीमती बृजमालाजी जैन, बम्बई
४१ राजवैद्य ला० महावीरप्रसादजी, दिल्ली
४२ ला० नन्हेमलजी जैन ७, दरियागज, दिल्ली
४३ ला० अजितप्रसादजी जैन, कपडेवाले, दिल्ली
४४ बा० सुकमालचन्द्रजी जैन ग्रीनपार्क, नयी दिल्ली
४५ ब्र०प०सरदारमलजी (सच्चिदानन्दजी) सिरोज
४६ बा० सीतारामजी जैन, वाराणसी
४७ बा० सुमेरचन्द्रजी जैन, वाराणसी
४८ दिगम्बर जैन मन्दिर, बिजनौर (उ० प्र०)
४९ अ० भा० दि० जैन केन्द्रीय महासमिति, दमोह
५० प० मुन्नालालजी रांधेलीय, सागर
५१ प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी
५२. प० वशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना
५३ डॉ० लालबहादुरजी शास्त्री, दिल्ली
५४ डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी
५५ डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, आरा
५६. प० हीरालालजी कौशल साहित्यरत्न, दिल्ली
५७ डॉ० राजकुमारजी साहित्याचार्य, आगरा
५८ प० मुन्नालाल चुन्नीलालजी ललितपुर
५९. प० सूरदासजी ललितपुर (उ०प्र०)
६० प० श्यामलालजी न्यायतीर्थ, ललितपुर
६१ सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना सिटी
६२ प्रो० विमलकुमार निहालचन्दजी, मडावरा
६३ सिं० भरोसेलाल दयाचन्द्रजी, मगरपुर
६४ प० गुलाबचन्दजी दर्शनाचार्य, जबलपुर
६५ प० सुरेन्द्रकुमारजी आयुर्वेदाचार्य, बीना
६६ सिं० अमीरचन्द्र देवचन्द्रजी, पाटन
६७ सिं० रतनचन्द्र मोतीलालजी, पाटन

संरक्षक-सदस्य

६८. पं० कन्हैयालालजी, अकलतरा
६९ श्री नेमिचन्द्रजी जैन, अकलतरा
७० पं० प्रसन्नकुमारजी गोरझामर, (सागर)
७१. श्री नीरजजी जैन, सतना
७२ प० बाबूलालजी फागुल्ल, वाराणसी
७३. श्री शीलचन्द्रजी जैन, वाराणसी
७४. प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, वाराणसी
७५ बा० अतुलकुमारजी जैन, कलकत्ता
७६. बा० नवलकिशोरजी जैन, गया
७७ सौ० प्रेमलता धर्मपत्नी प० रविचन्द्रजी, दमोह
७८. डॉ० भागचन्द्रजी जैन, नागपुर
७९ ,, सेठ चिरजीलालजी बडजाते, वर्धा
८०. बा० दीपचन्दजी जैन, कानपुर
८१ बा० जुगलकिशोरजी जैन, आरा
८२ सिं० कोमलचन्दजी रांधेलीय, सागर
८३. सेठ मोतीलाल हीराचन्दजी गांधी, औरंगाबाद
८४ ब्र० राजारामजी c/o दि० जैनमन्दिर, भोपाल
८५ डा० बाबूलालजी जैन, बन्डा (सागर)
८६. सेठ प्यारेलालजी शाहगढ (सागर)
८७ डा० नन्हेंलालजी जैन बन्डा (सागर)
८८ सेठ धनप्रसादजी जैन मुडरया, बन्डा
८९. भायजी कुन्दनलाल कपूरचन्द्रजी जैन बन्डा
९०. श्री रघुवरप्रसादजी बजाज, बन्डा
९१ श्रीमती क्षमाबाईजी जैन गुलगज (मलहरा)
९२ चौधरी गुलाबचन्द जीवनलालजी बजाज, बन्डा
९३ श्रीमती क्षमाबाईजी c/o भायजी बाबूलालजी जैन, बन्डा
९४ डा० पूरनचन्द्रजी जैन, बन्डा
९५ साव कन्हैयालालजी जैन, बन्डा
९६ सिं० छोटेलालजी जैन, बन्डा (सागर)
९७. वैद्य बट्टूलालजी डा० मोतीलालजी, खुरई
९८. ब्र० डालचन्दजी टडैया जैन, टीकमगढ
९९. श्री कैलाशचन्दजी गजवासौदा
१००. डा० प्रेमसागरजी दि० जैन कालेज, बड़ौत
१०१. सिं० रज्जूलालजी सैदपुर वाले बीना (सागर)
१०२ प्रो० भागचन्द्रजी 'भागेन्दु' एम ए., सीहोर
१०३ ब्र० जयचन्दजी पिठौरियावाले, कुण्डलपुर
१०४ प० बाबूलालजी जमादार, बडौत
१०५ ला० त्रिलोकचन्द्रजी जैन बेगमबाग, मेरठ
१०६ दि० जैन महिला समाज, फतेहपुर
१०७ ला० भगवानदास अरहदासजी जैन, सहारनपुर
१०८ ला० विशम्भरदास महावीरप्रसादजी जैन सर्राफ, दिल्ली
१०९ ला० जैनेन्द्रकिशोरजी जौहरी दिल्ली
११० श्री हुकुमचन्द्र हीरालालजी मोदी, ललितपुर
१११ श्री गोरेलालजी जैन, भानगढ
११२ श्रीमती सेठानी शान्तिबाईजी, सिवनी
११३ श्री लक्ष्मीचन्द्रजी गुरहा, खुरई
११४ श्रीरामप्रसाद भैयालालजी, ललितपुर
११५ चौ० फूलचन्द्र पद्मचन्द्रजी, ललितपुर
११६ श्री मनीराम वृजलालजी सर्राफ, ललितपुर
११७ श्री वृजलालजी प्रानपुरावाले, ललितपुर
११८ श्री हीरालालजी सर्राफ, ललितपुर
११९ सेठ जिनेश्वरदासजी टडैया, ललितपुर
१२० श्रीमुन्नालाल कुन्दनलालजी सर्राफ, ललितपुर
१२१ डा० हरीन्द्र भूषणजी, उज्जैन
१२२ श्री वृजलाल शीलचन्द्रजी जैन, ललितपुर
१२३ सिं० रज्जूलालजी सरायमुहल्ला, ललितपुर
१२४ श्री बाबूलालजी उत्तमखानावाले, ललितपुर
१२५ श्री करणराय निहालचन्द्रजी जैन, हिंगनघाट
१२६ बा० गिन्नीलालजी फतेहपुर शेखावाटी, कलकत्ता
१२७ दि० जैन मन्दिर बाजार, मुगावली (गुना)
१२८ जैन आदिराज अण्णा गौडरू पोलीस पटेल, शेडवाल
१२९ डा० राजारामजी आरा (बिहार)
१३० प्रो० सुखनन्दनजी एम० ए०, बडौत

सरक्षक-सदस्य

१३१. खडगमेन उदयराज दि० जैन मन्दिर भेलुपुर बाराणसी
१३२ ला० सालिगराम सतीशचन्द्रजी, आगरा
१३३ श्री नाभिनन्दन दि० जैन मन्दिर, बीना
१३४ पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर
१३५. ला० शम्भूनाथजी कागजी, दिल्ली
१३६ श्रीमती धर्मपत्नी शाहजी जयचन्दलाल फतेहपुर
१३७ ला० जियालालजी जैन, बडौत
१३८. बा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैन वकील, बडौत
१३९. ला० हुकुमचन्द्रजी जैन सर्राफ, बडौत
१४० श्रीमती सुगन्धिबाईजी ध० प० श्री दीपचन्द्रजी सागर
१४१. श्रीमती समुद्रीबाईजी ध० प० श्री हुकुमचन्द्रजी सतभैया सागर
१४२. श्रीमहावीर दि जैन परमार्थिक सस्था, सतना
१४३. दि० जैन उदासीनाश्रय तुकोगज, इन्दौर
१४४ बा० रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१४५ श्री दि० जैन स्वाध्यायगोष्ठी, ऐत्मादपुर
१४६. श्री सिं० श्रीनन्दनलालजी जैन रईस, बीना
१४७ श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी युवराज्ञी मुधोली स्टेट (दक्षिण), हाल बाराणसी
१४८. विदुषी ब्र० चन्दा बाईजी आरा (विहार)
१४९ श्री नानाबहेन डगरचद, तलोद
१५० श्रीमती मणीबहेन ध० प० केदारलाल हुकमचन्द शाह, तलोद

●